उत्तर-वैदिक
एवं
संस्कृति

[एक अध्ययन]

लेखक
डॉ० विजय बहादुर राव एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय

प्रवेशक
डॉ० विश्वम्भर शरण पाठक
अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग,
गोरखपुर विश्वविद्यालय

भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी

प्रकाशक
किशोरचन्द जैन
भारतीय विद्या प्रकाशन
पो० बॉक्स १०८, कचौड़ी गली, वाराणसी

प्रथम संस्करण १०००
१५ अगस्त १९६६
मूल्य : १२-००

मुद्रक
शरदकुमार 'साधक'
मानव मन्दिर मुद्रणालय
नरहरपुरा, वाराणसी

आदरणीय भ्राता

श्री मूरत नारायण राव

को

सादर



प्रवेशक

नित्य छिप जानेवाली और प्रतिदिन प्रभात में अपने सौन्दर्य को बिखेरने वाली, अतीत और वर्तमान के युगल तत्त्वो से विभूषित उषा के समान इतिहास-सरचन भी द्विवर्हा है—

एषा व्येनी भवति द्विबर्हा
आविष्कृण्वाना तन्व पुरस्तात् ।

इतिहास के लेखन का आधार ही है—विगत और वर्तमान का अन्तरावलम्बन, वृत्त और वर्तिष्यमाण के बीच एक निरन्तर चलनेवाला सम्वाद । नित्य परिवर्तित वर्तमान नित नये ढग से समीक्षा करता हुआ अतीत की कथा को नये-नये परिवेश में उपस्थित करता रहता है । अत इतिहास के लेखन में पूर्व का काल और आज का समय दोनो रहते हैं—अर्धनारीश्वर के समान नहीं जिसमें शिव और शक्ति अपने आधे-आधे व्यक्तित्वो के साथ एक दूसरे से जुडे मात्र है किन्तु वाक् और अर्थ के सदृश जो दोनो अविशकलित रूप में सपृक्त है ।

अतीत के कथा की जो नवीन व्याख्या होती चलती है, उसका आधार है वर्तमान की अपनी दृष्टि और अपनी विधा । इस विचारोत्तेजक शोधप्रबध में उत्तर वैदिककालीन सास्कृतिक परिप्रेक्ष्य में लेखक ने यह अभिनव दृष्टि और यह नई विधा देने का प्रयास किया जिसके कारण कुछ नये प्रश्न उठे और फलस्वरूप पूर्वप्रतिष्ठित इतिहास-सरचन की विधा को एक मृदु आह्वान भी मिला, जिसका किंचित् विवेचन यहाँ अभीप्सित है ।

प्रथम समस्या है—पुरातात्त्विक साक्ष्य और इस काल की साहित्य-परम्परा के सामञ्जस्य की । पुरैतिहासिक काल के लिये विशेषत सैन्धव सभ्यता के इतिहास-लेखन में पुरातत्त्वज्ञ तत्कालीन साहित्यिक साक्ष्य के विमर्श में कुछ परेशानी का अनुभव करते हैं । यह माना जाता है कि ऋग्वेदीय और सैन्धव सभ्यता किन्ही स्थितियो में समकालीन थी । अत साधारणत यह निष्कर्ष निकाला जावेगा कि सैन्धव सभ्यता का कुछ विकृत अथवा प्राकृत प्रतिफलन ऋग्वेदीय साहित्य पर पड सकता है । किन्तु इस प्रतिफलन का शोध और पुरातात्त्विक साक्ष्य के साथ उसका सामञ्जस्य अनिर्णीत है । इस प्रसग में प्रस्तुत प्रबन्ध के लेखक ने ऋग्वेद के मत्र का उद्धरण देकर उसकी पुरातात्त्विक प्रसङ्ग में व्याख्या की है —

स इद्दास तुवीर व पतिर्दन पडक्ष त्रिशीर्पाण दमन्यत् ।
अस्य त्रितो न्वो जसा वृधानो विपा वराहमयो अग्रयाहन् ॥ १०,९९ ६

यहाँ तीन सिर वाले (त्रिशीर्ष) और छः आँख के ऐसे दास का उल्लेख है जो त्रित के द्वारा मारा गया। इस त्रिशीर्ष का उल्लेख ऋग्वेद में अन्यत्र (१० ८.८) भी है जहाँ उसे त्वष्ट्रा का पुत्र और दस्यु कहा गया। यह परम्परा ब्राह्मणो और सहिताओ में भी उपलब्ध होती है। तैत्तिरीय सहिता में—

'विश्वरूपो वैत्वाष्ट्र पुरोहितो देवानामासीत्
स्वस्त्रीयोऽसुराणा तस्य त्रीणि शीर्षाण्या
सन् त्सोमपान सुरापानमन्नादन। स
प्रत्यक्ष देवेभ्यो भागमवदत् परोक्षमसुरेभ्य।
तस्मादिन्द्रोऽविभेदीदृङ वै राष्ट्र
विपर्यावर्तयतीति। तस्य वज्रमादाय
शीर्षाण्यच्छिनद्यत् सोमपानम्।' २ ५ १ १

यहाँ त्वष्ट्रा के पुत्र त्रिशीर्ष-विश्वरूप को असुरो का भागिनेय और देवो का पुरोहित बतलाया गया तथा त्रित के स्थान पर इन्द्र को उसका शिरश्छेत्ता कहा गया। यह कथा शतपथ ब्राह्मण में भी उपलब्ध होती है जिसका सक्षिप्त कथन भागवत में तथा विस्तार से पल्लवन महाभारत में है। महाभारत में—

ऐन्द्र स प्रार्थयत्स्थान विश्वरूपो महाद्युति।
तैस्त्रिभिर्वदनैर्घोरै सूर्येन्दुज्वलनोपमै ॥४॥
वेदानेकान् सोऽधीते सुरामेकेन चापिवत्।
एकेन च दिश सर्वा पिबन्निव निरीक्षते ॥५॥
स तपस्वी मृदुर्दान्तो धर्मे तपसि चोद्यत।
तपस्तस्य महत् तीव्र सुदुश्चरमरिन्दमम् ॥६॥
—उद्योग, सेनोद्योग पर्व अध्याय ९

यहाँ ऐन्द्र पद की प्राप्ति के लिए त्रिशिरा-विश्वरूप का सघर्ष व्याख्यात है। यह भी ध्यातव्य है कि त्रिशिरा-विश्वरूप को महान् तपस्वी बतलाया गया। अन्यत्र महाभारत में विश्वरुप को सत् और असत् के परे विश्वोत्तीर्ण और विश्वानुग रूप में श्रेष्ठतम देवतत्त्व के रूप से भी चित्रित किया गया है। प्रसगात् उल्लेख्य है कि विश्वरूप के समान रुद्र को भी त्वष्ट्रा का पुत्र हरिवश में बतलाया गया है।

विश्वरूप-त्रिशिरा के तपस्वी-रूप के प्रसग में कौषीतिकी ब्राह्मण का वह अंश जो तैत्तिरीय सहिता के वेदार्थ प्रकाश भाष्य में उद्धृत है काफी महत्वपूर्ण

होगा। उसमें त्रिशिरा-विश्वरूप को अरुणमुख यतियो में गिनाया गया है जिनको इन्द्र ने मार कर भेडियो को खिला दिया था—

'अतएव कौपीतिकन इन्द्रवाक्यमेतदामनन्ति
यन्मा विजानीयात्त्रिशीर्षाण त्वाष्ट्रमहमरु
न्मुखान् यतोन् सालावृकेभ्य प्रायच्छम्।'

इस तीन सिर वाले दास-दस्यु-यति-तपस्वी तथा विश्वानुग और विश्वोत्तीर्ण श्रेष्ठतम देव की प्रस्तुत शोध प्रबध के लेखक ने अत्यन्त सक्षेप में पहिचान सैन्धव सभ्यता के उस त्रिशीर्ष पशुपति से की है जो एक मुद्रा पर योगी-महातपस्वी के रूप में उत्खचित है तथा जिसको सर जॉन मार्शल ने ऐतिहासिक शिव का पूर्वरूप कहा है।

यहाँ भारतीय साहित्य के साक्ष्य के साथ ही अवेस्ता में उल्लिखित परम्परा भी द्रष्टव्य है। गोश-द्रवास्प-यश्त में —

वीसो पुत्रो आथ्व्यानोइश्
वीसो सूरयो थ्रअेतओनो।१३
अजों दहाक
क्ष्वष-अषी थ्रिकमरघम्
अशओजडघम् दअेवी द्रुजम्।१४

आथ्व्य के पुत्र थ्रअेतओनो ने तीन सिर वाले (थ्रिजफन), छ आंख वाले (क्ष्वश्–अषो) दास (दहाक) को मारा। अवेस्ता और वैदिक साहित्य के विद्वान् 'आप्त्य' और 'त्रित' का अवेस्ता–रूपान्तर 'आथ्व्य' और थ्रअेतओनो को मानते हैं। इसलिये त्रिशीर्ष एव षडक्ष दास का त्रित के द्वारा मारा जाने की कथा की यथावत अवेस्ता-परम्परा है थ्रिजफन, क्ष्वष-अषी दहाक का थ्रअेतओनो द्वारा मारा जाना।

आर्वा अर्द्वी सूर यश्त, राम यश्त, अर्द यश्त तथा यस्न (९-८) में भी यह परम्परा उपलब्ध होती है। आर्वा यश्त (कर्त ९) में यह विशेष सूचना मिलती है कि अजी दहाक वव्रोइ में मारा गया। वव्रोइ की पहिचान हरवामनी अभिलेखों और जातक साहित्य के बावेरु से और इसलिये बेबिलोन से की गई है (स्पीगेल. अवेस्ता पृ० ३४ पादटिप्पणी)।

त्रिशीर्ष–विश्वरूप थ्रिजफन अजी दहाक और त्रिमुख सैन्धव पशुपति का विचार-सूत्र जब बेबिलोन के पास पहुँचता है तो अनातोलिया के माध्यम से बेबिलोनी सस्कृति के कुछ तत्त्व बटोरे हुये हित्ती सभ्यता में आदृत तेशुब की समस्या एक नवीन रूप धारण कर लेती है। हित्ती पुरातत्त्व से ज्ञात तेशुब

वृषभवाह, त्रिशूलधारी और पशुओ से घिरा हुआ है। उसकी पत्नी हेपत सिंह वाहिनी है। ये अनेकविध तत्त्व तेशुव को शिव-पशुपति के निकट ले आते हैं (हेमचन्द्र राय चोधरी, प्रोटोटाइप्स आफ शिव इन वेस्टर्न एशिया, डी आर भण्डारकर कमेमोरेशन वाल्यूम पृ० ३०२)।

इसमें सन्देह स्वल्प है कि इन दो सैन्धव एव हित्ती पुरातत्त्वो के साक्ष्य और ऋग्वेदीय तथा अवेस्ता को उपर्युक्त परम्पराओ में अनेक विध साम्य है किन्तु इन ऐतिहासिक तत्त्वो की व्याख्या-विषयक एव इस प्रकार के साक्ष्यो के बलाबल का निर्णय करने के लिए अभी कोई मीमासा-शास्त्र उपलब्ध नही, और न इस प्रकार के हेतु और हेत्वाभासो में अन्तर बतलाने वाला कोई तर्कशास्त्र ही।

इस शोध प्रवध से जिसका साक्षात् सम्बन्ध है ऐसी दूसरो समस्या है समाजशास्त्र की उपलब्धियो से इतिहास के कलेवर सजाने की।

बीसवी शताब्दी के प्राथमिक दशको तक प्राचीन भारतीय सामाजिक इतिहास और समाजशास्त्र की शोध की वृत्ति और विधा में काफी समानता थी। इस परम्परा के आज भी कुछ समाजशास्त्री हैं जो अपने अन्वेषण को ऐतिहासिक भूमिका से अलकृत करते है। इस प्रसग में विशेषत उल्लेखनीय है मेक्स वेबर का जर्मन भाषा में उपनिवद्ध भारतीय धर्मों के समाजशास्त्रीय अध्ययन का स्तुत्य प्रयास।

बाद में प्रयोगात्मक विज्ञान की शीघ्र पद्धति का प्रभाव समाज-विज्ञान के विभिन्न शास्त्रो पर पडा और जिस प्रकार राँके और मॉससेन के प्रयत्नो से इतिहास में इतिवृत्तात्मक तत्त्वो का प्राधान्य तथा सिद्धान्त-प्रतिपादन में अरुचि आई, उसी प्रकार समाजशास्त्र में क्षेत्रीय कार्य (फील्ड वर्क) में निरीक्षित सामग्री के वस्तुनिष्ठ विश्लेषण तथा उसकी सीमित व्याख्या का बोल बाला हुआ। स्वाभाविक ही था ऐसे प्रयास में प्राचीन ऐतिहासिक परिपार्श्व का धीरे-धीरे अलग हो जाना। किन्तु समाजशास्त्र अथवा समाज-नृतत्त्वशास्त्र की (यथार्थत ये दोनो शास्त्र अभिन्न है—इनका भेद बनावटी है) इस प्रकार की उपलब्धियाँ भी इतिहास-सरचन के लिए महत्वपूर्ण हैं। उदाहरण के लिये श्री निवास के सस्कृतीकरण का और मेकिम मेरियट के ग्रेट ट्रेडीशन और लिटिल ट्रेडीशन के साँचे में ढला हुआ पेरोकियलाइजेशन का सिद्धान्त, भारतीय सस्कृति के विशाल अतीत में विविधता को समझने के लिए उपादेय हो सकते हैं। साथ ही आदिम जातियो का अध्ययन, ग्राम्य और नागर जीवन के परिपार्श्व में परिवर्त्तनो के कारण, ब्राह्मणो के गोत्र-प्रवर-शाखा का क्षेत्रीय विस्तार आदि विषय प्राचीन भारतीय इतिहास में नवीन पहलुओ का उद्घाटन कर सकेंगे। आधुनिक समाज-

शास्त्रियो में इवास प्रिचर्ड ने इतिहास और समाजशास्त्र का घनिष्ठ सम्बन्ध स्वीकार कर अध्ययन के इस द्विवर्हात्मक स्वरूप पर जोर दिया है। इसी प्रकार कतिपय इतिहासकार जैसे अमेरिकी लेखक कॉकरेन और हॉफ्सटेडर ने समाज-शास्त्रीय उपलब्धियो का इतिहास-सरचन में उपयोग किया है। भारत में तो प्राचीन इतिहास और समाजशास्त्र में शोध का उद्‌भव भी प्राय साथ ही साथ हुआ। फिर, परम्परा-विभूषित भारत देश में जहाँ प्राचीन तत्त्व पाषाणीकृत अथवा दूसरे प्रकार परिवर्त्तित रूप में आज भी मौजूद हैं समाजशास्त्र और प्राचीन इतिहास एक दूसरे को प्रभावित करते ही रहेंगे।

यह सच है कि प्राचीन इतिहास और समाजशास्त्र के अध्ययन-प्रणालियो में अन्तर है—उनकी दिशा भी भिन्न है। यदि समाजशास्त्री'समाज में बिखरे हुए जीवित उपकरणो का अपने अध्ययन में उपयोग करता है तो इतिहासकार साधारणत पुरातत्त्व तथा प्राचीन लिखित सामग्री पर निर्भर रहता है। इति-हासकार विशेष (पर्टीकुलर) की विशेषता द्योतन करता है तो समाजशास्त्री विशेष की आशिक अथवा पूर्ण सामान्यता की ओर उन्मुख है।

इसलिए इतिहासकार के सम्मुख समाजशास्त्रीय उपलब्धियो का उपयोग करने में अनेक विध समस्यायें उपस्थित होती है। टॉमस कॉकरेन और हाफ्सटेडर ने अमेरिकी इतिहास के प्रसग में इन कठिनाइयो का तथा उनके दूर करने के उपायों का विवेचन किया है (द्रष्टव्य, कॉकरेन दी सोशल साइसेज एण्ड दी प्राब्लेम आफ हिस्टॉरिकल सिंथेसिस, हाफ्सटेडर हिस्ट्री एण्ड दी सोशल साइसेज)। किन्तु प्राचीन भारतीय इतिहास और समाजशास्त्र की समस्यायें बहुत भिन्न है।

इगित के रूप में इस शोध प्रबन्ध में उठाई गई 'कामचार' (प्रॉमिस्क्विटी) के प्रथा की समस्या का विवेचन किया जा सकता है। वेस्टर्मार्क आदि विद्वानो ने विवाह के पूर्व प्रचलित कामचार के रूपों का तारतमिक विवेचन कर स्त्री-पुरुष सम्बन्धो के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया। इस मूलाधार पर डा० काशीप्रसाद जायसवाल और प्रो० अनन्त सदाशिव आलेतकर ने प्राचीन भारत में विवाह का क्रमिक विकास बतलाने की चेष्टा की। महाभारत में कम से कम पाँच स्थानों पर कामचार की प्रथा का उल्लेख है (सभापर्व १२३।३-२१ और १०४।३४-३६, कर्णपर्व, ३०, इत्यादि)। ऋग्वेद में विवाह-प्रथा का प्रतिष्ठित रूप दिखाई देता है, अत उपर्युक्त विद्वानो ने महाभारत के इन कामचारो को प्राक् ऋग्वेदीय काल'की प्रतिध्वनि के रूप से स्वीकार किया। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के लेखक ने इस आधार पर आगे बढ कर कहा कि ये कामचार सैन्धव

सभ्यता में प्रचलित थे और महाभारत के साक्ष्य को कुछ पुरातत्त्विक सामग्री से समर्थित किया। इतिहास का सतर्क विद्यार्थी इस निष्कर्ष-परम्परा को पूर्णत स्वीकार करने में हिचकता है, क्योंकि महाभारत के ये आख्यान काल-क्रम में ठीक सँजोकर नही रखे जा सकते है। इनमें से एक आख्यान तो निश्चित ही वहुत वाद का है। कर्णपर्व के मद्र-कुत्सन अध्याय में कर्णमद्र देश की निन्दा करता हुआ कहता है

वासास्युत्सृज्य नृत्यन्ति स्त्रियो या मद्यविमोहिता।
मैथुनेऽसयतश्चापि यथाकामवशाश्चता॥

यह निश्चित ही कामचार का अथवा यो कहें कि शिथिल दाम्पत्य जीवन का वर्णन है, किन्तु यह कहना कि कामचार का वर्णन मात्र होने से ही यह प्राक्ऋग्वेदीय काल का है, सिद्ध-साधन दोष से दूषित होगा। सौभाग्यवश, इस आख्यान का कुछ सामान्य ढग से काल निश्चित किया जा सकता है। पजाव के आचारो का वर्णन उपस्थित करते समय इस अध्याय में उक्त है

शाकल नाम नगरमापगा नाम निम्नगा।
जर्त्तिका नाम वाहीकास्तेपा वृत्त सुनिन्दितम्॥

यहाँ स्पष्टत जर्त्तिक नामक जनो के वृत्तो का वर्णन है। मैं इन जर्त्तिको की पहिचान चन्द्र-व्याकरण के 'जर्तु' जनो से करता हूँ जहाँ लिखा गया है कि अजयज्जर्तु हूणान्। ये जर्तु-जर्त्तिक सम्भवत आज के जाट हैं। अत मद्रकुत्सन अध्याय का साक्ष्य आदिम (प्रिमिटिव) जीवन भले ही व्यक्त करता हो, उसको ऋग्वेद के पूर्व की सस्कृति का साक्षी नही माना जा सकेगा। इस प्रकार के अन्य आख्यानो का काल निश्चित नही किया जा सकता है, और इसलिए इतिहास के विद्यार्थी को इस प्रकार की सामग्री के सम्वन्ध में मौन का ही अवलम्वन करना पडेगा।

इसी प्रकार विश्व के विभिन्न भागों में फैली हुई जन-जातियो के अध्ययन से समाज शास्त्रियो ने राज्य की उत्पत्ति, परिवार के सगठन, नागरीकरण से सस्कृति और जीवन-पद्धति में परिवर्त्तन आदि ऐसे विपयों का ऊहापोह किया है जो इतिहासकार के रुचि-वृत्त के अन्तर्गत हैं। नागरीकरण केवल आज की ही उत्पन्न प्रवृत्ति नही। भारतीय सस्कृति भी ग्राम्य एव नागर जीवन की दोला पर झूलती हुई वदली है। किन्तु नागरीकरण के परिवर्त्तन की जो रूपरेखा समाजशास्त्री रखते हैं उसका उपयोग इतिहास का विद्यार्थी किस प्रकार कर सकता है—यह आज भी विवेचनीय है। राज्य की उत्पत्ति का जो सामान्य ढाचा समाजशास्त्र में उपलब्ध है वह क्या सस्कृति-विशेष के परिप्रेक्ष्य में टूट न

जायगा—इसकी असभावना कैसे की जा सकती है? प्रस्तुत शोध प्रवन्ध के लेखक ने समाजशास्त्रीय निष्कर्षों और उपब्धियो को ऐतिहासिक विश्लेषण की कसौटी पर कसा है—देश-काल-विशिष्ट साक्ष्यो से पुष्ट कर ही स्वीकार किया है।

तीसरी समस्या उठती है तुलनात्मक भाषाविज्ञान की उपलब्धियो का इतिहास-सरचन में उपयोग करने पर। भाषाविज्ञान के अनेक पक्षो का क्रमशः उद्घाटन हो रहा है—ग्लॉटो क्रॉनॉलॉजी की शाखा इतिहास के विद्वानो के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगी। इनके प्रयोग के लिए इतिहासकार को अपनी कल्पविधि तो प्रस्तुत करनी ही पडेगी। किंतु यहाँ विचारणीय है पारम्परिक तुलनात्मक भाषाविज्ञान के सिद्धान्तो का इतिहास में यथावत प्रयोग करने से उठने वाली कठिनाइयाँ। उदाहरण के लिए 'शर्व' शब्द को लें। ब्राह्मणो में शिव के अनेक नामो में शर्व भी वतलाया गया है। किन्तु ऋग्वेदीय देवतामण्डल में शर्व अनुपस्थित है। सर्वप्रथम शर्व के दर्शन हमें अथर्ववेद में होते है। अत साधारणत मान्य सिद्धान्त है कि 'शर्व' उत्तर वैदिककालीन भारतीय देव है, और इसका सम्वन्ध भारत के वाहर—भारतेरानी अथवा भारोपीय सस्कृति से नहीं। किन्तु अवेस्ता के वेंदिदाद (विदइवोदात, कर्त्त १०, १७) में इन्दर (इन्द्र), नाव्हेइत्ति (नासत्य द्वय), जैरि (हरि) और तौरु के साथ शौरु (शर्व) का उल्लेख है। प्राय सभी अवेस्ता साहित्य के विद्वान् शौरु के साथ शर्व की पहिचान करते हैं—उनकी अभिन्नता घोषित करते हैं (मार्टिन हॉग एसेज ऑन दी सेक्रेड लेंग्वेज, रायटिग्ज एण्ड रिलीजन ऑफ दी पारसीज्, १८६२, पृ० २३०, आर्थर हेनरी ब्लेक, अवेस्ता, १८६४ पृ० ६३-९४, जेइनर दि डॉन एण्ड ट्विलाइट ऑफ ज़ोरास्ट्रियनिज्म, १९६१, पृ० ८८)। यहाँ शर्व के साथ ऋग्वेदीय देवताओ इन्द्र और नासत्य का उल्लेख द्रष्टव्य है। अथर्ववेद के शर्व को अवेस्ता के शर्व के साथ मिलाने में अनेक समस्यायें उपस्थित होती हैं। यह माना जाता है कि भारतेरानी आर्यों की एक शाखा ईरान में वसी और दूसरी भारतवर्ष में आई। आर्यो के भारतीय शाखा की सस्कृति ऋग्वेद में अशत प्रतिविम्वित है और ईरानी आर्यो की परम्परा कुछ परिवर्तित रूप में अवेस्ता में सग्रहीत है। सस्कृति के जो तत्त्व अवेस्ता और ऋग्वेद में अभिन्न रूप से मिलते हैं, वे मूल भारतेरानी से लिये गये और इसलिये भारतेरानी युग के माने जाते हैं। किन्तु जब हम शर्व के दर्शन अवेस्ता में करते है और फिर उसे ऋग्वेद में न पाकर अथर्ववेद में देखते है तो उपर्युक्त मान्य सिद्धान्त में विसगति उपस्थित होती है—यह प्रश्न उठता है कि शर्व को ऋग्वेद के अवान्तर काल का देव मानें अथवा भारतेरानी युग का।

इस प्रकार के नवीन प्रश्न और नयी समस्यायें उपस्थित कर उनके समाधान के माध्यम से प्रस्तुत लेखक ने उत्तर वैदिककाल की सस्कृति के इतिहास को

अभिनव सज्जा देने का प्रयत्न किया है। स्वय उत्तरवैदिक काल भारतीय सस्कृति के अध्ययन के लिए असाधारण महत्त्व का है क्योकि इस काल के साहित्य में भारतीय सस्कृति के मूलाधार का रूपाङ्कन विशेष स्पष्ट है। प्रयाग के सगम में यमुना के समान किरात, निषाद आदि सहायक सास्कृतिक-धारायें प्रमुख प्रवाह से मिलकर भी अपने योग को इस काल के साहित्य में आपेक्षिक रीति से पृथक् रूप में स्पष्ट करती है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में इन सबका सतर्क विवेचन है। सस्कृति के विभिन्न पक्षो का उद्घाटन तो इस प्रबन्ध में प्राप्त ही होता है, किन्तु साथ में विभिन्न पक्षो के अन्तरावलम्बन पर भी दृष्टि है। इस ग्रथ से हिन्दी साहित्य के भारती-भवन की निश्चित ही श्री वृद्धि होगी।

—विश्व शरण पाठक

प्राक्कथन

भारतीय सस्कृति की एक महत्वपूर्ण विशेषता इसकी ग्रहणशीलता एवं समन्वय की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति पुरा-ऐतिहासिक काल से लेकर आज तक एक सास्कृतिक आदर्श के रूप में सदैव उपस्थित रही है। ऐतिहासिक युग में भारतीय समाज ने जहाँ यवनो, शको, पहलवो एव हूणो को आत्मसात किया, वहीं पुरा-ऐतिहासिक युग में द्रविड (भूमध्यसागरीय) निषाद (प्रोटो-आस्ट्रलायड) किरात (मगोलायड) एव आर्य जाति के सम्पर्क एव सामजस्य के परिणामस्वरूप भारतीय समाज एव सस्कृति का स्वरूप निर्धारित हुआ। आर्यों के भारत-प्रवेश के समय पजाब और सिन्ध में समृद्ध सैन्धव सस्कृति का विस्तार था। यद्यपि आर्यों ने पराक्रम से सैन्धव सस्कृति के भौतिक कलेवर को ध्वस्त कर दिया किन्तु यह विध्वस निरन्वय नहीं था। सैन्धव सस्कृति की परम्परायें उसके बाद भी जीवित रही तथा उत्तरवैदिक युग के अपेक्षया शान्त एव सहयोगपूर्ण वातावरण में पुनरुन्मज्जित एव विकसित हुई। पूर्व वैदिक युग की आर्य-सस्कृति उत्तर वैदिक-युग में पूर्ववर्तिनी आर्येतर सैन्धव सस्कृति से अतिशय प्रभावित हुई। सत्य तो यह है कि आर्य एव आर्येतर सास्कृतिक आदर्शों एव उपलब्धियों के सामजस्य से ही उत्तर वैदिक सस्कृति का स्वरूप स्थिर हुआ। उत्तर-वैदिक समाज एव सस्कृति के निर्माण में द्रविड एव आर्य जातियो के अतिरिक्त गगा की घाटी में बसनेवाले निषादो का भी प्रबल योग था। यही प्रदेश उत्तर-वैदिक सास्कृतिक जीवन का केन्द्र भी था। आर्य एव आर्येतर सास्कृतिक धाराओ में समन्वय की प्रवृत्ति उत्तर-वैदिक जीवन के विविध क्षेत्रो में द्रष्टव्य है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के अन्तर्गत समन्वय की इस प्रक्रिया को प्रमुख स्थान दिया गया है।

यह शोध-प्रबन्ध छ अध्यायो में विभक्त है जिनके माध्यम से उत्तर-वैदिक समाज एव सस्कृति के कुछ प्रमुख पक्षो पर विचार किया गया है। प्रथम अध्याय में उत्तर-वैदिक सस्कृति के विकास की सास्कृतिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है तथा उन प्रजातियो एव सस्कृतियो का उल्लेख किया गया है जिनके सघर्ष एव समन्वयके परिणामस्वरूप उत्तर-वैदिक समाज एव सस्कृति का स्वरूप निर्धारित हुआ। इस प्रसग में पुरातात्विक प्रमाणो के साथ ही नृतत्वशास्त्रीय एव भाषावैज्ञानिक साक्ष्यों की भी सहायता ली गई है। सर्वप्रथम प्रागार्य एव आर्येतर सैन्धवसभ्यता का वर्णन है जिसे मुख्यत भूमध्यसागरीय (द्रविड) जाति की देन माना गया है। तत्पश्चात् क्रमश निषाद, किरात एव पूर्व-वैदिक आर्य-सस्कृति का उल्लेख किया गया है। इस अध्याय में सुविदित तथ्यो एव मतो के अतिरिक्त कुछ नवीन विचार भी प्रस्तुत किये गये है जिनका यहाँ सकेत मात्र

पर्याप्त होगा। इनमें सैंधव समाज में मातृसत्तात्मक व्यवस्था, यौन-सम्बन्धो की शिथिलता, निकटाभिगमनकी परम्परा तथा सन्तान-प्राप्ति के लिये पिप्पल वृक्ष की उपासना आदि उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार मुनियो और श्रमणो की अवैदिक धार्मिक परम्परा को निषाद सस्कृति से सम्बद्ध किया गया है।

द्वितीय अध्याय में उत्तर-वैदिक युग के भौतिक जीवन एव आर्थिक प्रगति का वर्णन है। आर्थिक दृष्टि से उत्तर-वैदिक समाज की कुछ उपलब्धियाँ अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इस प्रसग में समाज का लौह युग में प्रवेश, विलुप्त नागरिक-जीवन का पुनरुत्थान, विविध शिल्पो का विकास तथा वाणिज्य एव व्यापार का सम्वर्धन आदि उल्लेखनीय तथ्य हैं। इनमें प्रथम को छोड कर शेष सभी के विकास में आर्येतर सैन्धव सस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। इस अध्याय-की सामग्री साहित्यिक एव पुरातात्विक साक्ष्यो के समवेत एव तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर प्रस्तुत की गई है।

तृतीय अध्याय में वर्ण-विभाजन की वर्धमान प्रक्रिया का विवरण दिया गया है। इस प्रसग में कुछ बातें विशेष उल्लेखनीय हैं। उदाहरण के लिये सामाजिक श्रेष्ठता एव नेतृत्व के लिये व्याप्त वर्ण-सघर्ष, वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से आर्य एव आर्येतर समाज का परस्पर विलयित एव निमज्जित हो जाना तथा अधिकाश आर्येतरो का शूद्र वर्ण के अन्तर्गत परिगणन एव शूद्रो की हीनस्थिति युगीन वर्ण-व्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें है। वर्ण-व्यवस्था के विकास के साथ ही वैश्यो की स्थिति में क्रमिक ह्रास अनार्य-सम्पर्क-जन्य था।

चतुर्थ अध्याय में उत्तर-वैदिक-युगीन पारिवारिक सगठन एव उसको प्रभावित करने वाली विभिन्न आर्थिक, धार्मिक शक्तियो की विवेचना की गई है तथा परिवार के प्रत्येक सदस्य की स्थिति पर विचार करते हुये उनके महत्व में ह्रास अथवा विस्तार के कारणो का उल्लेख हुआ है। इस युग में स्त्रियो की दशा ह्रासोन्मुख दिखाई देती है। स्त्रियो को धार्मिक क्रियाकलापो से बहिष्कृत करने की प्रवृत्ति तथा वर्धमान बहुभार्यता के पीछे भी आर्य आर्येतर सम्पर्क एक प्रेरक तत्व माना गया है।

पचम अध्याय में उत्तर-वैदिक युग में राजशक्ति के विकास का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इस युग में सर्वप्रथम स्थायी भूमियुक्त राज्यों की स्थापना तथा विभिन्न प्रकार की शासन-पद्धतियो की कल्पना हुई है। इनमें स्वराज्य एव भौज्य शासन पद्धतियो का सम्बन्ध आर्येतर परम्परा से प्रतीत होता है। इस अध्याय में राजा की शक्ति, अधिकार एव कर्त्तव्य, राजसत्ता पर अकुश तथा राजकर्मचारियो के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण दिया गया है।

छठें अध्याय में उत्तर-वैदिक धर्म के विकास का अध्ययन है। उत्तर-वैदिक धर्म में पूर्व-वैदिक धार्मिक परम्पराओ के अन्त विकास के साथ ही आर्येतर धर्म-

धाराओ का प्रचुर प्रभाव भी परिलक्षित है। आर्य एव आर्येतर परम्पराओ का समन्वय देवतत्व, यज्ञ-तत्व एव दार्शनिक चिन्तन के विकास के क्षेत्र में समानरूपेण उपलब्ध होता है। देवताओ में रुद्र शिव तथा प्रजापति की वर्धमान प्रतिष्ठा अशत अनार्य-प्रभाव-जन्य है। इसी प्रकार पुरुषमेध की अति-प्राचीन परम्परा का उन्मज्जन भी पुरातात्विक एव साहित्यिक साक्ष्यो के आधार पर आर्य एव आर्येतर सास्कृतिक धाराओं के सम्पर्क एव सामञ्जस्य का परिणाम प्रतीत होता है। धर्म के क्षेत्र में समन्वयात्मक सामाजिक बुद्धि का श्रेष्ठतम उदाहरण प्रवृत्ति एव निवृत्ति का सामजस्य है। ईशोपनिषद् में निष्काम-कर्म का सन्देश प्रथम बार मुखरित हुआ है तथा साथ ही नवाकुरित आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत भी निवृत्ति एव प्रवृत्ति के समन्वय का प्रयास द्रष्टव्य है।

इस प्रबन्ध की रचना में वैदिक सहिताओं, ब्राह्मणो, आरण्यको एव उपनिषदो का उपयोग आधार-ग्रन्थ के रूप में हुआ है। ऋक्सहिता का उपयोग विशेषतः पूर्व-वैदिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने के लिये किया गया है। प्रासगिक तथा आनुषगिक उल्लेख के लिये अन्य परवर्ती सस्कृत एव पालि ग्रन्थो की सहायता यत्र-तत्र ली गई है। इसके अतिरिक्त नृतत्वशास्त्र एण भाषाविज्ञान से ज्ञात तथ्यो का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है। पुरातात्विक सामग्रीका प्रयोग तो ऐतिहासिक अध्ययन के लिये प्राय अनिवार्य है क्योंकि पुरातात्विक-प्रमाण साहित्यिक साक्ष्यों के लिये भी कसोटी का काम देते हैं तथा अनेक ऐसे तथ्यो का उद्घाटन एव स्पष्टीकरण करते हैं जिनके विषय में साहित्य मौन एव अस्पष्ट है। अतएव इस ग्रन्थ में उत्तर-वैदिक युग तथा उसकी पृष्ठभूमि से सम्बन्धित समग्र पुरातात्विक सामग्री का प्रयोग यथोचित ढग से किया गया है।

इस प्रबन्ध के प्रणयन में अनेक आधुनिक विद्वानो के ग्रन्थो से भी यथेष्ट सहायता ली गई है। स्थानाभाव के कारण यहाँ उन सबके नामो का उल्लेख सम्भव नहीं है इसलिये मैं उन सभी विद्वानो के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ जिनके नाम आधार-ग्रन्थ-सूची में उल्लिखित है।

इस प्रबन्ध-लेखन में लेखक को अनेक महानुभावो से सहाया एव सहयोग प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत विषय पर शोध कार्य की प्रेरणा डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे, प्रोफेसर और अध्यक्ष इतिहास और सस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, ने दी थी। उन्होंने पाण्डुलिपि देखकर तथा अनेक बहुमूल्य सुझाव देकर उपकृत किया जिसके लिए लेखक उनके प्रति आभार प्रकट करता है। डा० रामवृक्ष सिंह, रीडर, प्राचीन इतिहास सस्कृति एव पुरातत्व विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, के स्नेह एव आशीर्वाद से ही यह शोध कार्य सम्पन्न हो सका है। उन्होंने इस प्रबन्ध की रचना में आद्योपान्त पथप्रदर्शन करके तथा दुरुह समस्याओ के समाधान द्वारा लेखक के उत्साह एव विश्वास को सम्वलित किया

है। लेखक इस अनुग्रह के लिए उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करता है। प्राचीन इतिहास सस्कृति एव पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष डा० विश्वम्भर शरण पाठक की प्रेरणा तथा उत्साहवर्धन से ही प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है। उन्होंने विभिन्न व्यस्तताओ के होते हुए भी 'प्रवेशक' लिखकर लेखक को कृतार्थ किया है। लेखक इसके लिए उनका अत्यन्त अनुग्रहीत है। लेखक अपने मित्र एव सहयोगी श्री श्रीराम गोयल के प्रति भी आभारी है जिन्होने इस प्रबन्ध रचना में लेखक को हर सम्भव सहायता सहर्ष एव सोत्साह प्रदान की। अन्तत लेखक प्राचीन इतिहास सस्कृति एव पुरातत्व विभाग के अपने सहयोगियो के प्रति भी हृदय से आभारी है जो समय-समय पर बहुमूल्य सुझाव देते रहे है। श्री किशोरचन्द जैन, भारतीय विद्या प्रकाशन, ने पुस्तक के प्रकाशन मे जो शीघ्रता दिखाई है उसके लिए लेखक उसका कृतज्ञ है।

शीघ्रता में छपने के कारण पुस्तक में यत्र-तत्र मुद्रण सम्बन्धी अशुद्धियाँ रह गई है। लेखक उसके लिए क्षमा प्रार्थी है।

—विजय बहादुर राव

वि षय-सूची

•

संकेत-सारिणी[१]

आश्व० गृ० सू०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आप० ध० सू०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आप० गृ० सू०	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आप० श्रौ० सू०	आपस्तम्ब श्रौत सूत्र
ऋ०	ऋग्वेद
ऐत० आ०	ऐतरेय आरण्यक
ऐत० ब्रा०	ऐतरेय ब्राह्मण
ऐत० उप०	ऐतरेय उपनिषद
का० सं०	काठक संहिता
गो० ब्रा०	गोपथ ब्राह्मण
गौ० ध० सू०	गौतम धर्मसूत्र
छान्दोग्य उप०	छान्दोग्य उपनिषद्
जै० ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै० उप०	तैत्तिरीय उपनिषद्
बृ० उप०	बृहदारण्यक उपनिषद्
बौधा० ध० सू०	बौधायन धर्म सूत्र
बौधा० श्रौ० सू०	बौधायन श्रौत सूत्र
मै० सं०	मैत्रायणी संहिता
वाज० सं०	वाजसनेयी संहिता
शत० ब्रा०	शतपथ ब्राह्मण
श्वेता० उप०	श्वेताश्वतर उपनिषद
शाख्या० ब्रा०	शाख्यायन ब्राह्मण
शाख्या० श्रौ० सू०	शाख्यायन श्रौत सूत्र



१ इस सूची में उन ग्रन्थों के संकेत चिह्न दिये गये हैं जिनका प्रस्तुत प्रबन्ध में संक्षिप्त नाम से उल्लेख है। शेष ग्रन्थों का उल्लेख उनके पूर्ण नाम से हुआ है।

प्राग्-वैदि

एवं

पूर्व ैि पृ भूमि

आर्येतर तथा आर्य सस्कृति

उत्तर वैदिक समाज एव संस्कृति का अध्ययन करने के पूर्व उन प्रजातियों (रेसेज) एव सस्कृतियों का अध्ययन करना अनिवार्य है जिनके सघर्ष तथा समन्वय ने प्रागैतिहासिक युग से ही भारतीय सस्कृति को चेतना प्रदान की। आर्य जाति के गौरव का शखनाद करनेवाले पुराविदों ने भारत-वर्ष में सभ्यता की रश्मियों का प्रवेश आर्यों के आगमन के साथ माना है।[१] उनके अनुसार भारतीय सस्कृति में जो कुछ स्वस्थ सुन्दर तथा प्राणवान है वह आर्य जाति की देन है। किन्तु सिन्ध तथा पंजाब की हडप्पा सस्कृति के प्रकाशन के पश्चात् सप्त सैन्धव मे आर्यों का प्रवेश एक सभ्य प्रदेश मे वर्बर जाति का आगमन प्रतीत होता है।[२] इसलिए यह बात अब प्राय स्वीकृत होने लगी है कि भारतीय संस्कृति के निर्माण में अनार्यों का योग विशेष रूप से गुरुतर रहा है।[३] यद्यपि आर्यों ने अपनी पूर्व-वर्तिनी आर्येतर सभ्यता को नष्ट करके अपनी विशिष्ट भाषा, धर्म तथा समाज को भारत में प्रतिष्ठित किया तथापि यह निर्विवाद है कि यह सास्कृतिक विध्वस निरन्वय नहीं था। इस साक्षर नागरिक सभ्यता के अनेक तत्व परवर्ती आर्य-सभ्यता मे अङ्गीकृत हुए। सत्य तो यह है कि अनेक धार्मिक तथा समाजिक परम्परायें, प्राचीन कथानक तथा इतिहास इन्हीं अनार्यों की सस्कृति के उपादान हैं जिन्हें आर्यो ने अपनी प्रबल भाषा के माध्यम से आत्मसात कर लिया। आर्य तथा आर्येतर सस्कृतियों का यह समन्वय भारतीय सभ्यता के निर्माण की आधार-शिला सिद्ध हुआ। इसका प्रभाव

---

१ कीथ, ए० बी०, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद,भाग १,१९२५, पृ० १०

२ पिगट, एस०, प्रिहिस्टोरिक इण्डिया, पृ० २५६–५८

३. हाल, एच० आर, हिस्टरी आव दि नियर ईस्ट, पृ० १७८, पादटिप्पणी

उत्तर-वैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था तथा आध्यात्मिक आन्दोलन मे स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है।[१]

दीक्षितार, रामचन्द्रन, लक्ष्मणस्वरूप तथा शकरानन्द आदि अनेक विद्वानो का यह विचार है कि सैन्धव सस्कृति के निर्माण का श्रेय आर्यो को दिया जाना चाहिए। किन्तु सर जान मार्शल के प्रबल तर्को से स्पष्ट है कि सैन्धव सस्कृति आर्येतर तथा वैदिक सस्कृति की पूर्ववर्तिनी थी।[२] हडप्पा एव मोएनजोदडो से प्राप्त अस्थिपजरो से यहाँ विभिन्न प्रजातियो के निवास का बोध होता है जिनमे मूल आस्ट्रेलिद (निषाद) भूमध्यसागरीय (द्रविड) तथा मगोलिद (किरात) प्रमुख थी। इन नगरो की मिश्रित जनसख्या का कारण सम्भवत इनका व्यापारिक एव औद्योगिक आकर्षण था। अभी तक परीक्षित कपालो की सख्या इतनी अल्प है कि उनके आधार पर हडप्पा-निवासियो की जातिगत विशेषताओ का विशद वर्णन नही किया जा सकता। इस प्रसग में ध्यान दिलाया जा सकता है कि हडप्पा के 'आर ३७' और 'एरिया जी' से उपलब्ध प्रचुरतर सामग्री का नृतत्वीय विश्लेषण अभी कर्तव्य है।[३] भाषाविज्ञान, पुरातत्व, नृतत्वशास्त्र तथा प्राचीन तमिल साहित्य आदि साक्ष्यो पर समवेत विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि सैन्धव सस्कृति प्रधानत द्रविड सस्कृति थी। इस प्रदेश मे द्रविड भाषा के अवशेष आज भी उपलब्ध है। बलूचिस्तान की ब्राहुई भाषा मे न केवल द्रविड भाषा के शब्द मिलते हैं बल्कि बहुसख्यक मुहावरे भी बिखरे पडे हैं।[४] इसके अतिरिक्त अद्यावधि परीक्षित कपालो में भूमध्यसागरीय तत्व की बहुलता तथा तमिल सस्कृति की सैन्धव सस्कृति से अनुरूपता द्वारा भी इस विचार की पुष्टि होती है।

सैन्धव सस्कृति

सैन्धव सभ्यता सिन्धु नदी की उपत्यका तक ही सीमित नही थी। इसका प्रभाव उत्तर मे शिमला की पहाडियों मे स्थित रुपड से लेकर दक्षिण में भगतराव तक तथा पूर्व में मेरठ से १९ मील पश्चिम की ओर स्थित

---

१ पाण्डेय, जी० सी०, बौद्धधर्म के विकास का इतिहास, पृ० १

२ मार्शल, जे०, मोहनजोदडो एन्ड दि इडस सिविलिजेशन, ग्रथ १, पृ० ११०–११

३ द्रष्टव्य ह्वीलर, इडस सिविलिजेशन, पृ० ५१–५२

४. काल्डवेल, ग्रामर आव दि द्रविडियन लैंग्वेज, भूमिका, पृ० ४३–४४

आलमगीरपुर से लेकर पश्चिम मे अरब सागर के समीप स्थित सुत्कजेन्डोर तक था।[१] इसके दो प्रधान नगर हड़प्पा और मोएनजोदडो एक दूसरे से चार सौ मील की दूरी पर स्थित थे। इस प्रकार सैन्धव सस्कृति का प्रभाव क्षेत्र तत्कालीन सुमेरियन तथा मिस्री सभ्यताओ के प्रभाव क्षेत्र से कही अधिक था। सुमेर तथा सिन्धु प्रदेश के व्यापारिक सम्बन्ध इस बात का सकेत करते हैं कि यह सस्कृति अक्काद के सारगोन काल में पूर्ण विकसित अवस्था मे थी।[२] ह्वीलर महोदय ने सारगोन की तिथि २३५० ई० पू० मानी है।[३] ऐसी स्थिति में तृतीय सहस्राब्दि के उत्तरार्द्ध को सैन्धव सस्कृति का चरमोत्कर्षकाल माना जा सकता है।

यह ताम्र-प्रस्तर-युगीन सस्कृति प्रकृत्या नागरिक एवं साक्षर थी। इसका भौतिक पक्ष बडा ही समृद्ध एव समुन्नत था। सैन्धव नागरिको ने भव्य भवन, सार्वजनिक गृह, वृहद् स्नानागार आदि का निर्माण किया तथा सुख-सुविधा के विविध साधन एकत्र किये। नगर-मापन, मूर्तिकला तथा व्यापार-कौशल

सास्कृतिक उपलब्धियाँ

आदि मे समुन्नत होते हुए भी यह सभ्यता शस्त्रास्त्र के विज्ञान से दुर्बल थी तथा अश्व के उपयोग से अपरिचित। इसी कारण से सैन्धव समाज आक्रामक आर्यों का सफल प्रतिरोध भी नही कर सका। इस विरोधाभास पर विस्मय प्रकट किया गया है कि सैन्धव सभ्यता अपने उत्तराधिकारियों को अध्यात्म-विद्या के क्षेत्र मे अक्षय राशि प्रदान कर सकी जब कि उसका भौतिक कलेवर आर्यों के आक्रमण को सहने में सर्वथा असमर्थ रहा।[४] परवर्ती भारतीय धार्मिक जीवन पर सैन्धव परम्पराओ का गहरा प्रभाव सर्वथा अप्रत्याख्येय है किन्तु यह कहना कि सिन्धु-सभ्यता से केवल आध्यात्मिक तत्व ही उत्तरकालीन सभ्यता में स्वीकृत हुए, अत्युक्ति होगी। इस सभ्यता के भौतिक पक्ष के भी अनेक तत्व अनुवर्ती युगों में दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रसग में गेहूँ, जौ और कपास की खेती, गृहविन्यास एव दुर्ग-विन्यास तथा नाप तौल की प्रणाली

---

१ सकालिया, इण्डियन आर्क्योलोजी टुडे, पृ० ५०, इण्डियन आर्क्योलोजी ५७–५८, पृ० १५

२. ह्वीलर, अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० १०९

३ ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ४

४ वही पृ० १५

आदि विशेषत उल्लेखनीय है।[1] यह निर्णय करना कठिन है कि कितने उत्तरकालीन शिल्प प्राचीन आर्येतर समाज की देन है किन्तु अधिकाश शिल्पियो की उत्तर काल मे हीन सामाजिक अवस्था विजेता आर्यों की अपेक्षा विजित अनार्यों से उनका अधिक सम्बन्ध द्योतित करती है।

सैन्धव सभ्यता के धार्मिक और सामाजिक पक्ष भी भौतिक जीवन से कम विकसित नही थे। इसमे परवर्ती हिन्दू धर्म के अनेक धार्मिक विश्वास अपने आदिम रूप मे दिखाई देते हैं। हिन्दू धर्म में सैन्धव सभ्यता के बहुत से ऐसे तत्व है जिन्हे ऋग्वैदिक आर्य घृणित और निन्दनीय समझते थे।[2]

धर्म

पशुपति, नटराज और योगी के रूप मे शिव की उपासना का प्रारम्भ इसी आर्येतर समाज मे हुआ था।[3] शिव का अनार्यत्व भाषावैज्ञानिक साक्ष्यो से भी अनुमोदित है। 'शिव' और 'शम्भु' शब्द तमिल भाषा के शिवन् और शेम्बू' शब्दो से निकले प्रतीत होते हैं जिसका अर्थ 'लाल' है। उत्तर-वैदिक साहित्य मे शिव का नील-लोहित विरुद भी इस बात का संकेतक है कि शिव लोहित वर्ण के थे। रक्त या लोहित वर्ण क्रोध और भयकरता को सूचित करता है। सिन्धुप्रदेश से प्राप्त पशुपति शिव की मुद्रा में भी इस प्रकार का भाव स्पष्टत. परिलक्षित है।

शैव मत की भाँति ही शाक्त मत का प्रचलन भी सैन्धव सस्कृति में निर्विवाद है। मोएनजोदडो से प्राप्त बहुसख्यक नारी मूर्तिया तथा मुद्राओ

१ ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ६२—६३, पिगट, प्रिहिस्टोरिक इण्डिया, पृ० १५३, सैन्धव दुर्ग-विन्यास की परम्परा पर द्रष्टव्य, जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेसन्स ऐट कौशाम्बी, पृ० ६, तु० ह्वीलर, अर्ली इण्डिया एण्ड पाकिस्तान, पृ० १२६

२, उदाहरण के लिए शिव को लीजिए। उत्तर वैदिक साहित्य मे इस देवता को 'एक व्रात्य' कहा गया है। ऋग्वेद (७ ६६ ४, १० ६६ ४) मे जिस शृंगमुकुटधारी तथा त्रिमुखधारी दास का सकेत है वह निश्चय ही सिन्धु-घाटी का आदि शिव है जो बाद के हिन्दू धर्म मे 'त्रिशूलधर' और त्र्यम्बक हो गया। इसी प्रकार ऋग्वैदिक आर्यों ने अपने शत्रु दासो को 'शिश्नदेवा' भी कहा है और इस प्रकार लिङ्ग पूजा को निन्द्य माना है। (ऋ ७ २१ ५, १० ६६ ३)

३. मार्शल, मोहनजोदडो एण्ड इण्डस सिविलिजेशन, ग्रन्थ ३, पृ० ५२—५५

पर उत्कीर्ण चित्र नारी की प्रजनन-शक्ति जन्य महत्ता का सकेत करते हैं।[१] वैदिक आर्यों का मातृशक्ति की उपासना की ओर विशेष झुकाव नही था।[२] धर्मशास्त्रों में तो ग्राम देवता एव देवियो के पूजक ब्राह्मणों को स्पष्टत पतित कहा गया है।[३] फिर भी भारतवर्ष के प्रत्येक ग्राम में आज भी देवियों की पूजा प्रचलित है जिसका मूल अवैदिक और अनार्य प्रतीत होता है।[४] मार्शल महोदय सैन्धव धार्मिक जीवन में मातृशक्ति की उपासना को ही प्रधान मानते हैं। तत्कालीन भूमध्यसागरीय द्वीपो तथा पश्चिमी एशिया की सस्कृतियों में मातृ शक्ति के उपासना की लोकप्रियता को देखते हुए मार्शल का यह मत सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है।

उमा और शिव के अतिरिक्त विष्णु, लक्ष्मी तथा कृष्ण आदि की अवधारणा भी अशत द्रविड प्रतीत होती है। सैन्धव लिपि के अभी तक अपठ्य रहने के कारण इनका अनार्यत्व पुरातात्विक सामग्री से प्रमाणित नही होता किन्तु भाषा-वैज्ञानिक साक्ष्यो से इस विषय पर कुछ प्रकाश अवश्य पडता है। विष्णु का उल्लेख सूर्य-देवता के रूप में पूर्व-वैदिक साहित्य मे अवश्य हुआ है किन्तु उनके क्षीरसागरशायी अथवा लक्ष्मीपति होने का कोई उल्लेख नही है। सिलुस्की तथा आयगर ने भाषा वैज्ञानिक आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि विष्णु आर्यों के सौर देवता होते हुए भी अशत द्रविडों के आकाश देवता हैं।[५] इनका वर्ण भी आकाश की भाँति नीला है। विष्णु की पत्नी श्री का उल्लेख भी सौभाग्य की देवी के रूप मे ऋग्वेद मे हुआ है किन्तु उनका गजलक्ष्मी रूप पूर्वार्य एव द्रविड प्रतीत होता है। स्लेटर महोदय के अनुसार भारतीय कला की परम्परा में कृष्ण को जो श्याम वर्ण प्रदान किया गया है वह भूमध्यसागरीय जाति का जैतून जैसा बभ्रु वर्ण है जो आर्यों के गौर और निषादों के धूसर वर्ण से सर्वथा भिन्न है।[६] सस-

१ एक मुद्रा पर नारी की योनि से पौधे के जन्म का दृश्य चित्रित है जो स्पष्टत नारी की प्रजनन शक्ति का सकेत करता है।

२ ऋग्वेद के विशाल देवसमूह में मात्र अदिति ही एक उल्लेखनीय देवी है।

३ मनु ३ १५१, ३ १८०

४ पिगट, प्रिहिस्टोरिक इण्डिया, पृ० २०२

५ इण्डियन एण्टिक्वेरी, जनवरी १९३३, द्रविडिक स्टडीज, सस्करण ३, पृष्ठ ६१ ६२

६ द्रविडियन एलेमेन्ट इन इण्डियन कल्चर, पृष्ठ ५५

सैन्धव के निवासी ऋग्वैदिक आर्यो ने भी अपने शत्रुदास-दस्यु लोगो को कृष्ण विशेषण से युक्त किया है। परवर्ती पुराकथाओ मे कृष्ण द्वारा लोकप्रिय वैदिक देवता इन्द्र का विरोध उनके अनार्यत्व का एक प्रबल प्रमाण है।

सिन्धु प्रदेश की बहुसख्यक मुद्राओ पर अनेक पशुओ के चित्र मिलते हैं, जिनमे कुछ की धार्मिक महत्ता अप्रत्याख्येय प्रतीत होती है। हडप्पा से प्राप्त मुद्राओ पर वृषभ चित्र बहुत मिला है। अनेक मुद्राओ पर वृषभ किसी विचित्र उपकरण से समक्ष खडा प्रदर्शित किया गया है जो कोई उपयोगी पदार्थ न होकर धार्मिक प्रयोजन की वस्तु प्रतीत होता है। साधारणतया सैन्धव मुद्राओ पर चित्रित वृषभ को पौराणिक नन्दी का पूर्व रूप माना गया है किन्तु इस प्रसंग मे यह विचारणीय है कि हडप्पा से प्राप्त 'आदि-शिव' को घेरे हुए जिन पशुओ का चित्रण हुआ है उनमे वृषभ अनुपस्थित है। ऐसी स्थिति मे उसे सैन्धव शिव का वाहन मानना कुछ सन्देहास्पद हो सकता है। लेकिन इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि एशियामानर की हित्ती जाति मे (जिसमें भूमध्यसागरीय जाति का प्राधान्य था) एक त्रिशूलधारी, पशुपति, वृषभवाह 'देवराज' और उसकी सिंहवाहिनी पत्नी की उपासना प्रचलित थी। ये दोनो शिव और दुर्गा के पूर्व रूप से प्रतीत होते हैं। अत हो सकता है कि सैन्धव प्रदेश की भूमध्यसागरीय जाति मे भी (जो मूलत उसी सास्कृतिक वातावरण से आई थी जिसमे हित्ती जाति तथा अन्य भूमध्यसागरीय-जातियाँ रही थीं) शिव ने वृषभवाह रूप की कल्पना रही हो। इसका अप्रत्यक्ष सकेत अनेक सैन्धव मुद्राओ पर वृषभ के अकन से अवश्य ही मिलता है।

पार्जीटर महोदय ने हनुमान की पूजा का सम्बन्ध भी द्रविड सस्कृति से स्थापित किया है।[१] उनके अनुसार इस शब्द का मूल 'अणमन्ति' शब्द तमिल भाषा का है जिसका अर्थ नरबन्दर है। बाद मे अणमन्ति शब्द का सस्कृत रूप हनुमान बनाया गया तथा आर्येतर प्रभाव के कारण उसकी पूजा लोकप्रिय हो गई। वैदिक-साहित्य मे भी 'वृषाकपि' का उल्लेख हुआ है किन्तु एक लोकप्रिय देवता के रूप मे नही। सिन्धु प्रदेश के उत्खनन से कुछ कल्पनाजन्य मिश्रित आकृति वाले पशुओ के चित्र भी मिले हैं जिनके धार्मिक महत्व के सम्बन्ध मे निश्चायक रूप से कुछ नही कहा जा सकता। वास्तविक पशुओं मे वृषभ और बन्दर के अतिरिक्त भैसा, बाघ, हाथी, सूअर और कुत्ते की भी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं किन्तु इन सबको पूजा और श्रद्धा का विषय नही

---

१. द्रष्टव्य वैदिक एज, पृष्ठ १६८

माना जा सकता। निश्चय ही इनमे से अनेक खिलौने के रूप मे बालको के मनोरजन के साधन रहे होंगे।

सैन्धव धर्म मे पादप-पूजा को भी स्थान प्राप्त था। पीपल का वृक्ष जिसका हिन्दू तथा बौद्ध धर्मों में महत्वपूर्ण स्थान है, सैन्धव सभ्यता मे ही धार्मिक महत्ता को प्राप्त कर चुका था। यहाँ के निवासी सम्भवत पीपल वृक्ष मे दैवी शक्ति का निवास भी मानते थे। मोएनजोदडो की एक उल्लेखनीय मुद्रा मे देवता की खडी हुई एक नग्न मूर्ति है, जिसके दोनो ओर अश्वत्थ की दो शाखायें हैं। वृक्ष देवता की पूजा की सूचक, एक पक्ति मे खडी हुई, पीठ पर लहराते हुए बालों से शोभित सात स्त्रियाँ हैं जो देवी की पुजारिन जान पडती हैं। पीपल वृक्ष की पूजा शायद सन्तान प्राप्ति के लिए की जाती थी। अथर्ववेद मे इस वृक्ष को पुत्रदाता कहा गया है।[१] हम जानते हैं कि अथर्ववेद में ऐसे अनेक आर्येतर धार्मिक विश्वास सग्रहीत है जिनका मूल ऋग्वेद मे नही मिलता। भारत के विभिन्न प्रदेशो में आज भी पुत्र-प्राप्ति के लिए पीपल वृक्ष के आलिगन की प्रथा है तथा अनेक जातियों में पीपल वृक्ष की पूजा को पुत्र प्राप्ति मे सहायक माना जाता है।[२] सैन्धव सस्कृति में पीपल वृक्ष की महत्ता तथा उसके विषय मे उपर्युक्त मान्यता को देखते हुए दोनों का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। पीपल वृक्ष की उपासना के पीछे कारणभूत इस प्रबल धारणा का विकास सैन्धव सभ्यता के अन्तर्गत हुआ हो, यह आश्चर्यजनक नहीं है।

परवर्ती हिन्दू धर्म में न केवल द्रविड देवताओ को स्थान मिला बल्कि उनकी उपासना पद्धति को भी स्वीकार किया गया। वैदिक आर्यो का धर्म-यज्ञ प्रधान था। यज्ञ मे देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं का मास सोम तथा अन्य खाद्य सामग्री अर्पित की जाती थी। इसके विपरीत पूजा में उपास्य देव को पत्र पुष्प और जल इत्यादि समर्पित किये जाते थे। इसी लि ए इसे पुष्पकर्म कहा गया है। पूजा शब्द की उत्पत्ति द्रविड भाषा के 'पू' (पुष्प) और जे' (करना) से हुई प्रतीत होती है जिसका अर्थ है 'पुष्पार्पण'। सस्कृत ग्रन्थों में सर्वप्रथम भगवद्गीता में पूजा की महत्ता को स्वीकार

---

१ अथर्ववेद ६ ११

२ क्रुक, पापुलर रिलिजन एण्ड फोकलोर आव नार्दर्न इण्डिया, २ ९९, १०२,११२

किया गया है। मोएनजोदडो से प्राप्त बहुसख्यक मूर्तियो से भी द्रविड समाज मे मूर्तिपूजा का प्रचलन प्रमाणित होता है।

पूजा की भाति ही सम्भवत भक्ति का विकास भी मूलत. द्रविड सस्कृति से सम्बद्ध प्रतीत होता है।[1] इसके अतिरिक्त जलप्रलय जैसे आख्यान तथा अनेक यौगिक साधनायें, कर्मकाण्ड और दर्शन विषयक विचार भी द्रविड लोगो की देन हैं। सिन्धु प्रदेश मे लिंगपूजा, नागपूजा और जलपूजा के भी चिन्ह मिलते हैं किन्तु इनका सम्बन्ध द्रविड सस्कृति की अपेक्षा निषाद सस्कृति से अधिक प्रतीत होता है।[2]

सिन्धु प्रदेश के उत्खनन से प्राप्त सामग्री से यहाँ की सामाजिक सस्थाओ, विचारो एव रीति रस्मो पर विशेष प्रकाश नही पडता। इस क्षेत्र में प्राचीनतम तमिल साहित्य तथा नृतत्वशास्त्र की सहायता अपेक्षित है। द्रविड सस्कृति का प्राचीनतम लिखित रूप तमिल साहित्य मे ही मिलता है।

सामाजिक व्यवस्था

ऐसी स्थिति मे सिन्धु-प्रदेश की द्रविड सस्कृति के सामाजिक पक्ष की रूपरेखा तमिल साहित्य की सहायता से प्रस्तुत करना अनुचित नहीं होगा। इस विषय मे यह कठिनाई अवश्य है कि प्राचीनतम ज्ञात तमिल सस्कृति तथा सैन्धव सस्कृति के बीच सहस्त्र वर्षो से भी अधिक का अन्तर है। अतः यह निर्धारित करना बडा कठिन है कि तमिल साहित्य मे द्रविड सभ्यता का पुरा-ऐतिहासिक स्वरूप कितना आदिम और अविकल है। इस दिशा में पुरातात्विक तथा अन्य सम्भव साक्ष्यों का समर्थन निश्चय ही उपयोगी होगा। मोएनजोदडो की नगर व्यवस्था इस बात का सकेत करती है कि सैन्धव समाज आर्थिक आधार पर वर्गो मे विभाजित था।[3] विशाल नगरों, प्राचीरो, सडको एव सार्वजनिक भवनो को दृष्टि में रखते हुए ह्वीलर महोदय ने श्रम और निर्माण के लिए दास वर्ग के अस्तित्व की भी कल्पना की है।[4] सैन्धव समाज मे धर्म के विकसित स्वरूप को देखते हुए यह अनायास कल्पनीय है कि इसमें

---

१. पद्मपुराण, उत्तरकाण्ड, ५०।५१ उत्पन्ना द्रविडे चाहम कर्णाटेवृद्धि-मागता।

२. कृपया इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठो मे देखें।

३. गार्डन चाइल्ड, न्यू लाइट आन दी मोस्ट ऐन्श्येन्ट ईस्ट, पृ० १७५।

४ जेड० डी० एम० जी०, २ २७२, उद्धृत, मुद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० १८ पर।

पुरोहित वर्ग की स्थिति आदरणीय रही होगी। बहुत से विद्वानो ने तो यह विचार भी व्यक्त किया है कि हडप्पा एव मोएनजोदडो का शासन पुजारियो द्वारा होता था।[१] किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए निश्चायक प्रमाणों का अभाव है। सैन्धव सभ्यता के भौतिक पक्ष की विकसित अवस्था, उसके सुमेरियन प्रदेश के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध एव सैन्धव जनो की समुद्र यात्रा में रुचि आदि तथ्यो से उनके समाज में समृद्ध व्यापारिक वर्ग का अस्तित्व भी निर्विवाद है। सम्भवत उसी का ऋग्वेद में पणि नाम से उल्लेख हुआ है।[२] आर्य लोग इन पणियो के वैभव को सतृष्ण दृष्टि से देखते थे तथा उनके धन के अपहरण की कामना करते थे। पणि शब्द से ही बाद में पण, पण्य, 'वणिक' और 'वाणिज्य' शब्दो की व्युत्पत्ति हुई प्रतीत होती है।[३]

सैन्धव समाज सम्भवत मातृसत्तात्मक था। सिंधु प्रदेश से प्राप्त नारी मूर्तियाँ, मातृदेवी की उपासना की प्रधानता तथा प्राचीन क्रीट एव अन्य
भूमध्यसागरीय प्रदेशो की मातृसत्तात्मक व्यवस्था
मातृसत्तात्मक व्यवस्था इस अवधारणा की पुष्टि करते हैं। सिन्धु के तट
पर बसी प्राचीन केहोल जाति की मातृसत्तात्मक
सामाजिक व्यवस्था को सुदूर अतीत में प्रचलित सैन्धव जनों की सामाजिक व्यवस्था का अवशेष माना जा सकता है।[४] केहोल जाति की इस पुरातन व्यवस्था को आर्यों अथवा उनके अनुवर्ती किसी अन्य जाति से सम्बन्धित करना बडा ही कठिन है। तमिल भाषा के कुछ शब्द भी द्रविड समाज की मातृसत्तात्मक व्यवस्था का समर्थन करते हैं। प्राचीन तमिल भाषा का 'इलाल' शब्द जिसका अर्थ गृहस्वामिनी होता है, स्त्रीलिंग है। इसी अर्थ को देने वाले समान पुल्लिग शब्द का अभाव द्रविडो के पारिवारिक जीवन में नारी के स्वामित्व की ओर सकेत करता है। मलाबार तट के निवासियों तथा केरल की कुछ जातियों में मातृसत्तात्मक व्यवस्था अब भी पाई जाती है।

परिस्थितिक साक्ष्यों के आधार पर सैन्धव सभ्यता के सामाजिक संगठन

---

१ पिगट, प्रिहिस्टोरिक इडिया, पृ० १९०, मैके, अर्ली इडस सिविलिजेशन, पृ० १२–३

२ लुडविग, ट्रान्सलेशन आव दि ऋग्वेद ३, २१३-५

३. द्रष्टव्य वैदिक एज, पृ० २३९

४ ब्रिफाल्ट, दि मदर्स, लघु सस्करण, पृ० ६८

किया गया है । मोएनजोदडो से प्राप्त बहुसंख्यक मूर्तियों से भी द्रविड समाज मे मूर्तिपूजा का प्रचलन प्रमाणित होता है ।

पूजा की भांति ही सम्भवत भक्ति का विकास भी मूलतः द्रविड संस्कृति से सम्बद्ध प्रतीत होता है ।[१] इसके अतिरिक्त जलप्रलय जैसे आख्यान तथा अनेक यौगिक साधनायें, कर्मकाण्ड और दर्शन विषयक विचार भी द्रविड लोगो की देन हैं । सिन्धु प्रदेश मे लिंगपूजा, नागपूजा और जलपूजा के भी चिन्ह मिलते हैं किन्तु इनका सम्बन्ध द्रविड संस्कृति की अपेक्षा निषाद संस्कृति से अधिक प्रतीत होता है ।[२]

सिन्धु प्रदेश के उत्खनन से प्राप्त सामग्री से यहाँ की सामाजिक संस्थाओ, विचारो एव रीति रस्मो पर विशेष प्रकाश नही पडता । इस क्षेत्र

सामाजिक व्यवस्था

मे प्राचीनतम तमिल साहित्य तथा नृतत्वशास्त्र की सहायता अपेक्षित है । द्रविड संस्कृति का प्राचीनतम लिखित रूप तमिल साहित्य से ही मिलता है । ऐसी स्थिति मे सिन्धु-प्रदेश की द्रविड संस्कृति के सामाजिक पक्ष की रूपरेखा तमिल साहित्य की सहायता से प्रस्तुत करना अनुचित नही होगा । इस विषय मे यह कठिनाई अवश्य है कि प्राचीनतम ज्ञात तमिल संस्कृति तथा सैन्धव संस्कृति के बीच सहस्र वर्षो से भी अधिक का अन्तर है । अत. यह निर्धारित करना बडा कठिन है कि तमिल साहित्य मे द्रविड सभ्यता का पुरा-ऐतिहासिक स्वरूप कितना आदिम और अविकल है । इस दिशा में पुरातात्विक तथा अन्य सम्भव साक्ष्यों का समर्थन निश्चय ही उपयोगी होगा । मोएनजोदडो की नगर व्यवस्था इस बात का संकेत करती है कि सैन्धव समाज आर्थिक आधार पर वर्गो मे विभाजित था ।[३] विशाल नगरों, प्राचीरो, सडको एव सार्वजनिक भवनो को दृष्टि मे रखते हुए ह्वीलर महोदय ने श्रम और निर्माण के लिए दास वर्ग के अस्तित्व की भी कल्पना की है ।[४] सैन्धव समाज मे धर्म के विकसित स्वरूप को देखते हुए यह अनायास कल्पनीय है कि इसमें

१. पद्मपुराण, उत्तरकाण्ड, ५०।५१ उत्पन्ना द्रविडे चाहम कर्णाटेवृद्धि- मागता ।
२ कृपया इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठों मे देखें ।
३. गार्डन चाइल्ड, न्यू लाइट आन दी मोस्ट ऐन्श्येन्ट ईस्ट, पृ० १७५ ।
४ जेड० डी० एम० जी०, २ २७२, उद्धृत, शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० १८ पर ।

पुरोहित वर्ग की स्थिति आदरणीय रही होगी। बहुत से विद्वानों ने तो यह विचार भी व्यक्त किया है कि हड़प्पा एव मोएनजोदड़ो का शासन पुजारियों द्वारा होता था।[१] किन्तु इस मत की पुष्टि के लिए निश्चायक प्रमाणो का अभाव है। सैन्धव सभ्यता के भौतिक पक्ष की विकसित अवस्था, उसके सुमेरियन प्रदेश के साथ घनिष्ठ व्यापारिक सम्बन्ध एव सैन्धव जनो की समुद्र यात्रा मे रुचि आदि तथ्यों से उनके समाज में समृद्ध व्यापारिक वर्ग का अस्तित्व भी निर्विवाद है। सम्भवत उसी का ऋग्वेद में पणि नाम से उल्लेख हुआ है।[२] आर्य लोग इन पणियो के वैभव को सतृष्ण दृष्टि से देखते थे तथा उनके धन के अपहरण की कामना करते थे। पणि शब्द से ही बाद में पण, पण्य, 'वणिक' और 'वाणिज्य' शब्दों की व्युत्पत्ति हुई प्रतीत होती है।[३]

सैन्धव समाज सम्भवत मातृसत्तात्मक था। सिंधु प्रदेश से प्राप्त नारी मूर्तियाँ, मातृदेवी की उपासना की प्रधानता तथा प्राचीन क्रीट एव अन्य भूमध्यसागरीय प्रदेशो की मातृसत्तात्मक व्यवस्था
मातृसत्तात्मक व्यवस्था इस अवधारणा की पुष्टि करते हैं। सिन्धु के तट पर बसी प्राचीन केहोल जाति की मातृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था को सुदूर अतीत में प्रचलित सैन्धव जनों की सामाजिक व्यवस्था का अवशेष माना जा सकता है।[४] केहोल जाति की इस पुरातन व्यवस्था को आर्यों अथवा उनके अनुवर्ती किसी अन्य जाति से सम्बन्धित करना बड़ा ही कठिन है। तमिल भाषा के कुछ शब्द भी द्रविड़ समाज की मातृसत्तात्मक व्यवस्था का समर्थन करते हैं। प्राचीन तमिल भाषा का 'इलाल' शब्द जिसका अर्थ गृहस्वामिनी होता है, स्त्रीलिंग है। इसी अर्थ को देने वाले समान पुल्लिंग शब्द का अभाव द्रविड़ों के पारिवारिक जीवन में नारी के स्वामित्व की ओर सकेत करता है। मलाबार तट के निवासियो तथा केरल की कुछ जातियों मे मातृसत्तात्मक व्यवस्था अब भी पाई जाती है।

परिस्थैतिक साक्ष्यों के आधार पर सैन्धव सभ्यता के सामाजिक सगठन

---

१ पिगट, प्रिहिस्टोरिक इडिया, पृ० १५०, मैके, अर्ली इडस सिविलिजेशन, पृ० १२–३

२ लुडविग, ट्रान्सलेशन आव दि ऋग्वेद ३, २१३-५

३ द्रष्टव्य वैदिक एज, पृ० २३९

४ ब्रिफाल्ट, दि मदर्स, लघु सस्करण, पृ० ६८

की अन्य विशेषताओं के सम्बन्ध मे कुछ अनुमान किया जा सकता है। महाभारत के कर्णपर्व में मद्रदेश बाह्लीक और अरट्टदेश की स्त्रियो को स्वैरिणी तथा कामचारिणी कहा गया है। वहाँ व्रज मे, नगरागार मे तथा सार्वजनिक स्थानो में स्त्रियाँ विवस्त्र होकर नृत्य करती थी। महाभारत से यह भी ज्ञात होता है कि मद्रदेश मे जन्म का ठिकाना न होने के कारण उत्तराधिकार पुत्र को न प्राप्त होकर भांजे को प्राप्त होता था।[१] महाभारत मे वर्णित यह सामाजिक अवस्था वैदिक आर्यों की नही हो सकती क्योकि वैदिक साहित्य के अध्ययन से विदित होता है कि वैदिक समाज मे विवाह संस्कार तथा दाम्पत्य जीवन की पवित्रता का भाव पूर्णत विकसित हो चुका था। ऋग्वेद की एक ऋचा से ज्ञात होता है कि पति-पत्नी परस्पर अभिन्नता एवं हार्दिक एकता की कामना करते थे।[२] ऐसी स्थिति मे हमारे समक्ष एकमात्र विकल्प यही रह जाता है कि हम महाभारत मे वर्णित इस अवस्था को अनार्य परम्परा का अवशेष माने जिसका प्रचलन आर्यों के आगमन के पश्चात् भी पंजाब और सिन्ध मे यत्र-तत्र परम्परागत रूप से रहा। इस प्रसंग मे मोएनजोदड़ो से प्राप्त कांस्य की एक नारी मूर्ति उल्लेखनीय है। विचारार्ह है कि पुरातत्ववेत्ताओं ने इसे नृत्यांगना की मूर्ति माना है। इस मूर्ति के आकर्षक केशविन्यास तथा हाथ और कण्ठ के आभूषणो के अतिरिक्त सम्पूर्ण शरीर को विवस्त्र दिखाया गया है।[३] इस तथ्य के प्रकाश मे महाभारत में उल्लिखित मद्र-बाह्लीक तथा अरट्टदेश की इस प्रथा को सैन्धव संस्कृति से सम्बद्ध करना अनुचित नही होगा।

ऐतिहासिक युग मे द्रविड समाज में निकटाभिगमन का प्रचलन था। धर्मशास्त्रों तथा स्मृतियों मे अधिकांशत. मातुल कन्या से विवाह का निषेध हुआ है तथापि बोधायन ने इसे दक्षिण भारतीयों का देश धर्म माना है।[४] बृहस्पति ने भी जहाँ राजा से देश, जाति एवं कुल के धर्मों की रक्षा का आग्रह किया है वहाँ दक्षिणात्यों में मातुल-सुता से विवाह की बात को

---

१. महाभारत, कर्णपर्व, ४५।१३
२ ऋ० १० ८५ ४७, समञ्जन्तु विश्वेदेवा समापो हृदयानि नौ।
३ मार्शल, जे०, वही, भाग १, पृ० ४४, ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, फलक १७ बी
४. बोधायन धर्म सूत्र १.१.१९-२६

स्वीकृत किया है।[1] निकटाभिगमन की इस परम्परा का मूल सैन्धव संस्कृति में ढूंढा जा सकता है। यजुर्वेद मे एक स्थल पर शिव और अम्बिका को भाई-बहन बताया गया है।[2] इसके विपरीत प्राय सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में रुद्र और अम्बिका को पति-पत्नी कहा गया है। यह विरोधाभास निश्चय ही विस्मयजनक है। हम जानते हैं कि उत्तर वैदिक काल में आर्य एवं आर्येतर सांस्कृतिक धाराओं के समन्वय के परिणामस्वरूप ऋग्वैदिक रुद्र एवं सैन्धव शिव का व्यक्तित्व परस्पर निमज्जित हो गया। इसी युग में अम्बिका का प्रथम उल्लेख होना इस बात को सूचित करता है कि रुद्र-शिव और अम्बिका के पारस्परिक सम्बन्ध की यह कल्पना भी सैन्धव संस्कृति से ग्रहण की गई। ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ेगा कि सैन्धव-धर्म के अन्तर्गत शिव अम्बिका का पति-पत्नी स्वरूप तथा भ्राता-भगिनी स्वरूप साथ-साथ और समान रूप से ग्राह्य था। लेकिन यह बात आर्यों की नैतिक भावना के प्रतिकूल थी। अतः उन्होंने बाद में अम्बिका-रुद्र के पति-पत्नी स्वरूप को ही ग्रहण किया। प्राचीन मिस्र में, जिसकी सभ्यता के निर्माण में भूमध्यसागरीय जाति का सहयोग निर्विवादरूपेण माना जाता है, आइसिस और ओसिरिस का पारस्परिक सम्बन्ध इसी प्रकार का था। मिस्री लोगों के इस धार्मिक विश्वास का सामाजिक पक्ष भी था क्योंकि प्राचीन मिस्री समाज में भाई-बहन के विवाह की प्रथा पूर्णत प्रचलित थी। अत सैन्धव समाज में भी इस प्रकार की प्रथा का प्रचलन कल्पनीय हो जाता है।

आर्यों के आगमन के समय उत्तरी भारत में भूमध्यसागरीय (द्रविड) लोगों के अतिरिक्त दो अन्य बहुसंख्यक प्रजातियां निवास करती थीं। ये थीं प्रागआस्ट्रेलिद (निषाद) एवं मंगोलिद (किरात)

निषाद संस्कृति

यद्यपि सैन्धव संस्कृति के निर्माण में भी इनका सहयोग निर्विवाद है तथापि निषाद संस्कृति का प्रमुख केन्द्र गंगा का मैदान रहा प्रतीत होता है तथा किरात जाति का हिमालय की तलहटी में। इनमें निषाद संस्कृति ने दक्षिण पूर्व की ओर प्रसारोन्मुख आर्य संस्कृति को विशेष रूप से प्रभावित किया।

गंगा की घाटी से प्राप्त ताम्र उपकरणों से जिस पुरा ऐतिहासिक ताम्र संस्कृति का ज्ञान होता है, उसके निर्माताओं के सम्बन्ध में पुरातत्ववेत्ताओं

---

१ बृहस्पति, स्मृतिचन्द्रिका १, पृ १० पर उद्धृत
२ यजुर्वेद (वाज० स०) ३.५७

में गहरा मतभेद रहा है। प्रारम्भ मे हीन गेल्डर्न महोदय का यह मत था कि ये ताम्र-उपकरण मध्य देश की ओर आने वाले वैदिक आर्यों की संस्कृति के अवशेष हैं।[१] प्रारम्भ मे पिगट महोदय ने उनके इस विचार का समर्थन किया[२] किन्तु संशोधित मत के अनुसार उन्होंने पुन यह प्रतिपदित किया कि इन ताम्र उपकरणों का निर्माण आर्यों के भीषण आक्रमण से त्रस्त होकर दक्षिण-पूर्व की ओर गतिशील हड़प्पा के प्रवासी शरणार्थियो ने किया था। किन्तु इन दोनो विकल्पो को मानने में पर्याप्त कठिनाइयां हैं। निर्माण और उपयोग की दृष्टि से ये उपकरण न तो सैन्धव सभ्यता से प्राप्त उपकरणो से समानता रखते हैं और न हस्तिनापुर से प्राप्त आर्यों द्वारा निर्मित उपकरणो से। सिन्धु प्रदेश के विस्तृत वैज्ञानिक उत्खनन मे कांटेदार बर्छे (हार्पून) तथा मानव-आकृतियां (एन्थ्रोपोमोर्फिक फिगर) जो ताम्र-संस्कृति के विशिष्ट उपकरण हैं, सर्वथा अनुपलब्ध है।

सन् १९४९ मे श्री० बी० बी० लाल ने ताम्र-उपकरणो से सम्बन्धित राजपुर परसू तथा बिसौली नामक दो स्थानो में साधारण उत्खनन कराया। इसके परिणामस्वरूप कोई नवीन उपकरण तो प्रकाश में नही आया किन्तु नीचे के स्तरो से कुछ भद्दे मटमैले ठीकरे (ओकर कलर्ड वेयर) उपलब्ध हुए जिन्हें श्री० बी० बी० लाल ने परिस्थैतिक साक्ष्य के आधार पर गगा घाटी के ताम्रोपकरणो के साथ सम्बद्ध किया है।[३] इसी प्रकार के ठीकरे हस्तिनापुर के निम्नतम स्तर से मिले हैं जिसके ऊपरी स्तर मे आर्यों द्वारा निर्मित चित्रित भूरे बर्तनो के ठीकरे मिलते हैं। अत यह निष्कर्ष अपरिहार्य लगता है कि गगा के मैदान में ताम्रोपकरणों के निर्माताओं की संस्कृति के विकास का इतिहास आर्येतर एव प्रागार्य है।

इस संस्कृति के निर्माता ही सम्भवत. मिर्जापुर की पहाडियों से प्राप्त प्रागैतिहासिक भित्तिचित्रो के निर्माता थे। लेकिन नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर इन भित्तिचित्रो को प्राग्-आस्ट्रेलिद जाति की कृति माना गया है। ऐसी स्थिति में प्राग्-आस्ट्रेलिद जाति को ही ताम्र-संस्कृति तथा

---

१ आर्क्योलाजिकल ट्रेसेज आव वैदिक आर्यन्स, जर्नल आव इण्डोलोजिकल सोसाइटी, न० ४, १९३६

२ प्रिहिस्टोरिक कापर होर्ड इन गैन्जेटिक वैली, एन्टिक्विटी १८, १९४४

३ ऐन्श्येन्ट इण्डिया (१९५१) न० ७, पृ० २० ३९

भद्दे मटमैले मृद्-भाण्डो का निर्माता मानना होगा।[१] इस प्रदेश में बसने वाली निम्नस्तरीय जातियों में आस्ट्रेलिद शारीरिक लक्षणो की बहुलता तथा इस प्रदेश मे व्यवहृत होनेवाली भाषा में आष्ट्रिक शब्दों का विशेष समावेश इस मत को सजीव और सशक्त बना देते हैं। आष्ट्रिक भाषा परिवार की मुण्डा भाषा एक समय गगा घाटी तथा मध्य भारत के विस्तृत भूभाग में बोली जाती थी।[२] मिर्जापुर के अनेक गाँवों के नाम आज भी मुण्डा भाषा के हैं।[३] वराहमिहिर की बृहत्सहिता में निषाद जाति की स्थिति मध्यदेश के दक्षिण पूर्व मे बताई गई है।[४] सम्भावना इस बात की प्रतीत होती है कि मध्य देश में आर्यों के प्रवेश के कारण इन लोगों को दक्षिण और दक्षिण-पूर्व की ओर खिसकना पड़ा था। विन्ध्य पर्वतमाला तथा उसके समीपवर्ती प्रदेशो में निषाद संस्कृति का आदिम और अविकल स्वरूप दीर्घकाल तक अरण्यवासी जातियों में जीवित रहा। इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि उत्तरवैदिक काल में गगा की घाटी में बसे बहुसख्यक निषाद क्रमश वैदिक समाज में अ गीकृत हो चले थे। उनकी महत्वपूर्ण स्थिति का अनुमान राज-सूय के प्रसग में उनके प्रति प्रदर्शित राजकीय अनुग्रह से किया जा सकता है। इतना अवश्य है कि अभी ये समाज की चातुर्वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत स्थान नही पा सके थे। निरुक्त एव बृहद्देवता में इन्हें पचम वर्ण कहा गया है।[५] उत्तर वैदिक साहित्य में निषादों का अनेकश उल्लेख हुआ है। शबर नाम भी इन्ही का था ऐसा अनुमान किया जाता है। महाभारत मे निषादों को कद का छोटा, जली लकडी की भाँति काला और लोहिताक्ष कहा गया है। भागवतपुराण मे उ की गाल की उभड़ी हुई हड्डियों, दबी हुई नाक तथा ताम्रवण केशों का उल्लेख है।[६]

निषाद लोग अधिकाशत नदियों के किनारे रहते थे तथा मछलियों एव अन्य जगली पशुओं का शिकार करते थे। भाषा-वैज्ञानिकों ने मुण्डा तथा अन्य आस्ट्रिक भाषाओं का सस्कृत भाषा से तुलनात्मक अध्ययन करके कुछ

---

१ वही

२ लिंग्विस्टिक सर्वे आव इण्डिया, ४, पृष्ठ ६

३ जे० ए० एस० बी, भाग ३, पृ० ९२–३ (१९०३)

४ बृहत्सहिता, १४ १०

५. द्रष्टव्य वैदिक इण्डेक्स १, ४५३

६ भागवत पुराण, ४ १४. ४४

ऐसे शब्दो को ढूढ निकाला है जिन्हे उत्तरकालीन आर्य भाषा में ग्रहण किया गया । निश्चय ही इनमे से अनेक शब्दो को आर्यो ने सम्भवत उन वस्तुओ से अपरिचयजन्य शब्दाभाव के कारण अपनाया । इन शब्दो का आर्य भाषा मे प्रवेश भारतीय सस्कृति में निषाद तत्वो के अगीकरण का सूचक है। चावल, कदली, नारिवेल, ताम्बूल, बैगन, लौकी, जामुन, कपास और सिम्बल आदि का उत्पादन, मोर, मातग तथा कुकवाक आदि पशु-पक्षियो से परिचय, हस्तिपालन की विधि आदि भारतीय-सस्कृति मे निषाद तत्व माने जा सकते हैं । निषादों ने सम्भवत कुदाल या छडी से भूमि खोदकर झूम प्रणाली से खेती करने की विधि का अविष्कार कर लिया था ।

निषादो ने भारतवर्ष की धार्मिक परम्पराओ को भी समृद्ध करने मे अपना विशिष्ट योग दिया । शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रचलित लिंगपूजा जिसका प्रचलन सैन्धव सस्कृति मे भी पाया गया है, मूलतः आस्ट्रेलिद प्रतीत होती है । जीन सिलुस्की के अनुसार लिंग लगुड आदि शब्द आष्ट्रिक भाषा के ही हैं । भाषाविदो के मतानुसार ऐसे अनेक धार्मिक विश्वासो एव परम्पराओ का मूल आस्ट्रेलिदहोना चाहिए जोभारोपीय और द्रविड सम्कृतियो के अ ग न होते हुए भी हिन्दू समाज मे प्राचीन काल से ही विद्यमान हैं । यद्यपि उन सब की निषाद उत्पत्ति सिद्ध करना प्रमाणो के अभाव मे प्राय असम्भव है किन्तु आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास, धार्मिक कृत्यो में ताम्बूल, हल्दी और सिन्दूर का प्रयोग, निछावर तथा निषेध (टैबू) मे विश्वास चन्द्रमा की कला के आधार प~ तिथियों की गणना तथा कोडी में गणना करने की प्रथा आदि का मूल प्राय आस्ट्रेलिद माना गया है ।[१] नृतत्वशास्त्रियो का विश्वास है कि आस्ट्रेलिद जाति के लोग घोर टोटमवादी थे ।[२] इसलिए बहुत से पशुओ जैसे नाग, मकर, कच्छप और हाथी की पूजा भी बीजरूपेण इन्ही की सस्कृति की देन मानी जा सकती है । हो सकता है कि मत्स्य और कच्छप अवतार की कथायें मत्स्यगन्धा आख्यान, तथा पचतन्त्र और हितोपदेश मे सुरक्षित पशुओ की कथाएँ मूल रूप मे आस्ट्रेलिद जाति की देन रही हों ।

निषाद जन नदी-जल की पवित्रता और उसकी पाप मोचन की शक्ति में भी विश्वास करते थे । मृत्यु के पश्चात् दिवगत आत्मा की शान्ति के लिए

---

१ द्रष्टव्य, वैदिक एज, पृ० १५०–५५

२ विहार में ओरांव जाति में ७३ और सथाल जाति में ९१ भेद है जो टोटम पर आधारित है ।

जल में अस्थि-विसर्जन की प्रथा भी इन लोगों मे प्रचलित थी। संथाल जाति के लोग जब तक दामोदर नदी में मृतकों की अस्थियो को विसर्जित नहीं कर लेते हैं, तब तक मृतात्मा को शान्ति नहीं मिलती, ऐसा उनका विश्वास है। गगा शब्द का ज्ञान भी सम्भवत आर्यों को निषाद जाति से ही प्राप्त हुआ। निषाद लोग गगा शब्द के मूल आष्ट्रिक रूप का प्रयोग सम्भवत नदी के अर्थ में करते थे।[1] आज भी बगला भाषा मे गाग का अर्थ नदी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के निवृत्तिमूलक धार्मिक विचारो का बीज भी निषाद सस्कृति में ही था। निवृत्तिमूलक धार्मिक परम्पराओ को प्राय मुनियों और श्रमणों की अवैदिक धारा से सम्बद्ध किया गया है[2] किन्तु इनकी निषाद उत्पत्ति की सम्भावना ने विद्वानो का ध्यान यथेष्ट रूप से आकर्षित नहीं किया। इसका प्रमुख कारण निषाद सस्कृति को अत्यन्त हीन और अविकसित समझने का पूर्वाग्रह रहा है। निवृत्तिमार्गीय मुनियों का स्पष्ट उल्लेख ऋक्सहिता के केशि-सूक्त में हुआ है। इस प्रसग में केशधारी, मैले 'गेरुए' कपडे पहने हवा में उडते, जहर पीते, मौनेय मे 'उन्मदित' और 'देवेषित' मुनियो का विलक्षण चित्र अभिलिखित है।[3] मुनियो का उल्लेख ऋक्सहिता में अन्यत्र भी है, पर विरल है, और ऐसा लगता है कि चमत्कार दिखलाते हुए मुनियों के दर्शन ने सूक्त-कार को विस्मय मे डाल दिया था। वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मुनियों की यह परम्परा ऋग्वैदिक आर्यों के लिए जितनी विचित्र है उतनी ही कदाचित भी। पूर्व वैदिक-कालीन ब्राह्मण धर्म की प्रवृत्तिवादी और देववादी दृष्टि मुनि-श्रमण दृष्टि के प्रतिकूल थी। जहाँ मुनियों के लिये प्रवृत्तिमूलक कर्म बन्धनात्मक और हेय था तथा ब्रह्मचर्य, तपस्या योग आदि निवृत्तिपरक क्रियायें ही उपादेय थी, ब्राह्मण धर्म मे ऐहिक और आमुष्मिक सुख मुख्य पुरुषार्थ था और यज्ञात्मक कर्म प्रधान साधन। शङ्कराचार्य ने कहा है कि वैदिक धर्म द्विविध है, प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण।[4] पर यह स्मरणीय है कि पूर्ववैदिक कालीन ब्राह्मण धर्म केवल प्रवृत्तिलक्षण था। निवृत्ति लक्षण धर्म के अनुयायी इस समय केवल मुनि-श्रमण थे। किन्तु आर्य लोग जैसे जैसे पूर्व की ओर बढते गये

---

१ वैदिक एज, पृ० १५४

२ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४-६

३ ऋ० १० १३६

४ गीताभाष्य का उपोद्घात।

ऐसे शब्दो को ढूढ निकाला है जिन्हें उत्तरकालीन आर्य भाषा में ग्रहण किया गया। निश्चय ही इनमे से अनेक शब्दो को आर्यो ने सम्भवत उन वस्तुओ से अपरिचयजन्य शब्दाभाव के कारण अपनाया। इन शब्दो का आर्य भाषा मे प्रवेश भारतीय संस्कृति मे निषाद तत्वो के अंगीकरण का सूचक है। चावल, कदली, नारिवेल, ताम्बूल, बैंगन, लौकी, जामुन, कपास और सिम्बल आदि का उत्पादन, मोर, मातंग तथा कुक्कवाक आदि पशु-पक्षियो से परिचय, हस्तिपालन की विधि आदि भारतीय-संस्कृति मे निषाद तत्व माने जा सकते हैं। निषादों ने सम्भवत कुदाल या छड़ी से भूमि खोदकर झूम प्रणाली से खेती करने की विधि का आविष्कार कर लिया था।

निषादो ने भारतवर्ष की धार्मिक परम्पराओ को भी समृद्ध करने मे अपना विशिष्ट योग दिया। शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्रचलित लिंगपूजा जिसका प्रचलन सैन्धव संस्कृति मे भी पाया गया है, मूलत: आस्ट्रेलिद प्रतीत होती है। जीन सिलुस्की के अनुसार लिंग लगुड आदि शब्द आष्ट्रिक भाषा के ही हैं। भाषाविदो के मतानुसार ऐसे अनेक धार्मिक विश्वासो एव परम्पराओ का मूल आस्ट्रेलिदहोना चाहिए जोभारोपीय और द्रविड संस्कृतियो के अ ग न होते हुए भी हिन्दू समाज में प्राचीन काल से ही विद्यमान हैं। यद्यपि उन सब की निषाद उत्पत्ति सिद्ध करना प्रमाणो के अभाव में प्राय असम्भव है किन्तु आत्मा के पुनर्जन्म में विश्वास, धार्मिक कृत्यो में ताम्बूल, हल्दी और सिन्दूर का प्रयोग, निछावर तथा निषेध (टैबू) मे विश्वास चन्द्रमा की कला के आधार पर तिथियों की गणना तथा कोड़ी में गणना करने की प्रथा आदि का मूल प्राय आस्ट्रेलिद माना गया है।[1] नृतत्वशास्त्रियो का विश्वास है कि आस्ट्रेलिद जाति के लोग घोर टोटमवादी थे।[2] इसलिए बहुत से पशुओ जैसे नाग, मकर, कच्छप और हाथी की पूजा भी बीजरूपेण इन्ही की संस्कृति की देन मानी जा सकती है। हो सकता है कि मत्स्य और कच्छप अवतार की कथायें मत्स्यगन्धा आख्यान, तथा पचतन्त्र और हितोपदेश मे सुरक्षित पशुओ की कथाएँ मूल रूप मे आस्ट्रेलिद जाति की देन रही हों।

निषाद जन नदी-जल की पवित्रता और उसकी पाप मोचन की शक्ति में भी विश्वास करते थे। मृत्यु के पश्चात् दिवगत आत्मा की शान्ति के लिए

१ द्रष्टव्य, वैदिक एज, पृ० १५०–५५
२ बिहार में ओराव जाति में ७३ और संथाल जाति मे ९१ भेद है जो टोटम पर आधारित है।

जल में अस्थि-विसर्जन की प्रथा भी इन लोगो मे प्रचलित थी। सथाल जाति के लोग जब तक दामोदर नदी में मृतकों की अस्थियों को विसर्जित नहीं कर लेते हैं, तब तक मृतात्मा को शान्ति नही मिलती, ऐसा उनका विश्वास है। गगा शब्द का ज्ञान भी सम्भवत आर्यों को निपाद जाति से ही प्राप्त हुआ। निपाद लोग गगा शब्द के मूल आष्ट्रिक रूप का प्रयोग सम्भवत नदी के अर्थ में करते थे।[१] आज भी बगला भाप मे गाग का अर्थ नदी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के निवृत्तिमूलक धार्मिक विचारो का बीज भी निपाद सस्कृति में ही था। निवृत्तिमूलक धार्मिक परम्पराओ को प्राय मुनियों और श्रमणों की अवैदिक धारा से सम्बद्ध किया गया है[२] किन्तु इनकी निपाद उत्पत्ति की सम्भावना ने विद्वानो का ध्यान यथेष्ट रूप से आकर्षित नही किया। इसका प्रमुख कारण निपाद सस्कृति को अत्यन्त हीन और अविकसित समझने का पूर्वाग्रह रहा है। निवृत्तिमार्गीय मुनियो का स्पष्ट उल्लेख ऋक्सहिता के केशि सूक्त में हुआ है। इस प्रसग मे केशधारी, मैले 'गेरुए' कपडे पहने हवा मे उडते, जहर पीते, मौनेय मे 'उन्मदित' और 'देवेपित' मुनियो का विलक्षण चित्र अभिलिखित है।[३] मुनियो का उल्लेख ऋक्सहिता में अन्यत्र भी है, पर विरल है, और ऐसा लगता है कि चमत्कार दिखलाते हुए मुनियों के दर्शन ने सूक्त-कार को विस्मय में डाल दिया था। वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि मुनियों की यह परम्परा ऋग्वैदिक आर्यों के लिए जितनी विचित्र है उतनी ही कदाचित भी। पूर्व वैदिक-कालीन ब्राह्मण धर्म की प्रवृत्तिवादी और देववादी दृष्टि मुनि-श्रमण दृष्टि के प्रतिकूल थी। जहाँ मुनियो के लिये प्रवृत्तिमूलक कर्म बन्धनात्मक और हेय था तथा ब्रह्मचर्य, तपस्या योग आदि निवृत्तिपरक क्रियायें ही उपादेय थी, ब्राह्मण धर्म मे ऐहिक और आमुष्मिक सुख मुख्य पुरुषार्थ था और यज्ञात्मक कर्म प्रधान साधन। शङ्कराचार्य ने कहा है कि वैदिक धर्म द्विविध है, प्रवृत्तिलक्षण और निवृत्तिलक्षण।[४] पर यह स्मरणीय है कि पूर्ववैदिक कालीन ब्राह्मण धर्म केवल प्रवृत्तिलक्षण था। निवृत्ति लक्षण धर्म के अनुयायी इस समय केवल मुनि-श्रमण थे। किन्तु आर्य लोग जैसे जैसे पूर्व की ओर बढते गये

---

१. वैदिक एज, पृ० १५४

२ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४-६

३ ऋ० १० १३६

४ गीताभाष्य का उपोद्घात।

वैसे-वैसे वैदिक समाज पर मुनि-श्रमण विचारधारा का प्रभाव भी बढ़ता गया। उपनिषद युग तक मुनियो के उदारस्वरूप का दर्शन होने लगता है[1] श्रमण शब्द का सकृत् प्रयोग है[2], यद्यपि मुण्डकोपनिषद स्पष्ट रूप से यज्ञ-विधि के निन्दक मुण्डित-शिर भिक्षुओ की कृति प्रतीत होता है। ये मुनि-श्रमण तप को महत्व देते थे। ऐतरेय ब्राह्मण (३३.११) मे तापस धर्म के विरोध की क्षीण प्रतिध्वनि सुनाई देती है किन्तु उपनिषद काल तक धार्मिक जीवन मे तप की प्रतिष्ठा निर्विवाद रूप से स्थापित हो चुकी थी। छान्दोग्य उपनिषद मे 'तप' को तीन धर्मस्कन्धों मे से एक माना गया है।[3] उपनिषत्कालीन संस्कृति का केन्द्र मध्य देश तथा उसके दक्षिण-पूर्व मे कोशल तथा विदेह तक का भूप्रदेश था। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्यों का तापस धर्म से घनिष्ठ परिचय पंजाब में न होकर गगा की घाटी मे हुआ। ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों मे मुनियों का विरल उल्लेख इस बात का संकेत करता है कि तप की परम्परा उनकी अपनी अथवा सैन्धव जनों की नही हो सकती। जैसा कि यह देख चुके हैं, आर्यों के आगमन के समय गगा-घाटी में निषाद संस्कृति का विकास हो रहा था। ऐसी स्थिति में तापस-धर्म के विकास के पीछे निषाद प्रभाव ही एक स्वस्थ विकल्प प्रतीत होता है। इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि मगध और विदेह के समीपवर्ती प्रदेशो मे छठी सदी ई० पू० के पर्याप्त पहले, सम्भवत उत्तरवैदिक युग मे ही निवृत्तिपरक जैनधर्म के मूल सिद्धान्त अस्तित्व में आ चुके थे। जैन अनुश्रुतियो के अनुसार तेईसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की तिथि महावीर जैन से २५० वर्ष पूर्व बताई जाती है। जिससे जैन धर्म का प्रारम्भिक इतिहास ८वीं सदी ई० पू० तक निश्चित रूप से पहुँचता है। स्मरणीय है कि परम्पराओं के अनुसार पार्श्वनाथ काले थे तथा सर्प उनका जातीय लाञ्छन था।[4] ये दोनो विशेषतायें निषाद जाति की हैं। सुविदित है कि बृहत्संहिता में मध्यदेश के दक्षिण पूर्व के प्रदेश को ही निषाद संस्कृति का केन्द्र कहा गया है।[5] वैदिक युग के अन्त मे इन्ही प्रदेशों मे यज्ञ प्रधान ब्राह्मण धर्म का विरोध तथा नैराश्यमूलक

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद ३.४.१, ४.४ २५, तैत्तिरीय आरण्यक २.२०
२ वही ४ ३.२२
३. छान्दोग्य उप० २ २३ १
३. छान्दोग्य उप० २ २३ १ -
४. मिथ्स एण्ड लीजेन्ड्स एबाउट इण्डिया, पृ० १६६।
५. बृहत्संहिता १४-१०।

बौद्ध धर्म का उदय एव जैन धर्म का विकास हुआ। वैदिक धर्म के विपरीत इन नवोदित धर्मों की लोकप्रियता इस प्रदेश मे दीर्घकाल तक सम्भवत इसलिये बनी रही कि इनके सिद्धान्त स्थानीयजनों की प्राचीन एव उदात्त धार्मिक परम्परा के सर्वथा अनुकूल थे।

यद्यपि तप शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में अनेकश हुआ है किन्तु प्राय सभी प्रसगो में इसका अर्थ तेज, सन्ताप अथवा दाह है तपस्या नही। यहा पर यह भी स्मरणीय है कि निवृत्तिपरक अथवा क्लेश-लक्षण तप ऋक्सहिता के सुविदित जीवन दर्शन के विरुद्ध था तथा योगजन्य सिद्धिया उनकी अपरिचित थी। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरवैदिक काल में यह (तप) आष्ट्रिक 'तपु' अथवा 'तबु' शब्द का पर्यायवाची हो गया जिसका अर्थ 'त्याग' अथवा 'निषेध' था। इसी के परिणामस्वरूप 'तप' शब्द को तपस्या के अर्थ में प्रयुक्त किया जाने लगा। विचारार्ह है कि आष्ट्रिक 'तपु' अथवा 'तबु' शब्द से ही पालीनेशियन 'टैबू' शब्द की व्युत्पत्ति हुई।

श्री सुनीतिकुमार चटर्जी कुछ अन्य दार्शनिक विचारो को भी मूल रूप में आष्ट्रिक सस्कृति की देन मानते हैं।[१] पोलीनेशियन आस्ट्रेलिदों मे 'मन' (Mana) की अवधारणा रही है जिसे वे सर्वव्यापी ईश्वरीय शक्ति मानते हैं। वैदिक युग के अन्त तक आरण्यको एव उपनिषदो मे अदृश्य किन्तु सर्वव्यापी ईश्वरीय सत्ता का 'ब्रह्मन्' के रूप में विस्तरश उल्लेख हुआ है। सम्भव है कि ब्रह्मन् की कल्पना के पीछे आष्ट्रिक 'मन' की धारणा आधार रूप में रही हो क्योंकि भारत के आदिम आस्ट्रेलिदों में 'मन' सम्बन्धी विश्वास अवश्य प्रचलित रहा होगा। सुविदित है कि 'ब्रह्मन्' के प्रति वैदिक आर्यो की आस्था तथा आकर्षण में वृद्धि मध्यदेश तथा उसके दक्षिण-पूर्व (काशी, कोशल, विदेह) में हुई। इसी प्रदेश को निषाद जाति की निवास-भूमि भी माना गया है।

निषादों के सामाजिक जीवन की कल्पना मध्यभारत की कतिपय-आष्ट्रिक भाषा-भाषी असभ्य एव अर्ध-सभ्य जातियों की आर्थिक एव सामाजिक व्यवस्था के आधार पर की जा सकती है। इस विषय मे कठिनाई इस बात की है कि उन लोगों ने पड़ोसीसभ्य जातियों के प्रभाव के कारण अनेक आदिम परम्पराओं का त्याग कर दिया है। फिर भी इनके कुछ विचित्र

---

१ कल्चरल हेरिटेज आव इण्डिया, भाग १, पृ० ७८

रीति-रिवाज आज भी प्रायः अपरिवर्तित तथा मौलिक रूप मे द्रष्टव्य है। एस० सी० राय के अनुसार ओराव तथा विहार की अन्य जनजातियो मे पितामह और पौत्री के विचित्र विवाह का प्रचलन रहा है। आस्ट्रेलिद जाति की यह परम्परा मेलेनेशिया में भी पाई जाती है।[१] सथाल, हो, ओराँव भील आदि सभी जातियो में असुर-विवाह का भी प्रचलन है। असम्भव नही है कि आस्ट्रेलिद समाज मे पुरा-ऐतिहासिक काल से ही क्रय विवाह की परम्परा रही हो। इससे आस्ट्रेलिद समाज मे नारी की उपयोगिता तथा बहुमूल्यता सूचित होती है।[२] धर्मग्रन्थो के विरोध के होते हुए भी निषादो द्वारा स्वीकृत क्रय-विवाह भारतीय समाज मे सदैव प्रचलित रहा है।[३] सथाल, मुण्डा और ओराँव आदि जातियो मे बाल विवाह का भी प्रचलन है। यद्यपि निश्चायक ढग से कुछ कहना कठिन है तथापि धर्मसूत्रो के काल तक हिन्दू समाज में बाल विवाह के विस्तृत प्रचार की पीछे निषाद प्रभाव अनायास कल्पनीय हैं।

भारतवर्ष की प्रागार्य प्रजातियो के सास्कृतिक इतिहास मे किरातों का विशेष योग नही रहा है, फिर भी इस प्रसग मे उनका अध्ययन सर्वथा उपेक्षणीय नही है।

किरात-सस्कृति

मगोल जातियां प्रागैतिहासिक युग से ही भारत वर्ष मे आती रही हैं और हिमालय के गिरिपादीय प्रदेशो—असम, नैपाल, लद्दाख आदि मे बसती रही हैं। मोएनजोदडो के विशाल जनसकुल में मगोलतत्व विद्यमान था। वहाँ से उपलब्ध मूर्तियो से पंखे के आकार की जिस शिरोभूषा का ज्ञान होता है उसकी तुलना असम—प्रदेश मे प्रचलित किरात जाति की शिरोभूषा से की जा सकती है। वैदिक साहित्य से भी उनके पर्वतीय प्रदेश का निवासी

१ एस० सी० राय, दि ओरांव, पृ० ३५२-५४

२ लुई, प्रिमिटिव सोसाइटी, पृ० १८ २०

३ महाभारत के अनुसार जब भीष्म ने कन्या-शुल्क चाहनेवाले शल्य की भर्त्सना की तब शल्य ने तर्क उपस्थित किया था कि उचित अथवा अनुचित,इस प्राचीन कुलधर्म का त्याग करने मे वे असमर्थ है।

महाभारत १ १२३६ (कुम्भको० सस्करण)

पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित्कुले स्मिन्नृपसत्तमैः । साधु वा यदि वासाधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे ।

होने का ज्ञान होता है। वाजसनेयी सहिता मे उन्हें गुहानिवासी तथा अथर्व-वेद में पर्वतीय प्रदेश का निवासी कहा गया है।[१] महाभारत में इन्हें हिमवन्त प्रदेश का निवासी बताया गया है।[२] अर्जुन से किरातो का सघर्ष उत्तरी अभियान में ही हुआ था। राहुल साकृत्यायन के अनुसार ऋग्वेद मे वर्णित आर्यों का प्रमुख प्रतिद्वदी शम्बर इन्ही पहाडी लोगो का नेता था।[३] इस शम्बर के सौ पर्वतीय दुर्गों के उल्लेख से इस अवधारणा की अशत पुष्टि भी होती है[४]। ऋग्वेद की अन्य ऋचाओ से भी इसका सम्बन्ध पहाडी प्रदेश से सूचित होता है[५]।

सास्कृतिक दृष्टि से अविकसित होने के कारण किरात लोग निषादो तथा आर्यों के समक्ष सास्कृतिक सघर्ष मे टिक नही सके। उन्होने अधिकाशत हिन्दू सस्कृति को अपना लिया। जो इस प्रभाव से मुक्त रहे उनकी सास्कृतिक परम्परायें आज भी अव्याहत रूप से असम के पहाडी प्रदेशो मे पाई जाती हैं। वर्तमान किरात जनजातियो की सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि इनका समाज मातृवशीय, मातृसत्तात्मक तथा मातृस्था-नीय था। खासी और गारो जातियो में यह व्यवस्था आज भी पूर्ण विकसित रूप मे मिलती है। खासी लोग अपनी वशावली का प्रारम्भ स्त्रियो अथवा राजकुमारियो से मानते हैं। इनमे सृष्टि-निर्माण का देवता भी नारी-गुणोपेत है। इन लोगो मे सम्पत्ति पिता की नही बल्कि माता की समझी जाती हैं। माता की मृत्यु के उपरान्त इस सम्पत्ति के उत्तराधिकारी भी लडके नही वरन् लडकिया ही होती हैं। मनुष्य के व्यक्तिगत आय की स्वामिनी विवाह के पूर्व माता और विवाह के पश्चात् पत्नी हुआ करती है। विवाहोपरान्त पति प्राय. पत्नी के घर पर ही निवास करता है। खासी जाति मे पौरोहित्य का कार्य भी प्राय स्त्रियाँ ही सम्पादित करती हैं। हिन्दू धर्म तथा सामाजिक व्यवस्था के प्रभाव के कारण इनके समाज में भी स्त्रियों के प्रभुत्व का ह्रास होता जा रहा है। गारो लोगों की सामाजिक व्यवस्था भी इसी प्रकार मातृसत्तात्मक

---

१ वाज० स० ३० १६, अथर्व० १० ४ १४।

२ महाभारत ७ ४ ७, हिमवद्दुर्गनिलया किराता ।

३ ऋग्वैदिक आर्य, पृ०८१–२

४ ऋ० २ १४ ६।

५ ऋ० १ १३० ७, ४ ३० १४, ६ २६ ५, २.२४.२ पर्वतेपु क्षिपन।

है। इनकी सन्तानें माता के कुल एवं वंश से सम्बद्ध समझी जाती है। गारो लोग अपना मूल पूर्वज एक स्त्री को मानते हैं। इन लोगो मे एक विचित्र प्रथा यह है कि सास के विधवा हो जाने पर नोकोम (दामाद) को उससे विवाह करना पड़ता है। सास सम्पत्ति की स्वामिनी होती है। ऐसी स्थिति मे उसकी सम्पत्ति को अपनी पत्नी के लिए सुरक्षित करने के लिए दामाद उससे विवाह कर लेता है।

किरातो की एक अन्य उल्लेखनीय सामाजिक परम्परा बहुभर्तृता का प्रचलन है। आजकल लद्दाख, उसके समीपवर्ती प्रदेशो तथा जानसरबावर की पहाड़ियो मे इस प्रथा का प्रचार है। वेस्टरमार्क ने इस प्रथा का कारण स्त्रियो की संख्या की कमी माना है किन्तु सुमनेर, लुई, कनिंघम और वेल्यू आदि विद्वानो ने इसका मूल कारण गरीबी बताया है।[१] पहाड़ी जीवन की कठोरता एवं संघर्ष ने इन लोगो को जनसख्या-नियोजन के लिये विवश किया होगा।

वैदिक साहित्य के विकास का इतिहास, बोकजकुई अभिलेख तथा आर्य-भाषा पर हुए आर्येतर प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए भारत मे आर्यों के

आर्यों का-आगमन और आगमन की तिथि द्वितीय सहस्राब्दि ई० पू० के प्रारम्भ में मानी जा सकती है।[२] स्थूलत यही

सैन्धव सभ्यताका विलोप वह समय था जब वैबीलोनिया मे कसाइट, एशिया-माइनर में हित्ती और यूनान मे एकियन प्रविष्ट हुए थे। भारत मे प्रवेश के पश्चात् ऋग्वेदिक आर्यों ने सप्तसैन्धव प्रदेश को अपना प्रारम्भिक आवास बनाया। सुविदित है कि यही प्रदेश पूर्ववर्तिनी अनार्य सैन्धव संस्कृति के विकास का भी केन्द्र था। ऐसी स्थिति मे यह सम्भावना उत्पन्न होती है कि सैन्धव संस्कृति के विनाश का कारण आर्यों का आक्रमण ही था।[३] लगातार आनेवाली बाढ़ो से सैन्धव संस्कृति स्वत ह्रासोन्मुख हो चली थी जिसके परिणामस्वरूप विजातीय आक्रमणकारियों का सफल प्रतिरोध नहीं हो सका। मोएनजोदडो में परवर्ती युगो का वर्धमान

१ लुई, प्रिमिटिव सोसाइटी, पृ० ४२, सुमनेर, फॉक वेज, पृ० ३०२, डा० रामनारायन, सोशल इकोनोमी आव दी पोलियन्ड्रस पिपुल, पृ० ३२।

२ विन्टरनिट्ज, हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ३१०

३ ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ६४–६५।

ह्रास तथा अन्तिम विनाश, दोनों के चिन्ह मिले हैं। आर्यों द्वारा संस्कृति के विनाश के सूचक प्रबल साहित्यिक तथा पुरातात्विक संकेत उपलब्ध हैं।

ऋक्संहिता में ऐसे अनेक उद्धरण है जिनसे स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक आर्य सैन्धव संस्कृति से सुपरिचित तथा उसके विध्वंसक थे। इस ग्रन्थ में दास-दस्यु लोगों की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है उनसे स्पष्टत वे लोग सैन्धव संस्कृति के निर्माता ही प्रतीत होते हैं। उन्हें अपरिचित भाषा में बोलने वाला (मृध्रवाक्), वैदिक कर्मों से रहित (अकर्मन), वैदिक देवों को न मानने वाला (अदेवयु), यज्ञो से शून्य (अयज्वन्) एवं व्रतों से रहित (अव्रत) कहा गया है। इन नकारात्मक विशेषणो से दास-दस्यु लोगों का अनार्यत्व मात्र सूचित होता है किन्तु अन्यत्र उन्हें 'शिश्नदेव' भी कहा गया है।[१] लिंगपूजा की यह परम्परा सैन्धव समाज में प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त दास-दस्यु लोगो के विपुलकाय पुरो तथा दुर्गो का भी उल्लेख हुआ है जिन्हें स्थान-स्थान पर आयसी, अश्ममयी, उर्वी, गोमती, शतभुजी और शारदी आदि विशेषणो से युक्त किया गया है। इससे स्पष्ट है कि दास-दस्यु लोग किसी समृद्ध नागरिक संस्कृति से सम्बन्धित थे। लिंगपूजक दास दस्यु लोगों की यह नागरिक संस्कृति सैन्धव संस्कृति ही हो सकती है क्योंकि सम्पूर्ण उत्तरी भारत में आर्यों की पूर्ववर्तिनी किसी अन्य नागरिक सभ्यता का अस्तित्व अज्ञात है।[२]

दास-दस्यु लोगो से ऋग्वैदिक आर्यों का सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण एवं संघर्षमय था। आर्य-दास संघर्ष की प्रतिध्वनि ऋक्संहिता में सर्वत्र उपलब्ध होती है। मन्त्र ५. ३४. ६ में आर्यों द्वारा दासों के पराजय और वशीकरण का संकेत है। दासों के पुरों को नष्ट करने के लिए इन्द्र तथा अग्नि से अनेकश

१ ऋ० ७ २१. ५, १० ९९ ३

२ इस प्रसंग मे यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद मे दास-दस्यु की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए छ आंखों से युक्त (ष ळाक्ष) तीन सिर वाला (त्रिशीर्षाण) और शृंगमुकुटधारी कहा गया है (ऋ० १० ९९ ६, ७. ९९ ४)। इस वर्णन पर ध्यान देने पर अनायास सिन्धु-घाटी के उस अनार्य देवताओं की याद आती है जिसे शिव का आदि रूप माना गया है।

है। इनकी सन्तानें माता के कुल एवं नाम से सम्बद्ध समझी जाती है। गारो लोग अपना मूल पूर्वज एक स्त्री को मानते हैं। इन लोगो मे एक विचित्र प्रथा यह है कि सास के विधवा हो जाने पर नोकोम (दामाद) को उससे विवाह करना पडता है। सास सम्पत्ति की स्वामिनी होती है। ऐसी स्थिति मे उसकी सम्पत्ति को अपनी पत्नी के लिए सुरक्षित करने के लिए दामाद उससे विवाह कर लेता है।

किरातो की एक अन्य उल्लेखनीय सामाजिक परम्परा बहुभर्तृता का प्रचलन है। आजकल लद्दाख, उसके समीपवर्ती प्रदेशो तथा जानसरबावर की पहाड़ियो मे इस प्रथा का प्रचार है। वेस्टरमार्क ने इस प्रथा का कारण स्त्रियो की सख्या की कमी माना है किन्तु सुमनेर, लुई, कनिंघम और वेल्यू आदि विद्वानो ने इसका मूल कारण गरीबी बताया है।[१] पहाडी जीवन की कठोरता एव सघर्ष ने इन लोगो को जनसख्या-नियोजन के लिये विवश किया होगा।

वैदिक साहित्य के विकास का इतिहास, बोकजकुई अभिलेख तथा आर्य-भाषा पर हुए आर्येतर प्रभाव को दृष्टि मे रखते हुए भारत मे आर्यों के आगमन की तिथि द्वितीय सहस्राब्दि ई० पू० के आर्यों का आगमन और प्रारम्भ मे मानी जा सकती है।[२] स्थूलत यही सैन्धव सभ्यताका विलोप वह समय था जब बेबीलोनिया मे कसाइट, एशिया-माइनर में हित्ती और यूनान मे एकियन प्रविष्ट हुए थे। भारत मे प्रवेश के पश्चात् ऋग्वेदिक आर्यों ने सप्तसैन्धव प्रदेश को अपना प्रारम्भिक आवास बनाया। सुविदित है कि यही प्रदेश पूर्ववर्तिनी अनार्य सैन्धव सस्कृति के विकास का भी केन्द्र था। ऐसी स्थिति मे यह सम्भावना उत्पन्न होती है कि सैन्धव सस्कृति के विनाश का कारण आर्यो का आक्रमण ही था।[३] लगातार आनेवाली बाढो से सैन्धव सस्कृति स्वत ह्रासोन्मुख हो चली थी जिसके परिणामस्वरूप विजातीय आक्रमणकारियो का सफल प्रतिरोध नही हो सका। मोएनजोदडो में परवर्ती युगो का वर्धमान

१ लुई, प्रिमिटिव सोसाइटी, पृ० ४३, सुमनेर, फोंक वेज, पृ० ३०२, डा० रामनारायन, सोशल इकोनोमी आव दी पोलियन्ड्रस पिपुल, पृ० ३२।
२ विन्टरनिट्ज, हिस्ट्री आव इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० ३१०
३ व्हीलर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ६४–६५।

ह्रास तथा अन्तिम विनाश, दोनो के चिन्ह मिले हैं। आर्यों द्वारा सस्कृति के विनाश के सूचक प्रबल साहित्यक तथा पुरातात्विक सकेत उपलब्ध हैं।

ऋक्सहिता में ऐसे अनेक उद्धरण है जिनसे स्पष्ट होता है कि ऋग्वैदिक आर्य सैन्धव सस्कृति से सुपरिचित तथा उसके विध्वसक थे। इस ग्रन्थ में दास-दस्यु लोगों की जिन विशेषताओं का उल्लेख हुआ है उनसे स्पष्टत वे लोग सैन्धव सस्कृति के निर्माता ही प्रतीत होते हैं। उन्हें अपरिचित भाषा में बोलने वाला (मृध्रवाक्), वैदिक कर्मो से रहित (अकर्मन), वैदिक देवों को न मानने वाला (अदेवयु), यज्ञो से शून्य (अयज्वन्) एव व्रतों से रहित (अव्रत) कहा गया है। इन नकारात्मक विशेषणो से दास-दस्यु लोगो का अनार्यत्व मात्र सूचित होता है किन्तु अन्यत्र उन्हें 'शिश्नदेव' भी कहा गया है।[१] लिगपूजा की यह परम्परा सैन्धव समाज मे प्रचलित थी। इसके अतिरिक्त दास-दास्यु लोगों के विपुलकाय पुरों तथा दुगो का भी उल्लेख हुआ है जिन्हें स्थान-स्थान पर आयसी, अश्ममयी, उर्वी, गोमती, शतभुजी और शारदी आदि विशेषणों से युक्त किया गया है। इससे स्पष्ट है कि दास-दस्यु लोग किसी समृद्ध नागरिक सस्कृति से सम्बन्धित थे। लिगपूजक दास दस्यु लोगो की यह नागरिक सस्कृति सैन्धव सस्कृति ही हो सकती है क्योकि सम्पूर्ण उत्तरी भारत में आर्यों की पूर्ववर्तिनी किसी अन्य नागरिक सभ्यता का अस्तित्व अज्ञात है।[२]

दास-दस्यु लोगो से ऋग्वैदिक आर्यों का सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण एव सघर्ष-मय था। आर्य-दास सघर्ष की प्रतिध्वनि ऋक्सहिता में सर्वत्र उपलब्ध होती है। मत्र ५. ३४ ५ में आर्यो द्वारा दासों के पराजय और वशीकरण का सकेत है। दासों के पुरों को नष्ट करने के लिए इन्द्र तथा अग्नि से अनेकश

१ ऋ० ७ २१ ५, १० ९९. ३

२ इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में दास-दस्यु की विशेपताओं का उल्लेख करते हुए छ आखों से युक्त (षडाक्ष) तीन सिर वाला (त्रिशीर्षाण) और शृगमुकुटधारी कहा गया है (ऋ० १० ९९ ६, ७. ९९ ४)। इस वर्णन पर ध्यान देने पर अनायास सिन्धु-घाटी के उस अनार्य देवताओं की याद आती है जिसे शिव का आदि रूप माना गया है।

निवेदन भी किया गया है[1] तथा इन्द्र को पुरन्दर (पुरो का भेदन करने-वाला) का विरुद प्रदान किया गया है।[2] ऋग्वेद १ १४७ ७-८ में पृथ्वी को दास लोगो की श्मशान-भूमि कहा गया है । एक स्थान पर इन्द्र को कृष्णयोनि दासो का विनाश करने वाला तथा अन्यत्र उन्हें नीचे की गुफा मे फेंकने वाला कहा गया है।[3] मंत्र ४ १६ १३ मे पचास सहस्र कृष्णवर्ण दासो को युद्धभूमि मे मारने तथा उनके पुरी को नष्ट करने का उल्लेख है। इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि ऋग्वैदिक आर्यों ने दास-दस्यु संस्कृति के विनाश का पूर्ण प्रयास किया, जिसमे उन्हें यथेष्ट सफलता भी प्राप्त हुई। इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि मोएनजोदड़ो की सडको से प्राप्त अस्थिपंजर तथा रानाघुण्डाई तृतीय मे अग्निकाड के दृश्य से भी किसी आक्रमण तथा तज्जनित विध्वस का सकेत मिलता है। इस प्रकार साहित्यिक एवं पुरातात्विक प्रमाणो की सम्मिलित सूचना की पृष्ठिभूमि मे सैन्धव संस्कृति के विनाश का कारण वैदिक आर्यो के आक्रमण को मानना अपरिहार्य हो जाता है।

सैन्धव सभ्यता का प्रभाव क्षेत्र बहुत विस्तृत था, इसलिए इसका ह्रास तथा इसके भौतिक पक्ष का विलोप सर्वत्र समान रूप से नही हुआ। सिन्ध एवं पजाब मे यह संस्कृति प्राय विनष्ट हो गई क्योकि हड़प्पा मे सैन्धव संस्कृति के ऊपर 'कब्रिस्तान एच' नामक सैन्धवोत्तर संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। यह संस्कृति भी आर्येतर थी किन्तु सैन्धव संस्कृति की तुलना मे अत्यन्त हीन और अविकसित थी। इसी प्रकार चन्हूदड़ो में 'झूकर' और 'झगर' संस्कृतियो के अवशेष मिले हैं। लोथल और रगपुर के साक्ष्य से स्पष्ट होता है कि सौराष्ट्र मे यह संस्कृति दीर्घकाल तक जीवित रही। इस प्रदेश में सैन्धव संस्कृति का क्रमश ह्रास के साथ रूपान्तर हुआ किन्तु आकस्मिक विनाश नही। पजाब और पश्चिमी उत्तर प्रदेश को सैन्धवो के पश्चात् कुछ अन्तराल के उपरान्त 'चित्रित भूरे मृत्पात्र' संस्कृति के निर्माताओ ने अधिकृत कर लिया। श्री बी० बी० लाल ने इस संस्कृति का निर्माता भारत मे आने वाले प्रारम्भिक आर्यो को माना है।[4] किन्तु यह असन्दिग्ध नही है। 'चित्रित भूरे मृत्पात्र' संस्कृति की परम्परा स्पष्ट से

---

१ ऋ १० २२ ८, ७ ५ ३

२ ऋ १ १०३ ३

३ ऋ २ १२ ४

४ एन्श्येन्ट इण्डिया, १० ११ पृ० ५-१५१

कौशाम्बी तक मिली है। यह संस्कृति प्रधानतः गंगा की घाटी तक सीमित होने के कारण उत्तर-वैदिक आर्यों की प्रतीत होती है। यदि यह प्रारंभिक आर्यों से सम्बद्ध होती तो इसके अवशेष सप्तसिन्धु प्रदेश में अधिक मिलते क्योंकि भारत में प्रवेश के पश्चात् आर्य सर्वप्रथम वहीं बसे थे।

आर्यों एवं अनार्यों के बीच का यह संघर्ष दीर्घकालीन नहीं रहा। प्रारम्भिक कलह की स्थिति के समाप्त होते ही इनका पारस्परिक दुराव मिटने लगा। ऋग्वेद में दाशराज्ञ युद्ध का जो उल्लेख है उसमें सुदास के विरुद्ध युद्ध में भाग लेने वाली जातियों में अनार्य भी सम्मिलित थे।[१] प्रारम्भ में विजित अनार्यों को आर्यों ने दास (स्लेव) बनाये। ऋग्वेद में अनेक ऐसे प्रसंग हैं जिनमें दासों को गायों और भेड़ों के साथ दान में देने का उल्लेख है।[२] ये दास पराजित अनार्य (दास-दस्यु) ही थे। यहां यह उल्लेखनीय है कि सैन्धव संस्कृति का विविध प्रभाव आर्यसभ्यता के प्रथम आविर्भाव के समय कम था और पीछे क्रमशः अधिक। प्रारम्भ में विजेता आर्य और विजित पलायमान अथवा दासकृत आर्येतर जातियां परस्पर संघर्ष में निरत थीं। इस प्रकार का युद्धजन्य सम्पर्क सांस्कृतिक आदान प्रदान अथवा समन्वय के लिए उपयोगी नहींहोता। उत्तरवैदिक युग तक जब आर्येतर लोग वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से वैदिक समाज में अंगीकृत हुए तब सांस्कृतिक समन्वय के लिए भी स्वस्थ वातावरण उपलब्ध हुआ।

ऋग्वैदिक संस्कृति की विकास-भूमि 'सप्तसिन्धु[३]' की भौगोलिक परिधि पश्चिम में कुभा से लेकर पूर्व में यमुना तक विस्तृत थी। ऋक्संहिता के

---

१ ऋ० ७ ३३ २, ५, ८३ ८

२ ऋ० ८ ५६ ३

३ ऋग्वेद में 'सप्तसिन्धु' शब्द का प्रयोग एक भूभाग विशेष तथा 'नदियों का समूह' दोनों अर्थों में हुआ है। इसकी सात नदियों में मेक्समूलर पंजाब की नदियों, सिन्धु तथा सरस्वती की गणना करते हैं। लुडविग तथा विन्टरनित्ज सरस्वती के स्थान पर कुभा को मानते हैं। पंडित क्षेमेश चन्द्र चट्टोपाध्याय 'सप्तसिन्धु' शब्द का प्रयोग 'सब नदियां' के अर्थ में हुआ मानते हैं जो पूर्व वैदिक आर्यों से परिचित थीं। प्रारम्भ में सप्तसिन्धु शब्द निश्चय ही सात नदियों का सूचक रहा होगा किन्तु ज्यों ज्यों नई नदियों से पूर्व वैदिक आर्यों का परिचय होता गया उन सबकी गणना 'सप्तसिन्धु' के अन्तर्गत होती गई।

पूर्व-वैदिक संस्कृति

एक उत्तरकालीन मंत्र में गंगा का भी उल्लेख हुआ है ।[१] किन्तु इस विरल उल्लेख से यह सूचित है कि इस नदी से पूर्व-वैदिक आर्यों का विशेष परिचय नही था । इस युग मे गंगा न तो सप्तसिन्धु की नदी थी और न इसे परवर्ती युगो की प्रतिष्ठा ही प्राप्त हो पाई थी उत्तर वैदिक युग के सांस्कृतिक केन्द्र मध्यदेश तक अभी आर्य-संस्कृति का विस्तार नहीं हो सका था[२] ।

आर्थिक जीवन

यद्यपि पूर्व-वैदिक आर्यकृषि और पशुपालन में समान रूप से रुचि रखते थे तथापि उनका प्रधान व्यवसाय पशुपालन ही था । ऋग्वेद का ऋषि जितना गायो और घोडो के लिये लालायित है उतना किसी अन्य आर्थिक महत्व की वस्तु के लिये नही । गाय का आर्थिक महत्व उसके 'अघ्न्या' विशेषण से भी स्पष्ट है ।[३] अगर मासाहार के लिये गायो का वध किया भी जाता था तो प्राय वन्ध्या गायों की ही हत्या होती थी । इसीलिये ऋग्वेद के मत्रों में अग्नि को 'वसान्न' कहा गया है । पशुधन के प्रति आर्यों का मोह दो विशिष्ट वैदिक कथाओं से भी प्रकट है । शुन शेप के पिता ने गायों के लोभ में पुत्र का विक्रय किया था तथा ऋज्राश्व के पिता ने भेडों की क्षति के कारण कुपित होकर अपने पुत्र को अन्धा बना दिया था । धीरे-धीरे कृषि का महत्व भी बढ रहा था ।[४] ऋग्वेद (१०,३४) मे जुआरी को द्यूत के

---

१. ऋ० १०. ७५ : ५

२ कुछ विद्वानो ने ऋग्वैदिक आर्यों का प्रसार पूर्व में विहार तक माना है । उनके अनुसार वैदिक संस्कृति को विदेह में प्रतिष्ठित करनेवाले विदेघमाथव के पुरोहित गौतम राहूगण ऋग्वेद के ऋषि हैं किन्तु] इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि गौतम राहूगण का उल्लेख ऋग्वेद के दशम मंडल में हुआ है जिसकी प्राचीनता पूर्णत सन्दिग्घ है । उपर्युक्त मत के लिए द्रष्टव्य–राधाकुमुदमुकर्जी, हिन्दू सभ्यता, पृ० ९५, पादटिप्पणी, उपेन्द्र ठाकुर, हिस्टरी आव मिथिला, पृ० २३ ।

३. ईरान मे भी गोहत्या के विरुद्ध जरथुस्त्र ने नियम बनाये । द्रष्टव्य— कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, भाग १, पृ० १०२

४ कृषि का ज्ञान आर्यों को हिन्द-ईरानी युग से ही था । यह बात 'यवम्-कृषि' और 'यवो करेश' की समानता से प्रकट है ।

व्यसन को त्याग कर कृषि-कर्म मे प्रवृत्त होने का संदेश दिया गया है। ऋग्वेद में कृषि-कर्म से सम्बन्धित विभिन्न यन्त्रो का उल्लेख हुआ है। हल चलाने का कार्य अधिकाशत बैलो से लिया जाता था। यत्र-तत्र घोडा के उपयोग का भी सकेत मिलता है।[१] पैदावार की वृद्धि के लिये 'शकृत' 'करीष' जैसे उर्वरक पदार्थो का प्रयोग भी होने लगा था। सिचाई के कृत्रिम साधनो का विकास भी अनेक मत्रों से सूचित होता है।[२] खेती मे उत्पन्न होने वाले अन्न को यव और धान्य कहा गया है।[३]

ग्राम्य जीवन के सरल होने के बावजूद इन लोगो ने अनेक उपयोगी शिल्पो का विकास कर लिया था। बढई (तक्षन्) शिल्पियो का अगुआ था।[४] वह युद्ध और सवारी के लिये रथ तथा माल ढोने के लिये अनस् का निर्माण करता था।[५] धातु का काम करने वाले 'कर्मार' कहलाते थे। इन लोगों ने धातु को गलाना सीख लिया था।[६] सोनार सोने के आभूषण बनाता था। सोना सिन्धु जैसी नदियो से तथा भूमि से प्राप्त किया जाता था।[७] कर्मकार और बुनकर का भी उल्लेख हुआ है। चमडा कमाने की कला ज्ञात थी।[८] कपडा बुनने का काम अधिकाशत स्त्रियाँ करती थी।[९] इस युग में वस्तुओ के विनिमय की भी प्रथा थी। दस गायो को देकर इन्द्र की एक प्रतिमा लेने की बात एक मत्र में कही गई है।[१०] बाजार के भाव-ताव तथा क्रय-विक्रय के नियमों से सम्बन्धित कुछ सकेत भी मिलते हैं।[११] यत्र-तत्र सामुद्रिक व्यापार का भी उल्लेख हुआ है ऋग्वेद ७ ९५ २ मे समुद्र शब्द का अर्थ

---

१ ऋ० १० १०१ ७
२ ऋ० १ १६१ १०, ७ ४९ २, ३ ४५ ३, १० ९९ ४
३ ऋ० १ ११७ २१, ६ १३ ४
४ ऋ० ९ ११२ १
५ ऋ० ३ ३३ ९
६ ऋ० १० ७२.२, ५ ९ ५
७ ऋ० ६ ६१ ७, १ ११७ ५
८ वैदिक इण्डेक्स १, २३४, २५७
९ ऋ० १ ९२ ३
१० ऋ० ४ २४ १० क इम दशभिर्ममेन्द्र क्रीणाति धेनुभि ।
११ ऋ० ४ २४ ९

निश्चित रूप से सागर है क्योकि इस मंत्र मे सरस्वती नदी के पर्वत से समुद्र तक बहने का उल्लेख है। समुद्र से प्राप्त होने वाले धन (रयि समुद्रात, वसूनि समुद्रात) का भी वर्णन है[१] जिसका अर्थ मोती या समुद्री व्यापार से होने वाला लाभ हो सकता है। ऋक्संहिता १ २५ ७ मे 'नाव समुद्रिय ' का उल्लेख भी सामुद्रिक नौयात्रा तथा व्यापार से पूर्व-वैदिक आर्यों का सम्बन्ध सूचित करता है। ऋग्वेदिक संस्कृति के ग्राम्य स्वरूप को देखते हुए समुन्नत व्यापार प्राय अकल्पनीय है फिर भी उपर्युक्त तथ्यो के प्रकाश मे यह बात स्वीकृत की गई है कि पूर्ववैदिक आर्य सामुद्रिक व्यापार करते थे।[२]

पूर्व-वैदिक समाज जनो और ग्रामो मे विभक्त था ग्राम का मुखिया ग्रामणी होता था। वह राजा को शासन कार्य मे सहायता देता था। राजा

राजनीतिक संगठन

सम्पूर्ण जन का नेता था। सामान्यत वह निर्वाचित हुआ करता था[३] किन्तु वंशानुगत रूप से शासन करनेवाले राजवंश भी अज्ञात नही थे।[४] समिति और सभा जैसी लोकप्रिय संस्थायें शासन कार्य मे राजा की सहायता करती थी। राजा स्वय समिति मे उपस्थित होता था तथा उसके सदस्यो के सहयोग की कामना करता था।[५] पूर्ववैदिक युग मे राजतन्त्र पर इन परिषदों का विशेष नियन्त्रण था। इस युग मे राज-पद उन परिस्थितियो का स्वाभाविक परिणाम था जो शत्रुओं के साथ युद्ध-निरत रहने से उत्पन्न हुई थी। ऐसी स्थिति मे सैनिक नेतृत्व राजा का प्रधान कर्तव्य था। इसके अतिरिक्त आतरिक शान्ति एव व्यवस्था की सुरक्षा भी उसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत परिगणित होने लगी था। राजा के प्रधान सचिव के रूप मे पुरोहित न केवल उसके हित तथा समृद्धि के लिये देवताओ को प्रसन्न करने का

---

१ ऋ० १ ४७ ६, ७ ६ ७, ६ ६७ ४४

२ द्र० वेदिक एज, पृ० ३६७

३. ऋ० १० १२४ ८

४ उदाहरण के लिये दिवोदास और सुदास, पुरुकुत्स और त्रसदस्यु इत्यादि द्र० प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० ६६

५. ऋ० ६ ६२ ६, १०.१६६.४

प्रयास करता था वरन् युद्ध भूमि में में भी राजा के साथ रहता था।[१] राजा को प्रजा से कर भी प्राप्त होने लगा था। ऋक्संहिता के मन्त्रो में उसे 'वलिहृत' कहा गया है।[२] किन्तु कुछ मन्त्रो से इस बात की भी सूचना मिलती है कि कर ग्रहण नियमित और अनिवार्य नही हो सका था।[३] ऋग्वेद मे केवल जनो का ही उल्लेख है, इससे यह प्रकट होता है कि विभिन्न आर्यजन अभी निश्चित भू-प्रदेशों में स्थिर नही हो पाये थे। यह स्थिति राज्यसस्था के समुचित विकास में बाधक थी। स्थायी जनपदो की स्थापना सर्वप्रथम उत्तर वैदिक युग में ही हो पाई।

समाज मे विभाजन की प्रक्रिया

उत्तर वैदिक युगीन वर्णव्यवस्था तथा वर्गगत विषमताओ और विशेषताओं का जो चित्र समसामयिक-साहित्य मे मिलता है वह ऋक्संहिता में सर्वथा अनुपलब्ध है। ऋग्वेद के ऋषि सामाजिक विभाजन से बिल्कुल अपरिचित नही थे। ऋग्वेद एव अवेस्ता के सम्मिलित साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि आर्यो ने श्रम विभाजन का विकास हिन्द-ईरानी युग मे ही कर लिया था। समाज मे विभिन्न व्यवसायों का उदय हो चुका था जिनके अनुसरण करनेवाले 'गायों की भांति एक ही स्थान में विश्राम करते थे।[४] एक ही परिवार में पिता वैद्य, पुत्र कारु और माता पिसनहरी का कार्य कर सकती थी।[५] दूसरे शब्दो मे विविध व्यवसाय अभी वशानुगत नही हो पाये थे। विश्वामित्र, जो भरत जन के सहयोगी तथा सुदास के पुरोहित थे,[६] कुशिक कुल मे उत्पन्न राजन्य थे।[७] ऋषि भृगु के वंशजों में कुछ रथकार भी थे[८] तथा उन्होने सशस्त्र सैनिकों की भांति दाशराज्ञ युद्ध में भाग भी लिया था।[९] ऋग्वेद के

---

१ ऋ० ७ १८.१३
२ ऋ० ७ ६ ५, १०. १७३ ६
३ ऋ० १० १६३ ६
४ ऋ० ९ ११२ ३
५ ऋ० ९ ११२ ३
६ ऋ० ३ ५३
७ ऋ० ३ ३३ ५, निरुक्त २ ४४
८ ऋ० ४ १६ २०, १ ३१ १४
९. ऋ० ७ १८.६

निश्चित रूप से सागर है क्योंकि इस मत्र मे सरस्वती नदी के पर्वत से समुद्र तक वहने का उल्लेख है। समुद्र से प्राप्त होने वाले धन (रयि समुद्रात, वसूनि समुद्रात) का भी वर्णन है[1] जिसका अर्थ मोती या समुद्री व्यापार से होने वाला लाभ हो सकता है। ऋक्सहिता १ २५ ७ मे 'नाव समुद्रिय ' का उल्लेख भी सामुद्रिक नौयात्रा तथा व्यापार से पूर्व-वैदिक आर्यों का सम्बन्ध सूचित करता है। ऋग्वेदिक सस्कृति के ग्राम्य स्वरूप को देखते हुए समुन्नत व्यापार प्राय अकल्पनीय है फिर भी उपर्युक्त तथ्यो के प्रकाश मे यह बात स्वीकृत की गई है कि पूर्व वैदिक आर्य सामुद्रिक व्यापार करते थे।[2]

पूर्व-वैदिक समाज जनो और ग्रामो मे विभक्त था ग्राम का मुखिया ग्रामणी होता था। वह राजा को शासन कार्य मे सहायता देता था। राजा सम्पूर्ण जन का नेता था। सामान्यत वह निर्वाचित हुआ करता था[3] किन्तु वशानुगत रूप से शासन करनेवाले राजवश भी अज्ञात नही थे।[4] समिति और सभा जैसी लोकप्रिय सस्थायें शासन कार्य में राजा की सहायता करती थीं। राजा स्वय समिति मे उपस्थित होता था तथा उसके सदस्यो के सहयोग की कामना करता था।[5] पूर्ववैदिक युग में राजतत्र पर इन परिषदों का विशेष नियत्रण था। इस युग मे राज-पद उन परिस्थितियो का स्वाभाविक परिणाम था जो शत्रुओ के साथ युद्ध-निरत रहने से उत्पन्न हुई थी। ऐसी स्थिति मे सैनिक नेतृत्व राजा का प्रधान कर्तव्य था। इसके अतिरिक्त आतरिक शान्ति एव व्यवस्था की सुरक्षा भी उसके कार्य-क्षेत्र के अन्तर्गत परिगणित होने लगी था। राजा के प्रधान सचिव के रूप में पुरोहित न केवल उसके हित तथा समृद्धि के लिये देवताओं को प्रसन्न करने का

राजनीतिक संगठन

---

१ ऋ० १ ४७ ६, ७ ६ ७, ६ ६७ ४४

२. द्र० वेदिक एज, पृ० ३६७

३ ऋ० १० १२४ ८

४. उदाहरण के लिये दिवोदास और सुदास, पुरुकुत्स और त्रस दस्यु इत्यादि। द्र० प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, पृ० ६६

५ ऋ० ६ ६२ ६, १० १६६.४

प्रयास करता था वरन् युद्ध भूमि में में भी राजा के साथ रहता था।[१] राजा को प्रजा से कर भी प्राप्त होने लगा था। ऋक्सहिता के मन्त्रो में उसे 'वलिहृत' कहा गया है।[२] किन्तु कुछ मन्त्रो से इस वात की भी सूचना मिलती है कि कर ग्रहण नियमित और अनिवार्य नही हो सका था।[३] ऋग्वेद मे केवल जनों का ही उल्लेख है, इससे यह प्रकट होता है कि विभिन्न आर्यजन अभी निश्चित भू-प्रदेशों में स्थिर नही हो पाये थे। यह स्थिति राज्यसस्था के समुचित विकास में वाघक थी। स्थायी जनपदो की स्थापना सर्वप्रथम उत्तर वैदिक युग में ही हो पाई।

समाज मे विभाजन की प्रक्रिया

उत्तर वैदिक युगीन वर्णव्यवस्था तथा वर्गगत विषमताओं और विशेषताओं का जो चित्र समसामयिक-साहित्य मे मिलता है वह ऋक्सहिता में सर्वथा अनुपलब्ध है। ऋग्वेद के ऋषि सामाजिक विभाजन से विल्कुल अपरिचित नहीं थे। ऋग्वेद एव अवेस्ता के सम्मिलित साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि आर्यो ने श्रम विभाजन का विकास हिन्द-ईरानी युग मे ही कर लिया था। समाज मे विभिन्न व्यवसायों का उदय हो चुका था जिनके अनुसरण करनेवाले 'गायो की भांति एक ही स्थान में विश्राम करते थे।[४] एक ही परिवार मे पिता वैद्य, पुत्र कारु और माता पिस्नहरी का कार्य कर सकती थी।[५] दूसरे शब्दों में विविध व्यवसाय अभी वशानुगत नही हो पाये थे। विश्वामित्र, जो भरत जन के सहयोगी तथा सुदास के पुरोहित थे,[६] कुशिक कुल में उत्पन्न राजन्य थे।[७] ऋषि भृगु के वशजों मे कुछ रथकार भी थे[८] तथा उन्होंने सशस्त्र सैनिकों की भांति दाशराज्ञ युद्ध मे भाग भी लिया था।[९] ऋग्वेद के

१ ऋ० ७ १८ १३
२ ऋ० ७ ६ ५, १० १७३ ६
३ ऋ० १० १६३ ६
४ ऋ० ९ ११२ ३
५ ऋ० ९ ११२ ३
६ ऋ० ३ ५३
७ ऋ० ३ ३३ ५, निरुक्त २ ४४
८ ऋ० ४ १६ २०, १ ३९ १४
९ ऋ० ७ १८ ६

के एक अन्य पुरोहित देवापि निरुक्ति द्वारा राजपुत्र बतलाये गये हैं। महाभारत मे इन्हें राजा शान्तनु का भाई कहा गया है। इस प्रकार विभिन्न व्यवसायो को धारण करनेवाले लोग समान थे तथा सामूहिक रूप से विश के अन्तगत। समाज मे न तो उच्च-निम्न की भावना थी और न रोटी बेटी के सम्बन्धो में कोई वर्गगत दुराव ही था। फिर भी ब्राह्मणो एव राजन्यो के विशिष्ट व्यवसाय क्रमश सचेष्ट रूप से आत्मचेतन वर्गों का स्वरूप ग्रहण कर रहे थे। राजशक्ति की वृद्धि तथा याज्ञिक अनुष्ठानों के विस्तार के साथ-साथ उपर्युक्त दोनो वर्गों के प्रभाव मे वृद्धि हुई। परिणामत वे अपने को सर्वसाधारण से पृथक समझने लगे। कालक्रम से शिक्षा-सस्थाओ के प्रभाव तथा प्रबल स्वार्थ-बुद्धि ने ब्राह्मणो एव क्षत्रियो को अपने-अपने सम्मान्य व्यवसाय को वशानुगत बनाने की प्रेरणा तथा सुअवसर-प्रदान किये। कतिपय प्रसगो मे ब्राह्मण शब्द का प्रयोग वशानुगत पुरोहित के अर्थ मे किया गया है।[१] इसी प्रकार कुछ मत्रो मे क्षत्रिय का अर्थ भी शासक वर्ग से सम्बन्धित व्यक्ति है।[२] यहाँ उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद में वशानुगतरूपेण शासन करनेवाले राजवशों के विरल उदाहरण भी उपलब्ध है। धार्मिक नेतृत्व के कारण ब्राह्मणों की वर्धमान प्रतिष्ठा अनेकश सूचित है। एक स्थल पर उनका उल्लेख पितरो के साथ हुआ है।[३] अन्यत्र यह कहा गया है कि ब्राह्मण का आदर करने वाले राजा के लिये पृथ्वी समृद्धशालिनी होती है तथा मनुष्य स्वेच्छया उसके समक्ष नत होते हैं।[४] ब्राह्मणो और क्षत्रियो के अतिरिक्त शेष लोग अभी 'विश' की सीमा के अन्तर्गत थे। इसी शब्द से उत्तर वैदिक युग मे वैश्य शब्द की व्युत्पत्ति हुई। सम्पूर्ण ऋग्वेद मे पुरुष-सूक्त' के अतिरिक्त अन्यत्र कही भी वैश्य और शूद्र शब्दो का उल्लेख नही है। चार वर्णों का स्पष्ट उल्लेख करने वाला यह सूक्त ऋग्वेद मे प्रक्षिप्ताश माना गया है।[५] ऐसी स्थिति मे यह निश्चायक ढग से कहा जा सकता है कि पूर्व-वैदिक आर्य चातुर्वर्ण-व्यवस्था से अपरिचित थे।

---

१ म्योर, वैदिक इण्डेक्स २, २४८ पर उद्धृत

२ ऋ० ४ ४२ १, ८ १०४ १३, १० १०९ ३

३ ऋ० ६ ७५ १०, ब्राह्मणाम. पितर शिवे नो द्यावा पृथ्वी अनहसा।

४ ऋ० ४ ,० ८

५ मैक्सम्यूलर, हिस्टरी आव ऐन्श्येन्ट सस्कृत लिटरेचर, पृ० ५७०

पारिवारिक व्यवस्था

आर्यों का समाज पितृस्थानीय एवं पितृवंशीय था। परिवार मे प्राय पितृ-परम्परा से सम्बन्धित लोग ही परिगणित होते थे।[1] श्राद्ध तथा अन्य अवसरों पर पितरो के आह्वान की परम्परा से ज्ञात होता है कि परिवार प्राय सयुक्त होते थे और उनमे तीन या चार पीढी के लोग साथ-साथ रहते थे।[2] सद्य विवाहिता वधू के लिए यह कामना की जाती थी कि वह अपने घर में पुत्र-पौत्रो के साथ खेलते हुए पूरी आयु का उपभोग करे।[3] पिता के जीवन काल में सभी भाई प्राय साथ साथ रहते थे इसीलिए वधू को देवर पर शासन करने वाली भी कहा गया है। वैदिक युग की परिस्थिति सयुक्त परिवार के लिए अधिक अनुकूल थी। सुरक्षा तथा समृद्धि दोनो दृष्टि से सयुक्त परिवार एकाकी परिवारों की अपेक्षा अधिक हितकर एवं लाभदायक थे।

पारिवारिक जीवन मे पितृ प्रभुत्व की सीमाएँ

यह धारणा प्राय प्रचलित है कि पूर्व वैदिक समाज पितृसत्तात्मक था। यद्यपि सन्तान पर पिता के प्रभाव एवं अधिकार के पर्याप्त सकेत मिलते हैं तथापि पारिवारिक जीवन में नारी के समक्ष पुरुष की प्रधानता अथवा पत्नी के उपर पति के प्रभुत्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता। ऋग्वेद मे 'दम्पति' शब्द का अनेकश प्रयोग परिवार मे पति-पत्नी के सामूहिक स्वामित्व का सूचक है। इसी प्रकार 'गृहपति'[4] और 'गृहपत्नी'[5] शब्दो का उल्लेख भी दोनो की समान स्थिति का सकेत करता है। ऋग्वेद (१० ८५) मे वधू को न केवल परिवार के एक महत्वपूर्ण पुरुष सदस्य देवर पर शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है वरन् उसे परिवार के प्रधान

---

१ ऋ० १०. ३४ ४ के आधार पर आप्टे ने सुझाव रखा है कि यदाकदा परिवार में सास भी सम्मिलित होती थी। किन्तु यह मत निराधार है क्योंकि इस मन्त्र मे जुआरी केवल यही कहता है कि मेरी सास मुझ से घृणा करती है।

२ घुरये, फैमिली एण्ड किन इन इण्डो-यूरोपियन कल्चर, पृ० ४४–४५

३ ऋ० १० ८५ ४२

४ ऋ० ६ ५३ २

५ ऋ० १० ८५ २६

पुरुष सदस्य श्वसुर पर भी शासन करने वाली कहा गया है।[१] ब्रिफाल्ट महोदय इस मन्त्र को मातृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था का अवशिष्ट प्रभाव मानते हैं।[२] ऐसी स्थिति में समाज में पुरुष की प्रधानता, पिता की निरंकुश सत्ता,[३] एवं पुरुष की तुलना में स्त्री की स्थिति चल-सम्पत्ति की तरह होना,[२] ये सभी कल्पनाएँ निराधार प्रतीत होती है। सन्तान के भविष्य-निर्धारण में माता का मत पिता से कम महत्वपूर्ण नही समझा जाता था। रथवीति की कन्या का विवाह उसके माता के विरोध के कारण ही रुक गया था।[५] पत्नी के ऊपर पति की प्रभुता को सिद्ध करने के लिए बहुधा ऋग्वेद १०, ३४ को प्रमाण रूप मे प्रस्तुत किया जाता है और यह असत्य निष्कर्ष निकाला जाता है कि पति अपनी पत्नी को द्युत मे दांव पर लगा सकता था।[६] इस कल्पना की निस्सारता को सिद्ध करने के लिये इतना बताना पर्याप्त होगा कि इस सूक्त मे जुआरी द्वारा पत्नी को दांव पर लगाने का कोई स्पष्ट उल्लेख नही है। उसमें केवल यह कहा गया है कि 'अन्य पुरुष उसकी पत्नी का स्पर्श करते हैं।[७] किन्तु इसका कारण केवल पत्नी का दांव पर लगाया जाना ही नही हो सकता। इसका कारण उसकी आर्थिक हीनता एवं अरक्षित स्थिति भी मानी जा सकती है। पूर्व-वैदिक युग मे स्त्रियों की पुरुषों से हीनतर अवस्था मे विश्वास करने वाले विद्वानो ने प्राय उन मन्त्रो को भी उद्धृत किया है जिनमे कहा गया है कि तत्कालीन राजा एवं समृद्ध पुरुष पुरोहितो को गायों और घोडों के साथ सैकडो वधुओं से भरे हुये रथ भी देते थे[८] और यह निष्कर्ष निकाला है कि इन स्थलों मे वधुओ का उल्लेख निश्चित रूप म चल-सम्पत्ति के रूप मे हुआ है किन्तु इन स्थलो मे वर्णित वधुओं का रूप पूर्व-वैदिक नारी के स्वतन्त्र और ... जीवन के साथ संगत नही लगता। आर्य समाज मे स्त्रियों का इतना

१. ऋ० १० ८५ ४६।
२ ब्रिफाल्ट, दि मदर्स, (लघु सस्करण), पृ० ७६
३ जिमर, वैदिक इण्डेक्स १ ५२६ पर उद्धृत
४. अल्तेकर, पोजीशन आव वीमेन, पृ०
५ वैदिक इण्डेक्स २ ४००
६ अल्तेकर, पोजीशन आव वीमेन, पृ०
७ ऋ १० ३४. ४, अन्ये जाया परिमृशन्ति।
८ ऋ० १. १२६. २-२

भी नही था कि वे रथो मे भरकर, दान मे दी जा सकें।[1] जिमर महोदय का यह विचार कि इन प्रसगो में 'वधू' शब्द का अर्थ दासी (अनार्या) है, युक्ति सगत प्रतीत होता है।[2] वैदिक आर्यों ने अनार्यों के सघर्ष के समय बहुसख्यक स्त्रियो का अपहरण किया होगा, जिनसे उनके अन्त.पुर की सीमाएँ बढी होगी। उन्हो ने अपने पुरोहितो तथा आत्मीयजनो को इन्ही अनार्य 'वधुओ' को उपहार में देकर अनुग्रहीत किया होगा। ऐसी ही वधुओ के गर्भ से औशिज कक्षीवन्त, दीर्घतमस, कवपऐलूष, और व्यास प्रभृति ऋषियो का जन्म हुआ होगा।

साधारणत पूर्व वैदिक पारिवारिक जीवन बडा ही सुखद था। दाम्पत्य जीवन की सबसे बडी कामना सन्तानोत्पत्ति थी।[3] पिता सन्तति के माध्यम से अमृतत्व की कामना करता था।[4]नवपरिणीता वधू को दस पुत्रों की माता बनने का आशीर्वाद दिया जाता था।[5] ऐसी स्थिति में पिता का सतानो के प्रति अपार स्नेह प्रकट करना सर्वथा स्वाभाविक है।[6] यद्यपि ऋक्सहिता में सर्वत्र पुत्र के लिए ही उत्कठा है तथा कन्या के प्रति उपेक्षा सकेतित है फिर भी कन्याओं को सामाजिक एव पारिवारिक जीवन में सुख सुविधाएँ पुत्रो की भाति ही उपलब्ध थीं। इस युग की कन्या परिवार के लिए दुर्वह भार नही थीं। वह गृहकार्यो का उत्तरदायित्व भी वहन करती थी। दुहिता शब्द की व्युत्पत्ति से स्पष्ट है कि पशुपालक आर्य परिवारों में गो-दोहन का कार्य कन्यायें ही करती थी। उनकी शिक्षा की व्यवस्था भी पुत्रों की ही भाति थी तथा विवाह प्राय पूर्ण वयस्क होने पर किये जाते थे। पति के चुनाव के लिये उन्हें पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी।[7] स्मृतियो मे जिन आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख हुआ है उनमे अधिकाश के प्रचलन के चिन्ह ऋग्वेद में,

---

१ डी० डी० कोशाम्बी, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव इण्डियन हिस्टरी, पृ० ८२

२ द्रष्टव्य वैदिक इण्डेक्स २, २४०

३ ऋ० १० ८५ ३६

४ ऋ० ५ ४ १०, प्रजाभिरग्ने. अमृतत्वमश्याम्।

५. ऋ० १० ८५ २६

६ ऋ० १ ६१ १३, १ ६१ २०, ३ १ १०३ इत्यादि।

७ १० २७ १२, भद्रा वधू भवत्यत्सुपेषा स्वय सा मित्र वनुते जने चित्।

मिलते हैं।[1] समाज मे वहुभर्तृता की प्रथा समाप्त हो चुकी थी।[2] तथा वहु-भार्यता के परिणामस्वरूप सपत्नियों के कलह के कारण पारिवारिक जीवन की शाति भग होने का यत्र-तत्र सकेत हुआ है।[3]

पूर्व-वैदिक आर्य धर्म

पूर्व-वैदिक आर्यों का धर्म वहुदेववादी था। भौतिक प्रकृति तथा मानव जीवन के विविध व्यापारो के पीछे वहुविधि शक्तिया अधिष्ठातृ रूप में विद्यमान है। इन शक्तियो का ही देवता शब्द से अभिधान हुआ है। देवताओ की सत्ता शुभ ज्योतिर्मय एव अमर मानी गई है। ऋक्सहिता में देवताओ की कल्पना अधिकाशत मनुष्य रूप मे की गई है किन्तु सभी देवताओ का मानवीकरण समान रूप से पूर्णता नही प्राप्त कर सका है। अनेक स्थलो पर उनके शारीरिक अवयव उन प्राकृतिक दृश्यों के रूपात्मक प्रतिनिधि हैं जिनके वे वस्तुत प्रतीक हैं। उदाहरणार्थ सूर्य के वाहु उसकी रश्मिया हैं और अग्नि की जिह्वा उसकी ज्वाला। आर्य लोग अपने विभिन्न देवताओ को मन्त्र एवं यज्ञ के माध्यम से प्रसन्न करने का प्रयास करते थे। जिसका प्रमुख उद्देश्य लौकिक सुख, समृद्धि और कल्याण था। उनकी कल्पना मे यह जगत—पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश में विभक्त था तथा प्रत्येक लोक में देवताओ का निवास था। वैदिक ऋषियो ने इन देवताओ के व्यक्तित्व में प्राय समान गुणो का आरोप किया है तथा स्तुति करते समय प्राय. किसी भी देवता को सर्वोच्च घोषित किया है। मैक्सम्यूलर ने इस प्रवृति को उपास्यदेव-श्रेष्ठतावाद (हेनोथीज्म) नाम से अभिहित किया है[4] तथा कुछ अन्य विद्वानो ने इस प्रवृत्ति को एकेश्वरवाद का सूचक माना है[5]। इतना

---

१ भगवत शरण उपाध्याय, वीमेन इन दि ऋग्वेद, पृ ६४।

२. ऋ० १० ८५ मे नवविवाहिता वधू को आशीर्वाद देते हुए कहा गया है 'देवृकामा भव'।इसे आर्य-समाज में वहु-भर्त्तता के पूर्ण प्रचलन का सूचक मानना चाहिये, क्योकि स्वय ऋग्वेदिक युग में इस प्रथा के प्रचलन का कोई अन्य प्रमाण नही मिलता।

३. ऋ० १ १०५ ८ में सपत्नियो से युक्त व्यक्ति की दुर्दशा का सकेत है। इसी प्रकार ऋ० १० १४५ मे सपत्नीवाधन का प्रयास दिखाई देता है।

४. मैक्सम्यूलर के इस मत का खडन हो चुका है। द्र० वेदिक माइथालोजी, पृ० १०

५. श्मिट—ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव रिलिजन, पृ० १७२

सुनिश्चित है कि विभिन्न देवताओं में समान गुणों के आरोप तथा प्रत्येक की श्रेष्ठता के प्रतिपादन के परिणामस्वरूप एकेश्वरवाद तथा सर्वेश्वरवाद के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। ऋग्वेद के कुछ ऋषियो ने स्पष्टत बहुदेववाद को चुनौती दिया है। प्रथम मण्डल मे उस एक सत् की कल्पना की गई है जिसे ज्ञानी लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, मरुत और मातरिश्वा आदि विभिन्न नामो से पुकारते हैं।[1] इसी प्रकार अन्यत्र देवताओं के असुरत्व को एक माना गया है।[2] दशम् मण्डल के कुछ सूक्त, जिनकी प्राचीनता सदिग्ध है, दार्शनिक चिन्तन का भी सकेत करते हैं। इस प्रकार 'पुरुष सूक्त' में सृष्टि का कारणभूत मूल तत्व विराट-पुरुष को तथा नासदीय सूक्त मे अव्यक्त 'तदेकम्' को बताया गया है। ऋक्सहिता में बहुदेववाद तथा एकेश्वर के सूचक मन्त्रों का साथ साथ होना विस्मयजनक नही है क्योंकि प्रत्येक समाज में एक ही समय में धार्मिक विश्वासों के विविध स्वर दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार की स्थिति प्राय बौद्धिक वैषम्य के कारण उत्पन्न होती है।

ऋग्वेद के अनेक देवताओं में इन्द्र का प्राधान्य है।[3] वह युद्ध और बल का देवता है।[4] यहाँ तक कि इन्द्रिय शब्द प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में भी बल का पर्यायवाची है। आर्य प्रसार के युग में सग्रामों का बाहुल्य उनकी लोकप्रियता का कारण था। उत्तरकाल में इन्द्र वर्षा के देवता के रूप मे अर्चित हुए और इस प्रकार लोकप्रिय बने रहे। वरुण सत्य और ऋत के पालक के रुप मे माने जाते थे।[5] उनके सूक्तों में ऋक्सहिता के नैतिक आदर्श प्रकाश पाते हैं। वरुण को असुर भी कहा गया है जो ईरानी देव अहुरमज्द से सम्बन्धित है। कुछ विद्वानों ने वरुण को मूलत आकाश का देवता माना है।[6] किन्तु पण्डित क्षेत्रशचन्द्र चट्टोपाध्याय का यह मत कि वरुण रात्रि का

१ ऋ० १ १६४ ४६।

२ ऋ० ३ ५५

३ वैदिक देवताओ एव देववाद पर सामान्यत द्रष्टव्य—मैक्डानल, वैदिक माइथालोजी, कीथ, रिलिजन एण्ड फिलासफी आव दि वेद, श्मिट—ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आफ रिलिजन

४ वैदिक माइथालोजी, पृ० ५४

५ ऋ० १. २३ ५

६ वैदिक माइथालोजी, पृ० २७ कीथ, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेदाज एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० १०२

सूर्य है, अधिक समीचीन प्रतीत होता है।[१] आकाशीय देवताओ मे वरुण के अतिरिक्त द्यौस् उल्लेखनीय हैं जिनकी कल्पना आकाश-देव के रूप मे की गई। भाषाविदों ने यूनानी देवता जियस के साथ उसकी अभिन्नता स्वीकार की है। इस प्रकार वह वैदिक आर्यो का प्राचीनतम देवता प्रतीत होता है। आकाशीय देवताओं मे सूर्य भी उल्लेखनीय हैं जिनकी उपासना पांच रूपो मे प्रचलित थी जिन्हें सूर्य, सवितृ, मित्र, पूषन और विष्णु नाम से अभिहित किया गया है। इनमे विष्णु, जो ऋग्वेद मे आकाशचारी सूर्य के रूप में उल्लिखित हैं, उत्तरकाल मे सम्भवत किसी अनार्य देवता को आत्मसात कर लेने के कारण अधिक लोकप्रिय हो गया।[२] उसकी उपासना भी पृथक् देव के रूप में होने लगी। इसी प्रकार अन्तरिक्षीय देवताओं मे इन्द्र के अतिरिक्त रुद्र का स्थान महत्वपूर्ण माना जा सकता है क्योकि इस देवता ने उत्तरवैदिक युग तक अतिशय महत्ता प्राप्त की तथा सैन्धव शिव को आत्मसात करने में समर्थ हुआ। ऋग्वेद में वह प्रकृति के उग्र रूप का प्रतिनिधित्व करता है। अनेक प्रसगो के अध्ययन से वह झंझावात के साथ आनेवाले विद्युत्धारी घने काले मेघो का देवीकरण प्रतीत होता है। मरुत सम्भवत झझावात के देवता तथा रुद्र के सहायक थे। पृथिवी के देवताओ मे अग्नि, बृहस्पति और सोम-विशेष रूप से ब्राह्मणों के देवता थे। इस वर्ग के देवताओ में स्वयं पृथ्वी की भी गणना हुई है जिसका उल्लेख अधिकाशत द्यौस के साथ हुआ है। ऋग्वेदिक देवियो में उषा का वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है। यह उल्लेख्य है कि उषा के व्यक्तित्व को आर्येतर प्रभाव से सर्वथा मुक्त नही माना जा सकता।[३] देवताओ का उस समय मुख्यतया ऐहिक प्रसाद प्रार्थित था। ऐसी स्थिति में और्ध्वदेहिक जीवन के विषय मे पूर्ववैदिककालीन धारणाए अस्पष्ट थी। यह माना जाता था कि देवताओं का यजन करने वाले सत्पुरुष मृत्यु के पश्चात् पितृलोक मे निवास करते हैं। अनृत परायण व्यक्तियो की और्ध्वदेहिक अवस्था के विषय मे कुछ स्पष्ट नही कहा गया है।

---

१ पाण्डेय, जी० सी०, औरिजिन्स आफ बुद्धिज्म, पृ० २६८ पर उद्धृत

२. दी कल्चरल हैरिटेज आव इण्डिया, वाल्यूम १, पृ० ८२ वैदिक एज, पृ० १६२

३ वैदिक उषा और उर्वशी का सिन्धु—संस्कृति से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। द्रष्टव्य—इण्डिया पास्ट एण्ड प्रेजेन्ट, पृ० १६३ और आगे

देवता के लिए मन्त्रपूर्वक द्रव्यत्याग को यज्ञ कहते थे। ईरान में एक समय प्राचीन आर्य लोग हवि को अग्नि में नही डालते थे।[१] भारतीय आर्यों में बहुत पहले ही वैदिक काल में अग्नि हव्यवाह के रूप में प्रकटहोते हैं, यद्यपि यह स्मरणीय है कि यहाँ भी उत्तरकालीन सिद्धान्त के अनुसार हवि का अग्नि में प्रक्षेप 'प्रतिपत्ति कर्म' ही समझा जाता था। यज्ञ का प्रारम्भिक स्वरुप सरल था। ऋत्विक् के द्वारा देवता के स्तुतिपरक मन्त्र पढ़े जाते थे और हवि के रुप में विविध धान्य अथवा गोरस से निर्मित अन्न, पशु अथवा सोमरस अर्पित किए जाते थे। क्रमशः अनेक यज्ञों में ऋत्विक् के कार्य का चतुर्धा विभाजन भी होता है। होता नामक ऋत्विक् ऋक्सहिता की ऋचाओं का पाठ करता था। अध्वर्यु कर्मकाड का भार वहन करता था उद्गाता सामगान करता था तथा ब्रह्मा यज्ञ कर्म का अध्यक्ष होता था। इनके साथ सहायक भी होते थे। कुछ यज्ञ इतने विस्तृत एग व्यवसाध्य हो चले थे जिन्हें राजा अथवा समृद्ध (मघवन) लोग ही सम्पन्न कर सकते थे।

---

१ द्रष्टव्य-हेरोडोटस, हिस्टररीज, (पेंग्विन क्लासिक्स में अनुवाद) पृ० ६८–६९।

—०—

वैदि युगी

ौतिक जी पलवि ाँ

परवर्ती सहिताम्रो, ब्राह्मणों, आरण्यको एव उपनिपदो का काल उत्तर-वैदिक युग के नाम से अभिहित किया जाता है।[१] इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य के विभिन्न भाग अधिकाशत एक दूसरे मे से विकसित होते गये। ऋक्सहिता मूल ग्रन्थ था। उसी के मत्रो से सामवेद-सहिता का कलेवर वना।[२] किन्तु यजुर्वेद की कृष्ण तथा शुक्ल इन दो सहिताम्रो मे पर्याप्त नई सामग्री भी है। वह उन मत्रो के रूप में है जो यज्ञीय कर्मकाण्डो के समय अध्वर्यु के लिये आवश्यक थी। कृष्ण-यजुर्वेद सज्ञा इस कारण पडी कि इसमें मूल-मत्र-भाग और उसकी गद्यात्मक व्याख्या सम्मिलित रूप से सन्निविष्ट है। शुक्ल-यजुर्वेद की वाजसनेयी सहिता मे मत्र-भाग और यजुप भाग तो है किन्तु व्याख्यात्मक गद्य-भाग 'शतपथ-ब्राह्मण' के रूप मे विल्कुल अलग सग्रहीत है। चौथी सहिता अथर्ववेद सहिता है। वह यज्ञ के निरीक्षक 'ब्रह्मा' के उपयोग के लिये थी। इस सहिता मे कुछ मत्र तो ऋक्सहिता से लिए गये तथा कुछ की प्रकृति नितान्त नवीन तथा विचित्र है। इसमे विविध अभिचार, विवाह और प्रेम सम्वन्धी गीत तथा राजा एव राष्ट्र सम्वन्धी मन्त्र भी सग्रहीत हैं। इस सहिता से सामान्य जनो की सामाजिक स्थिति एव धार्मिक विश्वासो पर अधिक प्रकाश पडता है। सहिताम्रो के वाद ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिपदो का विकास हुआ। ब्राह्मण भारोपीय गद्य साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। इनमें वैदिक यज्ञीय कर्मकाण्ड के सूक्ष्म से सूक्ष्म वातो का विवेचन है और तत्सम्वन्धी अनेक कथाम्रो के द्वारा कर्मकाण्ड का महत्व समझाया गया है एव कर्मकाण्ड की उत्पत्ति पर भी विचार किया गया है। उनका सम्वन्ध सहिताम्रो से है। ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद से सम्वन्धित है और उसमें सोम-यज्ञ और राज्याभिषेक-विधि का वर्णन

१. इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि ऋग्वेद का दशम् मडल भी अधिकाशत उत्तरवैदिक-कालीन माना गया है। अत ऋग्वेद के दशम् मडल की सामग्री का उपयोग भी यथास्थान किया गया है।

२. इस ग्रन्थ में केवल ७८ नई ऋचायें हैं।

किया गया है। पचविंश ब्राह्मण का सम्बन्ध सामवेद से है जिसमें व्रात्यस्तोम यज्ञों का वर्णन है जिनके द्वारा व्रात्य लोग आर्य-समुदाय में सम्मिलित किये जाते थे। शतपथ का सम्बन्ध शुक्ल-यजुर्वेद से है। इसमें अनेक विषय हैं और यह वैदिक युग का सबसे मूल्यवान ब्राह्मण ग्रन्थ है। गोपथ-ब्राह्मण का सम्बन्ध अथर्ववेद से है।

ब्राह्मणों के अन्तिम भाग आरण्यक हैं। उनका यह नाम इसलिये पड़ा क्योंकि उनमें वर्णित दार्शनिक एवं रहस्यात्मक विषयों के लिये अरण्य का एकान्तवास आवश्यक था। आरण्यक ब्राह्मणों और उपनिषदों के बीच की कड़ी थे। आरण्यकों में ही सर्वप्रथम यज्ञ-कर्म की प्रतीकात्मक व्याख्या प्रारम्भ हुई तथा कर्म से विद्या का अधिक महत्व समझा और घोषित किया गया। उपलब्ध आरण्यक ग्रन्थों में ऐतरेय, कौशीतकी और तैत्तरीय हैं, जो उस नाम के ब्राह्मण के ही भाग हैं। पहले दो का सम्बन्ध ऋग्वेद से और तीसरे का कृष्ण-यजुर्वेद से है। उपनिषद ब्राह्मण साहित्य के अन्तिम विकास को सूचित करते हैं और आरण्यकों का अन्तिम रूप उनमें पाया जाता है। उनकी भाषा लौकिक संस्कृत के अत्यन्त निकट है, जिससे ज्ञात होता है कि वे वैदिक युग के समाप्तिकाल की रचनायें हैं। उपनिषदों का सम्बन्ध ब्राह्मणों के प्रमुख विषय यज्ञ एवं उसकी विधि से नहीं बल्कि आत्म-विद्या से है, जिसकी सहायता से जीवात्मा संसार से मुक्त होकर विश्वात्मा अथवा ब्रह्म में लीन हो जाती है। सामवेद का छान्दोग्य और शुक्ल यजुर्वेद का बृहदा-रण्यक सबसे प्राचीन और महत्वपूर्ण उपनिषद हैं। प्रसिद्ध एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण उपनिषदों में कठ, ईश, श्वेताश्वतर, मैत्रायणीय, तैत्तरीय, मुण्डक, प्रश्न, माण्डूक्य और केन उल्लेखनीय हैं। इनमें कठ के अति-रिक्त अन्य उपनिषद बुद्ध से अधिक प्राचीन नहीं माने जाते। उत्तर-वैदिक समाज एवं संस्कृति के स्वरूप को निर्धारितकरने के लिये उपर्युक्त विविध-विषयक विशाल साहित्य का आश्रय लेना अपरिहार्य है।

भौगोलिक विस्तार

पूर्व-वैदिक युग में आर्यों की भौगोलिक परिधि अफगानिस्तान से यमुना-गंगा तक सीमित थी।[१] उनके सांस्कृतिक जीवन का केन्द्र पंजाब तथा सरस्वती का तटवर्ती प्रदेश था। किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक आर्यों की भौगोलिक सीमा में अति-शय विस्तार दिखाई देता है। दक्षिण-पूर्व की ओर अग्रसर आर्यजन गंगा की घाटी में बसने लगे थे और स्थायी जनपदों की

१. ऋ० १० ७५ ६ गंगा का एकाकी उल्लेख यहीं हुआ है।

स्थापना भी होने लगी थी। ऋग्वेद के प्रतापी भरत-जन अस्तित्वहीन हो चुके थे। पुराने पंचजनो की ख्याति का भी लोप हो चुका था।[१] इस युग मे इसे 'ध्रुव मध्यमा दिशि' नाम से अभिहित किया गया है।[२] इस प्रदेश मे निवास करने वाले जनों मे कुरु पचाल प्रमुख थे। ये सम्मिलित राष्ट्र प्रतीत होते हैं क्योंकि ब्राह्मण साहित्य मे कुरु पचाल का उल्लेख साथ-साथ हुआ है। दूसरे, प्रारम्भ मे ये दोनों एक ही नरेश द्वारा शासित होते थे।[३] ब्राह्मण ग्रन्थों मे इनकी प्रकृष्ट प्रशंसा की गई है। कुरु-पचाल के राजा राजसूय यज्ञ करते थे।[४] शीतकाल मे वे दिग्विजय करते थे तथा ग्रीष्म मे घर लौट आते थे।[५] उनकी यज्ञविधि सर्वोत्तम मानी जाती थी।[६] उपनिषत्काल तक कुरु-पचाल के ब्राह्मण एवं राजन्य अपनी प्रतिभा और विद्वत्ता के लिए विश्रुत हो गये थे। इस प्रदेश के निवासी अपने उच्चारण की शुद्धता के लिये प्रसिद्ध थे। सहिताओ एवं ब्राह्मण ग्रन्थो की रचना भी अधिकाशत कुरु-पचाल के विद्वानों द्वारा की गई।[७] कुरुक्षेत्र की सीमा का सकेत करते हुये तैत्तरीय आरण्यक मे कहा गया है कि इसके उत्तर मे तूघ्नं, दक्षिण में खाण्डव और पश्चिम मे परीण की स्थिति थी।[८] महाभारत मे कुरुक्षेत्र को सरस्वती और दृशद्वती के बीच का भूभाग माना गया है। कुरु जनपद की भौगोलिक स्थिति का सकेत करने वाले विविध प्रसंगों के समवेत अध्ययन से यह प्रतीत होता है कि स्थूलत वर्तमान थानेश्वर, दिल्ली और गगा-घाटी का ऊपरीभाग कुरु जनपद के अन्तर्गत था।[९] जैसा कि नाम से ही सकेतित है, पचाल जन के अन्तर्गत कृवि, तुर्वश, केशिन, सजय और सोमक ये पाच जन सम्मिलित

---

१. यास्क ने पचजना का अर्थ 'चत्वारो वर्णा निपादस्तुपचम' किया है। द्र० निरुक्त ३ ८

२ ऐत० ब्रा० ८ ३

३ ऐत ब्रा० ८ १४

४. शत० ब्रा० ५ ५ २ ३

५ तै० ब्रा० १ ८ ४ १—२

६ शत० ब्रा० १ ७ २ ८

७ वैदिक एज, पृ० २५३

८ तै० आर ५ १

९. राय चौधुरी, पोलिटिकल हिस्टरी आव एन्शयेन्ट इण्डिया, पृ० २२

थे।[1] पचाल जनपद के अन्तर्गत बरेली, बदायू, फर्रुखाबाद तथा पश्चिमी उत्तरप्रदेश के कुछ अन्य पडोसी जिले सम्मिलित थे।[2] कुरु जनपद की राजधानी आसन्दीवन्त थी। यही परीक्षित पुत्र जनमेजय का अभिषेक और अश्वमेध सम्पन्न हुआ।[3] कुरु-पचालो के अन्य प्रमुख नगर परिचक्रा, काम्पिल्ल और कौशाम्बी थे। कौशाम्बी तो हस्तिनापुर की बाढ से विनष्ट होने के पश्चात् निचक्षु के काल में कुरु-जनों की राजधानी भी बनी।[4] सम्भव है छान्दोग्य उपनिषद में उल्लिखित मटची के प्रकोप से उत्पन्न अकाल की स्थिति के कारण भी राजधानी का परिवर्तन हुआ हो। निचक्षु कालीन बाढ एवं तज्जन्य विनाश का सकेत हस्तिनापुर के उत्खनन से भी मिलता है।[5] ऐतरेय ब्राह्मण (८ १४) में वशो एव उशीनरों को कुरु-पचालो का पडोसी माना गया है तथा इनकी स्थिति भी मध्यदेश में स्वीकार की गई है। गोपथ ब्राह्मण में इनका उल्लेख उदीच्यों के साथ हुआ है।[6] इससे प्रकट है कि इनकी स्थिति मध्यदेश के उत्तरी भाग में कहीं थी। कुरु-पचाल, वश और उशीनर के साथ ही मत्स्य का भी उल्लेख हुआ है।[7] मत्स्य तथा उनके पडोसी शाल्व राजस्थान में वर्तमान जयपुर, भरतपुर और अलवर के प्रदेश में निवास करते थे।[8]

पूर्व की ओर काशी, कोशल और विदेह तक वैदिक सस्कृति का विस्तार हो चुका था। उपनिषदयुगीन विदेह में ब्रह्मविद्या के अनेक प्रकाण्ड पण्डित हुए। स्वय विदेह-नरेश जनक अपनी विद्वता के लिए दूर-दूर तक विख्यात थे। शतपथ ब्राह्मण में विदेघ-माथव और गोतम राहूगण द्वारा कोशल और विदेह के उपनिवेशन की महत्वपूर्ण घटना का जिस प्रकार उल्लेख हुआ है

---

१ ब्रह्म पुराण १३ ६४
२ पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ७०
३ ऐत० ब्रा० २६ ७ शत० ब्रा० १३ ५ ४ २
४ द्रष्टव्य, पार्जीटर, डाइनेस्टीज आव दि कलि एज, पृ० ५
५ ऐन्श्येन्ट इण्डिया न० १०-११, पृ० १४
६ गो० ब्रा० २,६ जिमर महोदय ने इसके आधार पर इन्हें उत्तर-पश्चिम का निवासी माना है तथा रामप्रसाद चन्दा ने वाह्लीक का।
७ कौषीतकी उपनिषद ४ १
८ पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ६६-६७

उससे प्रतीत होता है कि अपने पूर्वाभिमुख प्रसार के समय आर्यों को गगा की घाटी के दीर्घारण्यो को विदग्ध करना पडा था।[१] प्रसार की इस प्रक्रिया मे कोशल का आर्यीकरण विदेह के पूर्व सम्पन्न हुआ होगा। सदानीरा इन दोनो जनपदो के बीच सीमा थी। काशी, कोशल और विदेह के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे और किसी समय इन तीनो का एक ही पुरोहित होता था।[२] काशी का प्रथम बार उल्लेख अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा मे उपलब्ध होता है।[३] जनक का समकालीन काश्य अजातशत्रु भी दार्शनिक विवाद में विदग्ध था। मगध और अग का पूर्ण आर्यीकरण अभी नही हो सका था। यही कारण है कि अथर्ववेद मे तक्मन (ज्वर) को पूर्व मे मगध और अग की ओर जाने के लिए कहा गया है।[४] इसी प्रकार अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड मे मागधो का सम्बन्ध व्रात्यो से बताया गया है।[५] ऐतरेयारण्यक मे वग, वगध (मगध) और चेर के निवासियो को पक्षी कहा गया है जिसका साकेतिक अर्थ अनार्य प्रतीत होता है।[६] पुण्ड्र, वंग और कलिंग जैसे प्रदेशों को चतुर्थ सदी ई० पू० तक अनार्य एव अपवित्र समझा जाता था, इसीलिये बौधायन धर्मसूत्र मे इन प्रदेशो की यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिये प्रायश्चित का विधान है।[७] मगध मे वैदिक सस्कृति का प्रवेश निश्चित रूप से छठी सदी ई० पू० के कुछ पहले हो चुका था क्योंकि इस प्रदेश में जैन एव बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने अपने उपदेश मागधी या प्राकृत में दिए, जिनका विकास वैदिक सस्कृत भाषा से हुआ था। इन प्रदेशो में दीर्घकाल तक ब्राह्मण धर्म एव विचारो की दुर्बलता का कारण समुन्नत स्थानीय परम्पराओ की सशक्तता को माना जा सकता है।

१ शत० ब्रा० १ ४ १ १० इसी प्रकार महाभारत मे खाण्डव वन को जला कर हस्तिनापुर को बसाने का उल्लेख है।

२ शाखायन श्रौत सूत्र १६ २९. ५

३. द्र०, वैदिक इण्डेक्स, २ ११५

४ अथर्ववेद ५. २२ १४

५. अथर्ववेद १५ २. १-४

६ ऐतरेय आरण्यक २ १ १ इम' प्रजा '''वगावगधाश्चेरपादा अकर्म-भीतो विविश्र '

७. बौधायन धर्मसूत्र १ १ २ १४

दक्षिण के प्रसग में ऐतरेय ब्राह्मण में सत्वतो का उल्लेख है। सत्वत लोग उत्तर वैदिक युग मे मध्यदेश के दक्षिण में निवास करते थे। महाभारत मे पचाल की दक्षिणी सीमा चर्मण्वती (चम्बल) तक बताई गई है।[१] अत सम्भावना इस बात की है कि सत्वत लोग चर्मण्वती के दक्षिण मे निवास करते थे।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में इन लोगों में भोज्य शासन प्रणाली के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। दक्षिण में आर्यो का परिचय विदर्भ से भी था ऐतरेय ब्राह्मण मे भीम वैदर्भि का उल्लेख है जिन्होने ऋषि नारद और पर्वत से उपदेश प्राप्त किया।[३] प्रश्नोपनिषद मे भार्गव वैदर्भिका वर्णन है जो पैप्पलाद ऋषि के पास ब्रह्म ज्ञान के लिए गये थे।[४] उनके नाम से स्पष्ट है कि वे भृगुवशी थे तथा विदर्भ के निवासी थे। बृहदारण्यक उपनिषद मे विदर्भ के कौण्डिनेय को प्रारम्भिक उपदेशकों में स्थान दिया गया है।[५] जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में भी विदर्भ का उल्लेख है।[६] विदर्भ के अन्तर्गत वर्तमान बरार और उसके समीप स्थित वर्धा और वैन गगा के बीच का भूभाग था। विदर्भ से आर्यो का घनिष्ट परिचय तथा इस प्रदेश का वैदिक ऋषियों एवं ब्रह्म-विद्या आदि के साथ उल्लेख इस बात का सकेतक है कि उत्तर-वैदिक युग मे आर्यो का प्रवेश न्यूनाधिक रूप से विन्ध्य के दक्षिण में भी हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण (३ २.१ २) मे नाड नामक राजा का विरुद 'नैषधि' बताया गया है। सम्भवत वह नैषध देश का निवासी था। नैषध की स्थिति भी

---

१ महाभारत १ १३८. ७४ दक्षिणाश्चापि पाञ्चालात् यावच् चर्मण्वती नदी।

२ पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ९०।

३ ऐत० ब्रा० ७ ३४

४. प्रश्नोपनिषद १ १

५ बृहदारण्यक उपनिषद २ ५ २२, ४ ५ २८

६ द्रष्टव्य, वैदिक इन्डेक्स २ ४४० प्राचीन अनुश्रुतियो में दक्षिण की ओर जाने वाले ऋषियो मे अगस्त्य अग्रणी माने गये हैं। ऋग्वेद मे अगस्त्य और लोपामुद्रा का वार्तालाप है तथा महाभारत में अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा को विदर्भ राज की कन्या कहा गया है। यदि यह कथानक सत्य है तो मानना पडेगा कि ऋग्वेदिक युग मे ही आर्यो के कुछ समूहो का प्रवेश विदर्भ जैसे सुदूरस्थ प्रदेशों में हो गया था।

उससे प्रतीत होता है कि अपने पूर्वाभिमुख प्रसार के समय आर्यों को गंगा की घाटी के दीर्घारण्यों को विदग्ध करना पडा था।[१] प्रसार की इस प्रक्रिया मे कोशल का आर्यीकरण विदेह के पूर्व सम्पन्न हुआ होगा। सदानीरा इन दोनो जनपदो के बीच सीमा थी। काशी, कोशल और विदेह के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण थे और किसी समय इन तीनो का एक ही पुरोहित होता था।[२] काशी का प्रथम वार उल्लेख अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा मे उपलब्ध होता है।[३] जनक का समकालीन काश्य अजातशत्रु भी दार्शनिक विवाद में विदग्ध था। मगध और अग का पूर्ण आर्यीकरण अभी नही हो सका था। यही कारण है कि अथर्ववेद मे तक्मन (ज्वर) को पूर्व मे मगध और अग की ओर जाने के लिए कहा गया है।[४] इसी प्रकार अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड में मागधो का सम्बन्ध व्रात्यो से बताया गया है।[५] ऐतरेयारण्यक मे वग, वगध (मगध) और चेर के निवासियो को पक्षी कहा गया है जिसका साकेतिक अर्थ अनार्य प्रतीत होता है।[६] पुण्ड्र, वंग और कलिग जैसे प्रदेशो को चतुर्थ सदी ई० पू० तक अनार्य एव अपवित्र समझा जाता था, इसीलिये बौधायन धर्मसूत्र मे इन प्रदेशो की यात्रा करने वाले व्यक्ति के लिये प्रायश्चित का विधान है।[७] मगध मे वैदिक संस्कृति का प्रवेश निश्चित रूप से छठी सदी ई० पू० के कुछ पहले हो चुका था क्योंकि इस प्रदेश में जैन एव बौद्ध धर्म के प्रवर्तकों ने अपने उपदेश मागधी या प्राकृत मे दिए, जिनका विकास वैदिक संस्कृत भाषा से हुआ था। इन प्रदेशो में दीर्घकाल तक ब्राह्मण धर्म एव विचारो की दुर्बलता का कारण समुन्नत स्थानीय परम्पराओं की सशक्तता को माना जा सकता है।

---

१. शत० ब्रा० १ ४ १ १० इसी प्रकार महाभारत मे खाण्डव वन को जला कर हस्तिनापुर को बसाने का उल्लेख है।

२ शाखायन श्रौत सूत्र १६ २९. ५

३. द्र०, वैदिक इण्डेक्स, २ ११५

४ अथर्ववेद ५. २२ १४

५. अथर्ववेद १५. २ १–४

६. ऐतरेय आरण्यक २ १. १ इम प्रजा ' 'वगावगधाश्चेरपादा अकर्मभीतो विविश्र '

७. बौधायन धर्मसूत्र १ १ २ १४

दक्षिण के प्रसग में ऐतरेय ब्राह्मण में सत्वतों का उल्लेख है। सत्वत लोग उत्तर वैदिक युग मे मध्यदेश के दक्षिण मे निवास करते थे। महाभारत मे पचाल की दक्षिणी सीमा चर्मण्वती (चम्बल) तक बताई गई है।[१] अत सम्भावना इस बात की है कि सत्वत लोग चर्मण्वती के दक्षिण मे निवास करते थे।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में इन लोगों में भोज्य शासन प्रणाली के प्रचलन का उल्लेख मिलता है। दक्षिण मे आर्यो का परिचय विदर्भ से भी था ऐतरेय ब्राह्मण मे भीम वैदर्भि का उल्लेख है जिन्होने ऋषि नारद और पर्वत से उपदेश प्राप्त किया।[३] प्रश्नोपनिषद में भार्गव वैदर्भिका वर्णन है जो पैप्पलाद ऋषि के पास ब्रह्म ज्ञान के लिए गये थे।[४] उनके नाम से स्पष्ट है कि वे भृगुवशी थे तथा विदर्भ के निवासी थे। बृहदारण्यक उपनिषद मे विदर्भ के कौण्डिनेय को प्रारम्भिक उपदेशकों में स्थान दिया गया है।[५] जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में भी विदर्भ का उल्लेख है।[६] विदर्भ के अन्तर्गत वर्तमान बरार और उसके समीप स्थित वर्धा और वैन गगा के बीच का भूभाग था। विदर्भ से आर्यो का घनिष्ट परिचय तथा इस प्रदेश का वैदिक ऋषियों एव ब्रह्म-विद्या आदि के साथ उल्लेख इस बात का सकेतक है कि उत्तर-वैदिक युग में आर्यो का प्रवेश न्यूनाधिक रूप से विन्ध्य के दक्षिण मे भी हो चुका था। शतपथ ब्राह्मण (३ २.१ २) में नाड नामक राजा का विरुद 'नैषधि' बताया गया है। सम्भवत वह नैषध देश का निवासी था। नैषध की स्थिति भी

---

१ महाभारत १ १३८.७४ दक्षिणाश्चापि पान्चालात् यावच् चर्मण्वती नदी।

२ पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ६०।

३ ऐत० ब्रा० ७ ३४

४ प्रश्नोपनिषद १ १

५ बृहदारण्यक उपनिषद २ ५ २२, ४ ५ २८

६ द्रष्टव्य, वैदिक इन्डेक्स २ ४४० प्राचीन अनुश्रुतियो मे दक्षिण की ओर जाने वाले ऋषियों मे अगस्त्य अग्रणी माने गये हैं। ऋग्वेद मे अगस्त्य और लोपामुद्रा का वार्तालाप है तथा महाभारत में अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा को विदर्भ राज की कन्या कहा गया है। यदि यह कथानक सत्य है तो मानना पडेगा कि ऋग्वेदिक युग में ही आर्यो के कुछ समूहो का प्रवेश विदर्भ जैसे सुदूरस्थ प्रदेशों मे हो गया था।

विदर्भ के समीप ही रही होगी । ऐतरेय ब्राह्मण मे अन्यत्र विन्ध्य पर्वतमाला तथा उसके दक्षिण मे बसने वाली आर्येतर जातियो का भी उल्लेख है ।[१] इस प्रसग मे यह बताया गया है कि विश्वामित्र के जिन पुत्रो ने शुन.शेप को अपना बडा भाई मानने से इनकार किया उन पचास पुत्रो को पिता के शाप के कारण आन्ध्र, मूतिब, शबर तथा पुलिन्द आदि म्लेच्छ जातियो में परिगणित होना पडा । आन्ध्रों की तत्कालीन भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में निश्चायक ढग से कुछ कहना कठिन प्रतीत होता है । डा० स्मिथ का यह विश्वास है कि आन्ध्र लोग सुदूर अतीत से ही गोदावरी और कृष्णा के मुहाने के समीप निवास करते थे । पी० टी० श्रीनिवास आयगर ने आन्ध्रो को मूलतः विन्ध्य-प्रदेश मे निवास करनेवाली जाति माना है जो परवर्ती युगो मे गोदावरी और कृष्णा की घाटी मे जा बसी ।[२] उनका यह मत अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है क्योकि ऐतरेय ब्राह्मण मे शबर पुलिन्द आदि जिन जातियो के साथ आन्ध्रो का उल्लेख हुआ है वे मध्य प्रदेश में रहने वाली जातियाँ हैं । मत्स्य और वायु पुराण मे शबर और पुलिन्दो को 'दक्षिणा-पथ वासिन' कहा गया है ।[३] इन लोगो की स्थिति आधुनिक ग्वालियर, रायपुर, सम्बलपुर और गजाम आदि स्थानों के आस-पास रही होगी ।[४] पुलिन्द लोगो की राजधानी दशार्ण के दक्षिण पूर्व मे स्थित थी ।[५] इनका निवास वर्तमान बुन्देलखण्ड मे दसान नदी के तटवर्ती प्रदेश में था ।[६] मूतिबों की वास्तविक स्थिति के सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है । शाखायन श्रौतसूत्र में इन्हें मूवीय कहा गया है ।[७] नाम-साम्य के आधार पर डा० रायचौधुरी इन्हें मुसी नदी के समीप का निवासी मानते हैं ।[८] प्रमाणो के अभाव के कारण उन्होने इस सम्भावना को स्वय सन्दिग्ध माना है ।

---

१ ऐत० ब्रा० ७ १८
२ इण्डियन एण्टिक्वेरी, पृ० २७६-७८ (१९१३)
३. मत्स्य, ११४ ४६–४८, वायु ४५ १२६
४. जे० ए० एस० बी, पृ० २८९ (१८९०) इण्डियन एण्टिक्वेरी, पृ० २८३ (१८७९)
५. महाभारत २ ५ १०
६. जे० ए० एस० बी० पृ० २५३ (१८९५)
७ शाखा० श्रौ० सू० १५.२६, ६
८. पोलिटिकल हिस्टरी आफ एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ९४

उत्तर-वैदिक युग तक परिस्थितियो में परिवर्तन के कारण हम आर्थिक विकास में नवीन गति और दिशा पाते हैं। आर्य लोग अब स्थायी ग्रामों एव जनपदों में रहने लगे थे।[१] विजित उर्वर प्रदेशो में ग्राम की स्थापना होने लगी थी। विजेता के रूप में विस्तृत उर्वर भूमि पर्याप्त रूप मे उपलब्ध हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में आर्थिक विकास का क्रम स्वभावत तीव्रतर हुआ। ग्राम आर्थिक व्यवस्था के केन्द्र बने तथा ग्रामीण आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अनेक व्यवसायो और उद्योगो का विकास हुआ। दक्षिण-पूर्व की ओर गतिशील आर्यों को वनो को साफ करके अपने ग्रामो की स्थापना करनी पडी थी। इन्हीं वनो को साफ करके भूमि को कृषि योग्य बनाना पडता था। उत्तर-वैदिक साहित्य से उपलब्ध प्रमाणो से स्पष्ट होता है कि क्षेत्र और अरण्य आस-पास हुआ करते थे। शतपथ ब्राह्मण में दीर्घारण्यो का उल्लेख हुआ है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण में पूर्वी भारत के वनो का वर्णन है[३] जिनका धीरे-धीरे विनाश किया जा रहा था। अनेक प्रसगो से ऐसा प्रतीत है कि छोटे-छोटे ग्राम बडे ग्रामो में तथा बडे ग्राम नगरो में विकसित हो रहे थे। यजुर्वेद सहिता तथा ब्राह्मणो मे महापुरो का उल्लेख मिलता है।[४]

उत्तर वैदिक ग्राम

भूमि

ग्राम के अन्तर्गत निवास भूमि के अतिरिक्त कृषि-योग्य भूमि तथा गोचर भूमि का सन्निवेश था भूमि के स्वामित्व के सम्बन्ध में अनेक विद्वानो ने विस्तरश विचार किया है।[५] ऋग्वेद के ही अनेक मत्रो से निवास-भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व की पुष्टि होती है।[६] इस प्रसग में गृहपति और गृहपत्नी

---

१ शत० ब्रा० ४ १ ५ २-७ में शर्यात मानव को अपने ग्राम के साथ घूमने वाला बताया गया है। इससे प्रकट होता हैं कि अपवादस्वरूप कुछ जन-समूह अब भी यायावर जीवन व्यतीत कर रहे थे।

२ शत० ब्रा० १३ ३ ७ ११

३. ऐत० ब्रा० ३ ४४

४ तै० स० ६ २ ३, १, काठ० सं० २४ १०, मैत्रा० स० ३. ८ १, ऐत० ब्रा० १ २३ २, गो० ब्रा० २ २ ७।

५ विस्तृत अध्ययन के लिए द्रष्टव्य—मेन, हिन्दू ला, वेडेन पावेल, इण्डियन विलेज कम्यूनिटी।

६ ऋ० ८. ५४ तथा ५५।

शब्द भी उल्लेखनीय हैं। छान्दोग्य उपनिषद में तो स्पष्टतः क्षेत्र एवं आयतन को व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप मे परिगणित किया गया है।[1] मेन महोदय ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भूमि के रूप में स्थावर सम्पत्ति पर पहले पचायतो का सामूहिक अधिकार होता था तथा बाद में इन सामूहिक अधिकारो मे से पृथक् पृथक अधिकारों की उत्पत्ति हुई। पहली अवस्था सामुदायिक स्वामित्व की थी और इसके पश्चात् वैयक्तिक स्वामित्व का जन्म हुआ।[2] बेडेन पावेल महोदय ने भूसम्पत्ति की ऐतिहासिक विवेचना करते करते हुए सतर्क सिद्ध किया है कि वैदिक युग मे सामूहिक स्वामित्व का सूचक कोई प्रमाण नही मिलता।[3] वैदिक साहित्य मे भूमि-सम्पत्ति पर वैयक्तिक स्वामित्व के सूचक अनेक प्रबल प्रमाण उपलब्ध हैं। कृषि योग्य भूमि पर भी ऋग्वेदिक युग से ही वैयक्तिक स्वामित्व स्वीकृत हो चुका था। यह बात ऋग्वेद मे क्षेत्र पति, क्षेत्र पत्नी, क्षेत्र-जेषा, क्षेत्रजय आदि शब्दों के अनेकश उल्लेख से स्पष्ट है।[4] ऋक्सहिता के एक प्रसग के अनुसार अपाला ने इन्द्र से तीन वर मागे थे—मेरे पिता का सिर गंजा है, उसमे बाल पैदा करो, उसका खेत ऊसर है उसमे अन्न पैदा करो और मेरा त्वग्दोष दूर करो।[5] परवर्ती सहिताओं मे क्षेत्र-विजय के अनेक उल्लेख मिलते हैं।[6] तैत्तिरीय सहिता मे कहा गया है कि पडोसी के साथ भूमि सम्बन्धी कलह होने पर इन्द्र और अग्नि को आहुति देनी चाहिए।[7] विचारार्ह है कि अनार्यों के विशाल भूभागो के अपहरण तथा अनार्य नगरों एव अरण्यो के विध्वश की प्रक्रिया मे आर्यों ने इन्ही देवताओं से प्रेरणा एव साहाय्य के लिए निवेदन किया। वैदिक इण्डेक्स के लेखको ने यह दावा किया है कि वैदिक वाङ्मय मे भूमि पर सामूहिक स्वामित्व का कोई उल्लेख नही है तथा

१ छा० उप० ७ २४.२।

२ हिन्दू ला, पृ० ३१७–१९।

३ इण्डियन विलेज कम्यूनिटी (१८९९)

४ ऋ० १ ३३ १५, ४ ५७ १–२, ७ ५५ १०, १० ६६ १–३, ६ २० १ इत्यादि।

५ ऋ० ८.९१ ५–६, इमानि त्रीणि विष्टपा तानीन्द्र विरोहय, सिरस्ततो-र्वरामादिद म उपोदरे।

६. तै० स० ३ २ ८.५, काठ० स० ५.२, मै० स० ४ १२.३

७, तै० स० १.२.१

इसके विपरीत वैयक्तिक स्वामित्व पूर्णतया प्रमाणित है।[१] यह मत अधिकाशत सत्य होते हुये भी निरपवाद नही है क्योंकि निवास-भूमि तथा कृषि-योग्य भूमि पर वैयक्तित स्वामित्व अवश्य स्थापित हो चुका था किन्तु गोचर भूमि पर नहीं।[२] व्यक्तिगत गोचर-भूमि का उल्लेख सर्वथा अनुपलब्ध है। ऋ० १० १९ ३-४ में ग्राम के सभी पशुओं का एक ही व्यक्ति के सरक्षण में साथ साथ चरने का उल्लेख है। धर्मसूत्रो तथा अर्थशास्त्र मे भी गोचर भूमि को ग्रामवासियो के सामूहिक उपयोग की वस्तु माना गया है। विशेषत. उत्तर-वैदिक युग मे, जब कि अरण्यानी से आच्छन्न विस्तृत भूभाग खाली पडे थे, गोचर भूमि को अधिकृत करने के व्यक्तिगत प्रयास का प्रश्न नही उठता।

ब्राह्मण साहित्य मे यत्र-तत्र भू-सम्पत्ति के लेन-देन का विरोध सकेतित है किन्तु अनेक प्रसगों में स्पष्ट रूप से यज्ञ का सम्पादन करनेवाले पुरोहितो को दान में भूमि देने का वर्णन हुआ है।[३] शतपत ब्राह्मण में गार्हपत्य अग्नि के प्रसग में इस बात का सकेत है कि क्षत्रिय लोग राजा द्वारा प्रदत्त भूमि का विभाजन पारस्परिक समझौते के आधार पर करते थे।[४] ऋक्सहिता (१० ३४) में जुआरी द्वारा द्यूत में सब धन दाव पर लगा देने का उल्लेख है जिसमें उसका घर भी शामिल है। इन प्रमाणों की पृष्ठभूमि में भूमि के हस्तान्तरण का प्रचलन सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद में क्षेत्र और आयतन को व्यक्तिगत सम्पत्ति माना गया है जिनका हस्तान्तरण पूर्णत सम्भव था।[५]

वैदिक साहित्य में राज्य की सम्पूर्ण भूमि पर राजा का अधिकार सूचित करनेवाला कोई प्रमाण नहीं है। पूर्ववैदिक काल में राजा को जनता से केवल कर प्राप्त होता था।[६] वह ग्राम की भूमि का

भूमि पर राजकीय प्रभुत्व अधिकारी नहीं था। ग्राम की भू-सम्पत्ति पर ग्राम वासियों का ही अधिकार था। अथर्ववेद (४ २२.२) में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वह राजा को ग्राम में भाग दिलाये।

---

१ वैदिक इण्डेक्स १ १००

२ एन० सी० वन्द्योपाध्याय, इकोनोमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ११४।

३ शत० ब्रा० १३ ६ २ १८,१३ ७.१ १३ और १५।

४. शत० ब्रा० ७. १ १ ४।

५. छा० उप० ७.२४ २।

६. ऋ० १०.१७३।

इससे स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग के पूर्वार्द्ध में भी ग्राम की सम्पूर्ण भूमि राजा के प्रभुत्व के अन्तर्गत नही मानी जाती थी। सम्भवतः ग्रामवासियों द्वारा कुछ भूमि राजा एव राजकर्मचारियो के भरण-पोषण के लिए दी जाती थी। यदि राजा सम्पूर्ण भू सम्पत्ति का स्वामी होता तो फिर इस प्रकार की प्रार्थना की कोई आवश्यकता नही थी। सत्य तो यह है कि वैदिक युगमें भूमि सम्पत्ति विस्तृत थी तथा उसकी तुलना में जनसख्या कम थी। जिस व्यक्ति ने भूमि को साफ किया तथा उस पर कृषिकर्म प्रारम्भ किया वही उसका स्वामी बना। राजकीय विधि-नियमो के विकास के अभाव मे इस प्रकार की व्यक्तिगत भूमि पर राज्य द्वारा हस्तक्षेप का कोई प्रश्न नही उठता। इतना अवश्य था कि कालक्रम से राजाओ के अधिकार में भी विस्तृत भूभाग आ गये थे। उपनिषद युग तक ग्रामदान का उल्लेख मिलने लगता है। छान्दोग्य उपनिषद से ज्ञात होता है कि राजा जनश्रुति पौत्रायण ने रैक्व नामक व्यक्ति जो महावृष में 'रैक्वपर्ण' नामक ग्राम दान में दिया।[२]

ग्राम्य-जीवन

उत्तर-वैदिक युगीन ग्राम आत्मनिर्भर इकाई के रूप में संगठित थे।[३] इनके निवासी रक्त-सम्बन्ध, समान रीति-रिवाज, समान उद्देश्य एव समस्याओ के कारण परस्पर सामुदायिकसूत्र में आबद्ध थे। सहयोग एव सहानुभूति के बिना ग्राम्य-जीवन की सुरक्षा, शान्ति एव स्वपर्याप्तता सम्भव नही थी। ग्राम की आन्तरिक व्यवस्था ग्राम सभाओ द्वारा की जाती थी। ग्रामणी ग्राम का प्रधान होता था। राजसूय के प्रसग में रत्निन-सूची के अन्तर्गत ग्रामणी का भी उल्लेख हुआ है जिससे उसका राजनैतिक महत्त्व प्रकट होता है। ग्राम्यवादिन गाँव के झगडो को तय करता था। इस प्रकार वैदिक ग्राम स्वशासित एव आन्तरिक मामलो में पूर्णत स्वतन्त्र थे। ग्राम्य-जीवन प्राय सुखी और सम्पन्न था। आवश्यकता की विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन ग्राम में ही हो जाता था। गाँवो में कृषक, पशुपालक तथा विविधशिल्पो को धारण करनेवाले लोग रहते थे जो वस्तु-विनमय के द्वारा एक दूसरे की आवश्यकता की पूर्ति करते थे। पूर्व-वैदिक युग की भाँति ही

१. छा० उप० ४ २ ४।
२ छा० उप० ४ २, ४
३. इण्डियन विलेज कम्यूनिटी, पृ० ६

बहुसंख्यक पशु इस युग मे समृद्धि के सूचक थे। पशुपालन और कृषि से भोजन की सामग्रियाँ प्रभूत मात्रा में प्राप्त हो जाती थी। यजुर्वेद के एक प्रसगसे तत्कालीन समाज की आर्थिक आत्मनिर्भरता एवं समृद्धि का आभास मिलता है।[१] इस प्रसग में यह कहा गया है कि अन्न से भडार भरे हैं, पशुओ से गोशालाएँ परिपूर्ण हैं दूध दही आदि रस-पदार्थो का कोई अभाव नही है। सभी अभीप्सित सुख सुलभ हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में परीक्षित के राज्य मे रहने वाले लोगो के सुख एवं समृद्धि का उल्लेख हुआ है।[२] इन साहित्यिक उल्लेखो से तथा यज्ञों में व्यय होने वाले प्रभूत धन-धान्यो से इस बात की पुष्टि होती है कि उत्तर-वैदिक युग आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न और समृद्ध था। गगा-घाटी के उर्वर खेतो तथा चरागाहों ने आर्यों के अन्न-धन एवं पशु-धन, दोनों को अधिक समृद्धि प्रदान किया। किन्तु आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर होते हुये भी उत्तर वैदिक समाज भौतिक प्रगति की दृष्टि से काफी पीछे था। आर्थिक जीवन मे कृषि और पशुपालन की प्रमुखता के कारण नागरिक सभ्यता का समुचित विकास नही हो सका। व्यापार और वाणिज्य की ओर भी लोगो का ध्यान यथेष्ट रूप से आकर्षित नही हुआ जिसके परिणाम स्वरूप सुख, विलास एवं ऐश्वर्य के उत्तम साधनों का निर्माण नही हो पाया। साहित्यिक विवरण तथा हस्तिनापुर रूरड आदि स्थानों से उपलब्ध पुरातात्त्विक सकेतों से उत्तर-वैदिक आर्यों की सस्कृति का जो स्वरूप मिलता है उससे उनकी भौतिक हीनता द्योतित होती है।

छठी शताब्दी ई०पू० तक ग्रामीण और आरण्यक वैदिक सभ्यता अनेकत्र नगरवासिनी हो गई थी।[३] व्यापार के सुदूर-विस्तृत नगरो का विकासस्थल एव जल पथो पर यात्रा करने वाले सार्थवाहो के उद्यम ने इन नगरों को समृद्धि प्रदान की थी।[४] नागरिक वाणिज्य एव व्यवसाय श्रेणियों में सगठित थे और इन श्रेणियो के

१. शुक्ल यजुर्वेद ३ ४३

२ अथर्व० २० १२७ ७-१०

३ द्रष्टव्य—कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, जिल्द १, पृ० १८९, इकोनौमिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐन्शयेन्ट इण्डिया, जिल्द १, भाग २, ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० ३१४–१५।

४ व्यापार पथों एव सार्थवाहों पर, द्रष्टव्य—राइज डेविड्स, बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १०३-१०५, मोतीचन्द, सार्थवाह।

प्रधान श्रेष्ठी समाज मे तथा राजभवन मे प्रतिष्ठा प्राप्त करते थे।[१] बुद्ध के युग मे भारतीय सस्कृति द्रव्य के युग मे अवतीर्ण हो रही थी। यह श्रमणो का ही नही श्रेष्ठियो का युग था। चम्पा के मेण्डक, श्रावस्ती के अनाथ-पिण्डक और कौशाम्बी के घोपक इन धनाढ्य श्रेष्ठियो के कुछ ज्वलन्त उदाहरण हैं। बौद्ध युग में नागरिक जीवन का यह सुविकसित स्वरूप आकस्मिक नही हो सकता। नगरो के विकास की प्रक्रिया निश्चित रूप से उत्तर वैदिक युग मे ही प्रारम्भ हो चुकी होगी। जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण में जानश्रुतेय को नगरिन (नगर-वासी) कहा गया है।[२] इसके अतिरिक्त उत्तर-वैदिक साहित्य मे काम्पील[३], परिचक्रा[४], कौशाम्बी[५], अयोध्या[६] आदि नगरो का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में नगर-रक्षक परिखा का भी वर्णन है।[७] वैदिक साहित्य की धार्मिक प्रकृति के कारण तत्कालीन-नगर व्यवस्था एव निर्माण पद्धति के विषय मे विशेष सूचना नहीं मिलती किन्तु पुरातात्विक प्रमाणो से यह सकेतिक है कि इस युग मे गगा की घाटी-में नगरो के अभ्युदय का जो इतिहास प्रारम्भ हुआ उसके निर्माण में सैन्धव परम्पराओ का महत्वपूर्ण योग था। कौशाम्वी की निर्माण-पद्धति पर हरप्पा परम्पराओ का प्रभाव स्पष्टत दृष्ट है।[८] कौशाम्वी मे नगर-रक्षक प्राचीर तथा मेहरावो का निर्माण प्रारम्भिक स्तरों मे पूर्णत हड़प्पा-पद्धति पर हुआ है।

ऋग्वेद तथा जेन्द-अवेस्ता के साक्ष्य का समवेत अध्ययन करने से यह स्पष्ट होता है कि हिन्द-इरानी युग में ही खेती आर्यो का महत्वपूर्ण व्यवसाय

---

१ श्रेणियो पर द्रष्टव्य मजुमदार, कारपोरेट लाइफ इन ऐन्शयेन्ट इण्डिया।

२ जै० उप० ब्रा० ३ ४० २

३ तैत्तिरीय सहिता, ७ ४ १९, मैत्रायणी सहिता, ३ १२ २०

४ शत० ब्र० १३ ५ ४ ७

५. ऐत० ब्रा० ८ १४ शत० ब्रा० १२ २ २ १३

६ ऐत० ब्रा० ७ ३ १

७ शत० ब्रा० ७ १ १ १३

८ एक्सकेवेसन्स ऐट कौशाम्वी, पृ० १४

बन चुका था।[1] किन्तु पूर्व-वैदिक युग मे हम कृषि का महत्व पशुपालन की अपेक्षा गौण पाते हैं। इसका प्रधान कारण ऋग्वैदिक आर्यों का अव्यवस्थित एवं अटनशील जीवन था। उन्हें कृषि के लिए ऐसी सुविधाएँ प्राप्त

कृषि

नही थी जो उत्तर वैदिक युग में स्थायी जीवन प्रारम्भ करने के पश्चात् मिली। उत्तर-वैदिक युग तक समाज में कृषि का महत्व बढने लगा था जो स्थायी ग्रामीण सभ्यता के लिये सर्वथा स्वाभाविक था। कृषि के द्वारा उत्पन्न अन्न को ही लोग सम्पूर्ण जगत का पालक मानने लगे थे। तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार 'अन्न ही ब्रह्म है। अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं और अन्न से ही सबका जीवन चलता है। विनष्ट होकर सभी अन्न में मिल जाते हैं तथा अन्न में ही एकरूपता प्राप्त करते हैं।[2] उपनिषदो में अधिक अन्न उत्पन्न करने का सन्देश (अन्न बहु कुर्वीत) सर्वप्रथम सुनाई देता है।

पुरोहितो तथा युद्धकर्मा राजन्यो को छोड सभी लोग कृषि-कर्म से योग देते थे। खेती मे अधिकाशत वैश्य लोग प्रवृत्त थे इसीलिए अष्ट्रा वैश्यो का चिह्न बतलाया गया है।[3] कृषि-कार्य मे शूद्रो के श्रम का भी पर्याप्त उपयोग होता था। ये शूद्र सम्पन्न एव सम्भ्रान्त लोगो की भूमि पर काम करते थे तथा यदा कदा भूमि सहित दान में भी दे दिये जाते थे।[4] सम्भव है कि कुछ धनी शूद्र व्यक्तिगत भूमि पर भी कृषि कर्म करते रहे हों। बेडेन पावेल महोदय की यह कल्पना कि वैदिक समाज मे कृषि-कर्म अनार्य श्रमजीवियों द्वारा होता था[5], सत्याश मात्र प्रतीत होती है क्योंकि, जैसा कि देखा जा

१ कृषि का हिन्द-ईरानी युग से ही प्रचलित होना ऋक्सहिता के 'यवम् कृषि' और अवेस्ता के 'यवो करेश' की समानता से प्रकट होता है। ऋग्वेद १० ३४ १३ में कृषि-कर्म की महत्ता का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

२. तै० उप० ३ ३

३. काठकसहिता ३७ १

४ द्राह्यायन श्रौत सूत्र—'सहपुरुषा च दीयते'। कात्यायन श्रौत सूत्र २२ १० में उल्लिखित 'भूमिशूद्र वर्जनम्' भी आशिक रूप से इस प्रथा के प्रचलन का सकेतक है।

५ इण्डियन विलेज कम्यूनिटीज, पृ० १८०

चुका है, हिन्द-ईरानी युग से ही आर्यों मे कृषि-कर्म की स्वस्थ परम्परा थी। ऋग्वैदिक युग मे भी कृषि कर्म विकासोन्मुख था तथा कृषक-जीवन समादृत। इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि वैदिक आर्यों के प्रवेश के पूर्व उत्तरी भारत मे जो जातियाँ रहती थी उनमे भी कृषि-कर्म का सन्तोषजनक विकास हुआ था। उन्होने भी अपने अनुभव और ज्ञान के द्वारा उत्तर-वैदिक युगीन कृषक जीवन को समृद्ध किया। सिन्धु प्रदेश के उत्खनन मे गेहूँ के जो नमूने उपलब्ध हुए हैं वे जगली नही हो सकते। यहाँ की विशाल जनसख्या के पोषण के लिए पर्याप्त अन्न की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति समुन्नत कृषि कर्म के बिना सम्भव नही थी। यहाँ की उर्वर भूमि तथा वर्षा की प्रचुरता निश्चय ही उत्पादन की वृद्धि मे सहायक हुई होगी। कृषि-कर्म के निमित्त यहाँ के निवासी हल का प्रयोग करते थे या नही, यह प्राय अनिश्चित है क्योंकि उत्खनन से यहाँ इस प्रकार के किसी उपकरण का अवशेष नही प्राप्त हुआ है। सम्भव है काष्ठ निर्मित होने के कारण काल प्रवाह मे वे नष्ट हो गये हो। तत्कालीन सुमेर मे कृषि कर्म हल और बैल की सहायता से ही होता था। हम जानते है कि सुमेरियन एव सैन्धव सस्कृति के निर्माताओं क भौतिक जीवन में बडी समानता थी। ऐसी स्थिति मे सैन्धव जन कृषि-कार्य के लिये हल और बैल का प्रयोग करतें होगे, यही अनुमान अधिक सम्भाव्य प्रतीत होता है। जैसा कि पीछे बताया जा चुका है, गगा घाटी के निषाद भौतिक दृष्टि से अविकसित एवं हल के उपयोग से अपरिचित होते हुए भी आर्यों के आगमन के पूर्व ही खुरी या कुदाल से भूमि को खोद कर 'झूम' प्रणाली से खेती करने लगे थे।

अवेस्ता में खेती के लिए हल-बैल के प्रयोग का उल्लेख है तथा ऋक्-सहितामे भी इस बात को सूचित करने वाले प्रसग पर्याप्त है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में मेधावी लोगो द्वारा हल चलाने का उल्लेख है।[१] एक अन्य मन्त्र में कहा गया हैं कि अश्विन देवताओं ने मनु को खेती करना तथा हल चलाना सिखाया।[२] इस ग्रन्थ में बैलो द्वारा खीचे जाने वाले हल का भी उल्लेख हुआ है।[३] सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में हल का साधारण नाम

---

१. ऋ० १०१. ४

२. ऋ० १२७ २१

३. ऋ० ६ २०. १६

लागल अथवा सीर मिलता है। इसके अगले नुकीले भाग को फाल कहते थे जो प्राय नुकीला और तीक्ष्ण धार वाला होता था। हल की मूठ सम्भवत लकडी की होती थी। अथर्ववेद के एक मन्त्र से इसके चिकने होने का आभास मिलता है।[१] हल में एक लम्बा मोटा बास बँधा होता था जिसे 'ईषा' कहते थे। 'ईषा' के ऊपर जुआ (युग) रखा जाता था। हल खीचने वाले बैलो की सख्या छ, आठ, बारह और चौबीस तक होती थी[२], जिससे हलो के प्राय बृहदाकार और भारी होने का अनुमान होता है।

कृषि की सफलता के लिए उत्तर-वैदिक समाज में इन्द्र, पूषन, शुन सीर सीता आदि अनेक देवी देवताओ की स्तुति की जाती थी। बैलो को हल में जोतने, बीजवपन करने तथा नवान्न को प्रथम बार ग्रहण करने के लिये अनुष्ठानो की व्यवस्था थी। किसान फसल के पक जाने पर उसका सग्रह करते समय देवताओ के प्रति श्रद्धा स्वरूप कुछ अ श वही छोड देता था। कृपि से सम्बन्धित इन धार्मिक अनुष्ठानो के पीछे दो भावनायें थीं। प्रथमत कृषक प्रकृति के प्रकोप से फसल की रक्षा के लिये देवताओ को प्रसन्न करने का प्रयास करता था। दूसरे धान्य सचय के समय कृतज्ञता प्रकाशन के लिये वह देवताओ को बलि देता था। वस्तुत आज की ही भाँति उस युग में भी भारतीय कृषि कर्म प्राकृतिक सकटो से ग्रस्त रहता था। अनावृष्टि से खेतो की क्षति होती थी अत अनेकश वृष्टि के लिये प्रार्थना की गई है।[३] इसके अतिरिक्त अतिवृष्टि एव विद्युत्पात से भी खेतो को हानि पहुँचती थी। इन दैवी प्रकोपो से मुक्ति के लिये अथर्ववेद में तन्त्र मन्त्र का उल्लेख हुआ है।[४] उत्तर वैदिक युग में गगा की घाटी मे बसे कृषको के लिये बाढ भी एक भीषण समस्या रही होगी। पुराणो से ज्ञात होता है कि निचक्षु के समय मे गगा की भीषण बाढ़ से हस्तिनापुर नष्ट-भ्रष्ट हो गयाथा। इस बाढ के चिह्न हस्तिनापुर के उत्खनन से भी प्राप्त हुये हैं।[५] अथर्ववेद में उपक्वस, जम्य, तथा पतग आदि कृपिनाशक कीडो के नाम दिये गए

---

१ अथर्ववेद ३ १७ ३
२ काठक सहिता १५ २
३ अथर्ववेद ७ १८ ३९
४ अथर्ववेद ७ १८
५. ऐन्श्येन्ट इण्डिया, न० १०-११, पृ० १४

हैं जिनसे खेती की रक्षा के लिये अनेक यत्र तथा उपाय बताये गये हैं । छान्दोग्य उपनिषद से ज्ञात होता है कि टिड्डियो से फसलकी ब डी क्षति होती थी । एक वार टिड्डियों के कारण समस्त कुरु जनपद अकाल-ग्रस्त हो गया था ।[१]

संहिताओ तथा ब्राह्मणों मे कृषक-जीवन से सम्बन्धित अनेक कार्यों का उल्लेख मिलता है । शतपथ मे कर्षण (जोतना) वपन (बोना) लवन (काटना) तथा मर्दन (माडना) इन चार ही शब्दो मे कृषि की सम्पूर्ण प्रक्रिया का वर्णन कर दिया गया है ।[२] मर्दन के पश्चात् चलनी (तितउ) अथवा शूर्प की सहायता से अन्न को भुसे से पृथक् किया जाता था ।[३] इसके कर्त्ता को धान्यकृत कहते थे ।[४] अनाज को नापकर उसे सुरक्षित रूप से रखने की व्यवस्था की जाती थी । नापने वाले बर्तन को ऊर्दर कहा जाता था और जिस घर मे अनाज रखा जाता था उसे स्थिवि कहते थे ।[५]

कृषि की सफलता के लिये सिंचाई के विविध साधन विकसित किये जा चुके थे । अथर्ववेद मे वर्षा और कूप के पानी के अतिरिक्त नहरो के पानी का भी उल्लेख हुआ है ।[६] खेतो में पानी पहुँचाने वाली नालियो (कुल्या) का भी उल्लेख हुआ है ।[७] कूप से पानी निकालने के लिये यदा-कदा सम्भवत. रहट (चक्र) का भी प्रयोग होता था । वैदिक आर्यों के निवास-भूमि पजाब और गगा की घाटी के क्षेत्र (कृषि योग्य भूमि) प्राय उपजाऊ होते थे । नदियो की बाढ से नई मिट्टी आती रहती थी जिससे भूमि की उर्वरा-शक्ति बनी रहती थी । खेतो को प्राय उनकी उर्वरता के कारण ही उर्वर भी कहा-जाता था । फिर भी पैदावार की वृद्धि के लिए खाद का प्रयोग किया जाता था । शतपथ मे गोबर (करीष) की खाद का उल्लेख है ।[८] और अथर्ववेद में पशुओ की प्राकृतिक खाद को मूल्यवान माना गया है ।[९]

---

१ छान्दोग्य उप० १० १-३, मटची हतेषु कुरुषु
२ शत० ब्रा० १ ६ २ ३
३ ऋ० १० ७१ २
४. द्रष्टव्य वैदिक इण्डेक्स १.१८२
५ ऋ० १० ६८ ३
६ अथर्ववेद ३ १३
७ ऋ० १०.४३ ७, ३.४५ ३
८ शत० ब्रा० २ १ १.७
९ अथर्ववेद १९ ३१ ३

उत्तर-वैदिक युग तक कृषकों ने विभिन्न प्रकार के अन्न पैदा करना सीख लिया था। ऋक्सहिता में यव और धान्य का उल्लेख है। यव (जौ) सम्भवत एक विशेष प्रकार का अन्न था,[1] किन्तु धान्य अनाजों का साधारण नाम प्रतीत होता है। यद्यपि सैन्धव-स्थलों के उत्खनन से उनके निवासियो मे धान की खेती के प्रचलन का सकेत मिलता है[2] तथापि ऋग्वैदिक आर्य धान की खेती से अपरिचित थे। उत्तर-वैदिक युग मे धान की खेती काफी लोकप्रिय हो चुकी थी। व्रीहि शब्द जो ऋग्वेद में अनुपलब्ध है पिछली सहिताओ में खूब मिलता है। हस्तिनापुर के उत्खनन से भी चावल के दाने और धान की भूसी प्रकाश में आये हैं जिससे धान के विशेष उत्पादन की बात पुष्ट होती है। तैत्तिरीय सहिता में धान के तीन प्रमुख प्रकार बतलाए गये हैं जिन्हें कृष्ण (काला), आशु (शीघ्र पैदा होने वाला) तथा महाव्रीहि (बडे दानो वाला) कहा गया है।[3] इन भेदो में आशु सम्भवत साठी नामक धान को लक्षित करता है जो साठ दिन में तैयार हो जाता है।

विविध धान्य

चावल की खेती का प्रचार गगा की घाटी में आर्यों के प्रवेश के पूर्व ही हो चुका था। श्री सुनीति कुमार चटर्जी ने यह सिद्ध करने का सफल प्रयास किया है कि प्रोटो आस्ट्रलायड जाति के लोगो को चावल की खेती का ज्ञान बहुत पहले हो चुका था। चावल शब्द ही आर्य-भाषा का न होकर मुण्डा भाषा का है। हम बतला चुके हैं कि आर्यों के आने के पूर्व प्रोटो आस्ट्र-लायड जाति के लोग ही गगा के मैदान में रहते थे। ऐसी स्थिति मे यह सम्भावना अधिक युक्ति-सगत-प्रतीत होती है कि आर्यो ने चावल की खेती करना निषादो से सीखा।

उत्तर-वैदिक साहित्य में यव और व्रीहि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के अनाजों का भी उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद मे व्रीहि के अतिरिक्त तदुल

---

१ जौ के लिये अवेस्ता में 'येव' और ग्रीक भाषा में 'जेअ' शब्द पाये जाते हैं जो ऋग्वेदिक 'यव' से समानता रखते हैं। इससे यह सम्भावना होती है कि ऋग्वेद मे भी यव शब्द का प्रयोग जौ के ही अर्थ मे हुआ है न कि सभी प्रकार के अन्नों के अर्थ में।

२ चाइल्ड—न्यू लाइट आन दि मोस्ट ऐन्शयेन्ट ईस्ट, पृ० २०६

३. तै० स० १ ८ १० १

(१० ९ २६) का वर्णन हुआ है जो धान का एक दूसरा किस्म प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त इस वेद मे माप (उडद) श्यामाक (सावा), शारिशाका (सरसों), गन्ना, तिल, शण आदि का भी उल्लेख हुआ है।[१] वाजसनेयी संहिता मे गोधूम, यव, व्रीहि, माष, मुदग्, मसूर, तिल श्यामाक, प्रियगु नीवार आदि की उपज का वर्णन है।[२] बदर, कुवल, करकन्धु, न्यग्रोध अश्वत्थ, विल्व, आमलक आदि उपयोगी वृक्षो के नाम भी संहिताओ मे मिलते हैं। यह कहना कठिन है कि ये वृक्ष लगाये भी जाते थे या केवल जंगली होते थे। न्यग्रोध और अश्वत्थ जैसे वृक्ष तो निश्चय ही जगली रहे होगे। पर्याप्त भूमि अभी कृषि के उपयोग में नही लाई जा सकी थी। ऐसे जगली और विना जुते प्रदेशो मे भी अन्न और फल उत्पन्न होते थे। ब्रह्मचारियों को यह सन्देश दिया गया है कि उन्हें विना जुते भूमि से एकत्रित अन्न से जीवन बसर करना चाहिये। अनाज बोने की भिन्न-भिन्न ऋतुओ का विशिष्ट वर्णन तैत्तिरीय संहिता में हुआ है। फसलें साल में दो बार बोई जाती थी।[३] शीतकाल में बोई गई फसल चैत के महीने में पक जाती थी। बीज बोने का समय जलवायु में विशेष परिवर्तन न होने के कारण बहुत कुछ आधुनिक युग के समान ही था।

पशु पालन

कृषि के अतिरिक्त पशुपालन आर्यों का प्रमुख व्यवसाय था। कृषि कार्य में विकास के साथ-साथ पशुओ एव विशेषत गाय बैलो की महत्ता में वृद्धि हो रही थी। बैलो से खेती का काम लिया जाता था। वे विशेषतः हल जोतने और गाडी खीचने के काम में लाये जाते थे। जवान तथा शक्तिशाली बैल को वृषभ कहते थे। गाडी (अनस) खीचने वाले बैल की अनड्वान संज्ञा थी। बैलो को पालतू और अधिक उपयोगी बनाने के लिये उन्हें बधिया करने की भी प्रथा थी। ऐसे बैल को महानिरष्ट (Castrated Bull) कहा गया है।[४] खास तौर से कृषि सम्बन्धी उपयोगिता के ही कारण गोमांस भक्षण का भी निषेध होने लगा था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट घोषणा की गई है कि गाय और बैल पृथ्वी को धारण करते हैं अत उनका मास नही

१ अथर्व० १२ २ ५४, १८ ३ ६ ६ १७ ४, ३ १४ ५, ४ ३ ८,
२. वाज० स० १८ १२, १९ २२, २१ २९ ७,१० २४, १२ ४
३ तै० स० ५ १ ७ ३
४ तै० स० १ ८ ९ १, काठक स० १५ ४ ९, मै० सं० २ ६ ५

खाना चाहिये।[१] फिर भी गोमांसाहार का पूर्ण त्याग अभी नही हो सका था। विभिन्न पशुओ का मास लोगो के भोजन का प्रमुख अङ्ग था। हस्तिनापुर के उत्खनन से घोडे, सूअर, भैसा, गाय आदि पशुओ की हड्डिया प्राप्त हुई हैं।[२] उत्तर वैदिक साहित्य मे स्थान स्थान पर अतिथि सत्कार के लिये महोक्ष (बडा बैल) अथवा महाज (बडा बकरा) के वध की व्यवस्था मिलती है।[३] सैकडों बैलों के वध का श्रेय अगस्त्य नाम के एक यजमान को दिया गया है।[४] विवाह के पुनीत अवसर पर भी मेहमानों के स्वागत के लिए गोवध होता था।[५] शतपथ ब्राह्मण (३ १ २ २१) से ज्ञात होता है कि ऋषि याज्ञवल्क्य गोमास खाने के शौकिन थे।[६] इस प्रकार स्पष्ट है कि भोजन सामग्री के रूप मे भी पशुओ का महत्व पूर्ववत बना हुआ था।

गाय का दूध तथा उससे बनाये गये विविध पदार्थ तो भोजन के विशिष्ट अग थे ही। दूध सोमरस मे मिलाने तथा क्षीरोदन बनाने के लिये भी अति उपयोगी था। इससे उत्पन्न दही और घी भोजन के काम में आता था तथा साथ ही इनका यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानो मे भी उपयोग होता था।

वैदिक युग में सिक्को के कम प्रचलित होने के कारण पशु ही अधिकांशत विनिमय के साधन थे।[७] अत उनका आर्थिक महत्व और भी बढ गया था। पशुओं की सख्या से ही किसी व्यक्ति के वैभव का अनुमान लगाया जा सकता था। साधारण मनुष्य ही नहीं राज लोग भी पशुधन की कामना करते थे। अथर्ववेद के एक प्रसग मे राजा के लिए गाय, बैल और घोडों की प्राप्ति

---

१ शत० ब्रा० ३ १ २ ३

२ ऐन्श्येन्ट इण्डिया न० १० ११, पृ० ८५

३ शत० ब्रा० ३ ४ १ २, शाखायन० गृ० सू० २ १५ २

४. तै० ब्रा० २ ७ ११. १, पच० ब्रा० २१ १४ ५

५ ऋ० १० ८५ १३

६ सूत्रकाल तक हम गोमास भक्षण की व्यवस्था पाते हैं। आपस्तम्ब ने श्राद्ध में गोमांस को पितरों की सन्तुष्टि के लिये सर्वोत्तम माना है।— आप० घ० सू०, २ ७ १६ २६)

७ ऋ० ४. २४–१० मे दस गायों को देकर इन्द्र की एक प्रतिमा लेने की बात कही गई है। इसी प्रकार ब्राह्मण साहित्य में गाय के बछिया के बदले सोम खरीदने का उल्लेख है।

के निमित्त प्रार्थना की गई है।[1] इन्ही पशुओ को दक्षिणा मे देकर राजा लोग पुरोहितो को अनुग्रहीत करते थे तथा विद्वानो का सरक्षण।[2] गाय दक्षिणा के लिये सर्वोत्कृष्ट वस्तु थी यही कारण है कि दक्षिणा श०द अनेक स्थानो पर 'गो' के पर्यायवाची के रूप मे मिलता है। अनेक ऋषियों ने दानस्तुतियो में इन दक्षिणा देने वालो के प्रति आभार प्रदर्शित किया है।[3]

पूषन को पशुओ का रक्षक देवता माना गया है। ऋग्वेद (१० १७ २) मे उसे अनष्टापशु (गोरक्षक) कहा गया है।[4] वस्तुत ग्वालो के सजग रहनेपर भी गाएँ कभी-कभी विपत्तियो मे पड जाती थी। वे कुवें अथवा गढ्ढे मे गिर जाती थी। ऐसी स्थिति मे अग भग का भय बना रहता था।[5] इसके अतिरिक्त गायो के चोरी चले जाने अथवा जगली पशुओं का शिकार बन जाने का भी भय लगा रहता था। पशुओ के समूह इतने विशाल होते थे कि उनकी पहचान के लिये उनके कानो पर नाना प्रकार के चिन्ह लगाये जाते थे।[6] गायों के कानो को छेदने की प्रथा काफी बाद तक पशुपालक समाज मे प्रचलित रही क्योंकि पाणिनि के सूत्रों मे भी ऐसे चिन्हों का वर्णन मिलता है।[7]

गायों की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ के द्योतक भिन्न-भिन्न शब्द वैदिक साहित्य में मिलते हैं जिससे इस पशु की लोकप्रियता सिद्ध होती है। प्रसव योग्य गाय को गृष्टि, दूध देने वाली गाय को धेनु, वंध्या गाय को स्तरी, धेनस्तरी अथवा वशा और बच्चा देने के पश्चात् वध्या हुई गाय को सूत-वसा कहा गया है। इसी प्रकार विभिन्न आयु के बछडो के लिये भी पृथक्-पृथक् नाम मिलते हैं। गायें दिन मे प्रायः तीन बार दुही जाती थी।[8]

---

१ अथर्ववेद ४ २२. २

२ राजा जनक द्वारा याज्ञवल्क्य की गोप्राप्ति की कथा प्रसिद्ध है। बृहदा-रण्यक उप० ३ ६ १, ८ १।

३ कठोपनिषद १ १ २

४ तै० ब्रा० ३ १ २ १२ मे पूषन को पशुप कहा गया है।

५ ऋ० १ २०८

६ मै० स० ४ २ ६, कर्करिकर्ण्यं, दात्रकर्ण्यं, छिद्रकर्ण्य॰, आदि

७ अष्टाध्यायी ६ ३. ११५

८ तै० स० ७. ५. ३ १ प्रातर्दोह, सगव और सायदोह।

वैदिक आर्यों के लिये गाय का अपने बच्चो के लिए रम्भाना इतना परिचित और सुखद था कि वे देवताओं को बुलाने के लिये अपने शोभन गानों की तुलना इससे करने में तनिक भी नही सकुचाते थे।[१]

गाय-बैल के अतिरिक्त अनेक पशुओ का उल्लेख हुआ है जिनमें घोडा, भैस, भेंड और बकरी महत्वपूर्ण हैं। अथर्ववेद मे हाथी का भी उल्लेख हुआ है। ऋग्वेदिक आर्यों का परिचय इस पशु से नही था। सम्भवत हाथी पालने की कला आर्यों ने गगा की घाटी मे रहने वाले निषादो से सीखा। मिरजापुर की पहाडियो से प्राप्त प्रागैतिहासिक चित्रो मे हम हाथी फँसाते हुए मनुष्यों का चित्र पाते हैं। इससे इस सम्भावना की पुष्टि होती है। ऐतरेय ब्राह्मण (४ ९) से ज्ञात होता है कि यदा कदा गदहो का उपयोग भी गाडी खींचने के लिये होता था। अथर्ववेद में ऊँटगाडी का भी उल्लेख हुआ है।[२] घोडा तो अपनी शक्ति और गति के लिये प्रसिद्ध ही था। यह आर्य सस्कृति के प्रसार का अग्रदूत था। घोडे का उपयोग यदा-कदा गाडी (अनस) के लिये भी होता था[३] किन्तु अधिकाशत वे रथ मे ही जोते जाते थे।[४] घुडसवारी भी अज्ञात नही थी।[५]

सिन्धु नद के तटवर्ती प्रदेशो में घोडे विशेष रूप से पाये जाते थे।[६] इसीलिये बाद में 'सैन्धव' शब्द घोडे का पर्यायवाची बन गया। ऋग्वेद में कई स्थानों पर सिन्धु और सरस्वती को 'वाजिनीवती' कहा गया है।[७] इससे प्रतीत होता है कि इन प्रदेशो मे घोडों की बहुलता थी।

यद्यपि कृषि एव पशुपालन वैदिक आर्यों के प्रधान उद्यम थे तथापि विभिन्न उद्योग और व्यवसाय भी समुचित रूप से विकसित हो गये थे। इनव्यवसायों का सगठन आर्थिक एव सामाजिक

विविध शिल्प एव व्यवसाय दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण था। एक ओर तो ये व्यवसायी विभिन्न उपकरणो के निर्माण द्वारा भौतिक जीवन को समृद्ध बना रहे थे, दूसरी ओर आर्थिक विभाजन

१ ऋ० ६ १२ २
२ अथर्ववेद २० १३७ २
३ वैदिक इन्डेक्स १ ४२
४ वैदिक इन्डेक्स १ ४२
५ ऋ० ५, ६१ १-३, वाज० स० ३० १३, तै० ब्रा० ३ ४ ७ १
६ बृहदारण्यक उपनिषद ६ २ १३, शाखायन आरण्यक ९ ७
७ ऋ० १० ७५ ८, १ ३ १०, २ ४१ १८, ६ ६१ ३-४ आदि।

ओर व्यवसायिक विभिन्नता के आधार पर वे पृथक् पृथक् सामाजिक वर्गों का स्वरूप धारण करने लगे थे परिणामत. उत्तर वैदिक युग मे वैश्य वर्ण के अन्तर्गत आन्तरिक विभाजन और विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। आर्येतर शिल्पियो के वैदिक समाज मे प्रवेश के कारण अनेक शिल्पी, जिनका स्थान समाज मे पहले आदरणीय था शूद्र वर्ण के अन्तर्गत परिगणित हुए। क्रमशः व्यवसायो और शिल्पो के आधार पर अनेक जातियो का उदय हुआ। पूर्व वैदिक युग मे ही अनेक व्यवसाय और उद्योग अस्तित्व मे आ चुके थे।[1] किन्तु उन्हें धारण करने वाले लोग समान रूप से विश के अन्तर्गत थे। उनका कोई पृथक् आर्थिक सगठन नही था। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक युग मे जब ब्राह्मणो और क्षत्रियो ने अपने को प्रवेश निषिद्ध वर्गों के रूप में सगठित किया तब वैश्यो पर भी इसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। वैश्य वर्ग के अन्तर्गत विभिन्न व्यवसायो के लोग थे अतः उनका सामूहिक सगठन सम्भव नही था। ऐसी स्थिति में विभिन्न व्यवसायो और शिल्पों को धारण करने वाले लोग पृथक् पृथक् आर्थिक इकाई के रूप मे सगठित होने लगे। ऐतरेय ब्राह्मण में श्रेष्ठी शब्द का उल्लेख है[2] जो किसी व्यावसायिक संघ का प्रधान प्रतीत होता है। वाजसनेयी सहिता मे उल्लिखित गण और गणपति शब्द भी व्यावसायिक सघो के सघटन का सकेत करते हैं।[3] यद्यपि उत्तर वैदिक साहित्य से इन गणो की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध मे विशेष ज्ञान नही प्राप्त होता तथापि परवर्ती साहित्य से उपलब्ध साक्ष्यों के प्रकाश में ऐसा प्रतीत होता है कि समान व्यवसायो के अनुसरणकर्त्ता प्राय एक सघ के अन्तर्गत सगठित होते थे। ये सघ व्यापारिक कार्यो की देख-रेख तथा व्यवसायियो के हितो की सरक्षा करते थे।

परवर्ती सहिताओ तथा ब्राह्मण ग्रथो मे अनेक शिल्पियों का उल्लेख हुआ है। पाणिनि के सूत्रों मे भी ग्रामो से सम्बन्धित शिल्पजीवियो का उल्लेख मिलता है।[4] नागरिक जीवन के पूर्ण विकसित न होने के कारण

---

१. ऋ० १०. १४२. ४, १. ६१. ४, ७. ३२ २०, ९. ११२ १, १०. ११९. ५, १०. ७२. २
२. ऐत० ब्रा० ३. ३०. ३
३. वाज० सा० २३ १९ १
४ अष्टाध्यायी ६. २ ६२

विभिन्न उद्योगो के अनुसरणकर्त्ता प्राय गांवों में रहते थे तथा गाव को आत्मनिर्भर आर्थिक इकाई बनाने मे योग देते थे। उत्तर-वैदिक साहित्य मे रथकार, कर्मार, तक्ष, क्षातृ,कुलाल, ईषुकृत, धवकृत, मृगयु, रज्जु सर्ग, ज्याकार, वप, मणिकार, सुराकार, विदलकार, कटककार आदि विभिन्न व्यवसायियो का उल्लेख अनेकश हुआ है।[१] उद्योगो एव व्यवसायो की इस विविधता से समुन्नत आर्थिक जीवन का सकेत मिलता है।

उपर्युक्त व्यवसायों तथा उद्योगो मे कुछ तो निश्चय ही बडे महत्वपूर्ण थे। उदाहरण के लिये बढई रथकार लोहार ग्रामीण अर्थ व्यवस्था के आधार स्तम्भ थे। बढई लकडी की सहायता से कृषि कर्म के लिए विभिन्न उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करता था। साथ ही वह घरेलू उपयोग की वस्तुओ को बनाता था। कुलिश अथवा परशु उसका प्रमुख औजार था।[२] व्यवसाय की महत्ता के कारण उनकी सामाजिक स्थिति भी समादृत थी। रथकार का उल्लेख ऋक्सहिता में तो नही हुआ है किन्तु उत्तरवैदिक युग तक अत्यन्त प्रभावशाली हो चुका था। पूर्व-वैदिक युग मे सम्भवत. रथ बनाने का कार्य तक्षन ही करता था किन्तु परवर्ती युग में उसके कार्य-क्षेत्र का विस्तार होने लगा। परिणामत. रथ-निर्माताओ का एक नया व्यावसायिक वर्ग अस्तित्व में आया।[३] यह नवोदित आर्थिक वर्ग तक्षन समाज से ही निकला होगा। रथकार का व्यवसाय इतना महत्वपूर्ण था कि वह राजकीय सम्मान का विषय समझा जाता था।[४] रथकार के लिए अग्निहोत्र की व्यवस्था भी थी।[५] युद्ध एग प्रसार की स्थिति में रथकार के व्यवसाय का

---

१ अथर्ववेद ३ ५ ६ ७, तै० स० ४, ५ ४ २, वाज० स० १६ २६-२८ का० स० १७ १३, तै० ब्रा० ३ ४ १

२. ऋ० ३ २ १, का० स० १२ १०

३ स्टुअर्ट पिगट महोदय ने रथ के विभिन्न अगो के लिए प्रयुक्त वैदिक शब्दावली के आधार पर वैदिक रथ के आकार प्रकार का काल्पनिक चित्र प्रस्तुत किया है, किन्तु पुरातात्विक प्रमाणों तथा विस्तृत साहित्यिक सकेतों के अभाव में पिगट द्वारा कल्पित वैदिक रथ का स्वरूप असन्दिग्ध नही माना जा सकता है। वैदिक रथ के निर्माण पद्धति के विषय में द्रष्टव्य—प्रि-हिस्टोरिक इण्डिया, पृ० २८०

४ मै० सं० २ ६ ५, ४ ३ ८

५ तै० ब्रा० १ १ ४

आदरणीय होना सर्वथा स्वाभाविक था। कर्मार (स्मिथ) के लिये भी उत्तर-वैदिक साहित्य मे सम्मान सूचक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। अथर्ववेद मे उन्हें मनीषी शिल्पकारो मे स्थान दिया गया है।[१] वह नित्य उपयोग के लिये धातु के वर्तन तथा सोमरस पीने के लिए धातु के प्याले बनाता था। स्वर्णाभूषणो के बनाने वाले को हिरण्यकार कहा गया है।[२] ये लोग स्वर्ण से निष्क, कर्णशोभन आदि विविध आभूषण बनाते थे। सम्भवतः समृद्ध लोगों के लिये स्वर्ण चषक भी बनाये जाते थे।[३]

वस्त्रो की सार्वजनिक उपयोगिता के कारण बुनकर का व्यवसाय भी विशेष महत्वपूर्ण था। इस व्यवसाय से वैदिक समाज पूर्णत सुपरिचित था। बुनकर को वाय कहा गया है। ऋक्संहिता में प्रयुक्त वायोवाय शब्द से जान पडता है कि उस समय धोती बुननेवालो तथा अन्य वस्त्र जैसे चादर, दुपट्टा, कम्बल आदि बुननेवालो में भेद माना जाता था। इस व्यवसाय से सम्बद्ध तन्तु (ताना) ओतु (बाना) वेमन (करघा) आदि पारिभाषिक शब्दों से वस्त्र निर्माण की विधि पर कुछ प्रकाश पडता है। इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि हस्तिनापुर के उत्खनन से चित्रित भूरे-मृत्पात्रवाले स्तरों से सुई जैसा नुकीली उपकरण भी प्राप्त हुआ है जिसका उपयोग सम्भवत कपडा सीने के लिये होता था।[४] यह बात विस्मयजनक है कि उत्तर-वैदिक साहित्य में कपास का उल्लेख नही मिलता है किन्तु ऊर्णा शब्द का प्रयोग अनेकश हुआ है।[५] इससे प्रतीत होता है कि ऊनी कपडो का विशेष उपयोग होता था। सिन्ध और पजाब विशेष रूप से ऊनी वस्त्रों के केन्द्र थे। ऋग्वेद (१० ७५.८) में सिन्धु नदी को सुवासा और ऊर्णावती कहा गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद(१ १२६.७) मे गंधार के भेडो से उत्पन्न उत्तम ऊन का उल्लेख है। ऋग्वेद मे भेडो को ऊर्णावती विशेषण दिया गया है।[६] वास्तव में ऊन के कारण ही उनकी महती उपयोगिता थी। अथर्ववेद मे शण का उल्लेख हुआ

१ अथर्ववेद ३ ५-६

२ वाज० स० ३० १७, तै० ब्रा० ३ ४ १४ १

३ तै०स० ५ ७ १ ३, तै० ब्रा० १. ३. ३ ७, शत० ब्रा० ५ १ २ १९।

४ ऐन्श्येन्ट इण्डिया, न० १०—११, पृ० १४।

५ शत० ब्रा० १२ ५ १ १३, वाज० स० १३ ५०, पचविश ब्रा० १२ ११.१०

६ ऋ० ८ ५६ ३।

है।[१] इससे वस्त्र, आच्छादन, बोरे और चटाइयाँ आदि बनती थीं। धनवान लोग प्रायः रेशमी वस्त्रों का उपयोग करते थे। अनेक स्थानो पर क्षौम और तार्प्य का उल्लेख हुआ है।[२] ये वस्त्र बडे ही मूल्यवान माने जाते थे। जिन कपडो पर कढाई का काम होता था उन्हें पेशस् कहते थे। पेशस् का उपयोग अधिकाशत स्त्रियाँ शृगार के लिए करती थीं। उत्सवो मे सम्मिलित होनेवाली वधुएँ पति-प्राप्ति की कामना से सुन्दर पेशस् धारण करती थी।

सूत कातने कपड़ा बुनने तथा ऊन पर कढाई आदि करने का काम विशेषत स्त्रियों का प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण में ऊन से सूत बनाने का कार्य स्त्रियो का विशेष कर्म माना गया है।[३] पचविंश ब्राह्मण (१ ८ ९) में वयित्री शब्द मिलता है जिसका आशय वस्त्र बननेवाली स्त्री से है। वाजसनेयी सहिता (३० ९) में प्रयुक्त पेशस्कारी शब्द इस बात को प्रमाणित करता है कि वस्त्रो को कढाई आदि के द्वारा अलकृत करने का कार्य भी प्राय स्त्रियाँ ही करती थीं।

लोकोपयोगी व्यवसायो मे कुलाल का व्यवसाय बडा ही महत्त्वपूर्ण था। उत्तर-वैदिक साहित्य मे अनेक स्थलो पर कुलाल का उल्लेख हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में कुलाल-चक्र के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि मिट्टी के घडे, प्याले, तश्तरियाँ आदि चाक के ऊपर ही बनते थे।[४] हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा रूपड प्रभृति स्थानो से भी मृत्पात्रों के जो टुकडे मिले हैं वे अधिकाशत चाक पर बने हुये हैं यद्यपि हस्तनिर्मित मृत्पात्र भी अज्ञात नही हैं।[५]

इन व्यवसायो के अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे व्यवसाय भी थे जो आर्थिक एव सामाजिक दोनो दृष्टियों से हीन कहे जा सकते हैं। निश्चय ही इन व्यवसायो का अनुसरण निर्धन और साधन-विहीन लोग करते रहे होंगे। ऐसे व्यवसायियो में कण्टकीकारी, विदलकारी, कैवर्त, गोविकर्तन, बाश, धैवर, पाशिन, पुंजिष्ठ, आदि प्रमुख थे। इन व्यवसायों से स्पष्ट होता है कि समाज में कुछ लोगो की आर्थिक स्थिति बहुत खराब थी। आर्थिक रूप से हीन तथा घृणित वृत्ति के प्रचलन का कारण असभ्य एव अर्धबर्बर

---

१ अथर्ववेद २ ४५।

२ मै० स० ३ ६ ७, अथर्ववेद १८ ४ ३१, शत० ब्रा० ५ ३ ५ २०।

३ एतद्वा एतत्स्त्रीणा कर्म यदूर्णासूत्रम्।

४ शत० ब्रा० ६ ८ १

५ एन्श्येन्ट इण्डिया, न० १०—११,पृ० ११—१३।

अनार्य जातियो का वैदिक समाज मे प्रवेश भी था। द्विजातियो से इन्हें पृथक् करने का जो प्रयास उत्तर-वैदिक युग से ही दिखाई देता है उसके पीछे एक प्रबल कारण इनका हीन सांस्कृतिक स्तर भी था।

धातु-विज्ञान और लौह युग में प्रवेश

उत्तर-वैदिक युग तक अनेक धातुओ का आविष्कार हो चुका था। उपयोगी धातुओ मे अयस का उल्लेख बार-बार हुआ है किन्तु इसका अर्थ बडा ही संदिग्ध है। 'वैदिक इण्डेक्स' के लेखक अयस का अर्थ लोहा मानते हैं किन्तु पुरातात्विक साक्ष्य से ऋग्वेदिक आर्यों का लोहे से परिचय अभी तक असिद्ध है। हस्तिनापुर के उत्खनन से भी ताम्रनिर्मित तीर-फलक ही प्राप्त हुये हैं। अत ऋग्वेद मे उल्लिखित अयस निर्मित तीर फलको को ताम्र-निर्मित मानना ही अधिक उपयुक्त होगा। ऋग्वेद मे अयस के लिए प्रयुक्त विशेषणो से इस बात का संकेत मिलता है कि यह ताम्र था, जैसा कि अग्नि के विशेषण 'अयो द्रष्ट्र' से स्पष्ट है।[1] वस्तुत ऋग्वेद मे अयस शब्द का प्रयोग सामान्यत सभी धातुओ के लिए हुआ प्रतीत होता है। क्योंकि इस संहिता मे विभिन्न धातुओ के लिए पृथक् नाम नही मिलते। यह ताम्र के साथ साथ सम्भवत कांस्य के लिए भी प्रयुक्त होता था।[2] उत्तर-वैदिक काल मे सर्वप्रथम प्रत्येक धातु को पृथक् नाम प्रदान किया गया। ताम्र को अन्य धातुओं से पृथक् करने के लिए 'लोहायस' कहा गया। अथर्ववेद तथा अन्य संहिताओ में बहुधा दो प्रकार के अयस का उल्लेख हुआ है—श्याम और लोहित।[3] शतपथ ब्राह्मण मे अयस और लोहायस को अलग-अलग धातु बताया गया है। जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है लोहायस शब्द का प्रयोग ताम्र के अर्थ में हुआ है किन्तु श्याम, जिसका प्रथम बार उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है, निश्चित रूप से लोहा (आइरन) प्रतीत होता है। उत्तरवैदिक युग तक लोहे से आर्यों का पूर्ण परिचय हो चुका था जिसके कारण औद्योगिक क्षेत्र मे प्रगति का मार्ग

---

१ ऋग्वेद १ ८८.५, १० ८७ २।

२ ऋग्वेद में दास-दस्यु लोगो के 'आयसी पुरो' का उल्लेख हुआ है। यदि ये आयसी पुर सैन्धव सभ्यता के निर्माताओ के हैं जैसा कि अनेक विद्वानो ने माना है तो निश्चय ही इस प्रसग में अयस को कांस्य का पर्यायवाची मानना चाहिए।

३ अथर्ववेद ९.५.४, मैत्रायणी संहिता ४ २ ९

प्रशस्त हुआ। पुरातात्विक साक्ष्य से भी यह प्रतीत होता है कि लोहे से वैदिक आर्यों का पूर्ण परिचय उत्तर-वैदिक युग मे ही हुआ। इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि हस्तिनापुर के उत्खनन मे चित्रित-भरे-मृत्पात्र वाले स्तर के ऊपरी हिस्से में ही लोहे के बने शस्त्र उपलब्ध हुये हैं।[१] तांबे और लोहे के अतिरिक्त सोना, चांदी त्रपु (टिन) और शीशा इस युग के अन्य उपयोगी धातु थे।[२] सोने और चादी का उपयोग विभिन्न प्रकार के आभूषणों के निर्माणार्थ होने लगा था तथा आर्थिक दृष्टि से इन धातुओ को विशेष मूल्यवान समझा जाने लगा था। स्थान स्थान पर दान और दक्षिणा मे निष्क एवं शतमान देने का उल्लेख मिलता है।

निष्क, शतमान, सुवर्ण और पाद प्रभृति धातुखण्डों का उल्लेख परवर्ती संहिताओ, ब्राह्मणों तथा उपनिषदों मे अनेकत्र ऐसे प्रसगो में हुआ है जिनसे यह प्रतीत होता है कि इन धातुखण्डो का प्रयोग मुद्रा के रूप मे होने लगा था। यद्यपि ताम्रनिर्मित मुद्राओ का उल्लेख सर्वथा अनुपलब्ध है तथा रजत-निष्कका उल्लेख पचविंश ब्राह्मण मे केवल व्रात्यो के प्रसग मे हुआ है[३] तथापि स्वर्ण-पिंडो का दान दक्षिणा के प्रसग में बार-बार उल्लेख हुआ है। अधिकांशत निष्क शब्द का प्रयोग आभूषण के अर्थ में हुआ है[४] किन्तु अनेक प्रसगो में निष्क का अर्थ निश्चित रूप से मुद्रा प्रतीत होता है।[५] शतमान जो गोलाकार होता था राजसूय के अवसर पर रथ के पहिये में बाधा जाता था तथा तत्पश्चात् पुरोहित को दक्षिणा-स्वरूप दे दिया जाता था। शतमान का उल्लेख अन्यत्र भी दक्षिणा के रूप मे हुआ है।[६] इसका उल्लेख सुवर्ण के साथ हुआ है तथा इसे हिरण्य भी कहा गया है। सम्भव है शतमान एक निश्चित तौल का (सम्भवत १०० कृष्णल का) एक धातुखण्ड रहा हो तथा विनिमय के साधन के रूप में निष्क के साथ इसका

---

१ ऐन्श्येन्ट इण्डिया, न० १०-११, पृ० ८५

२ पुरातात्विक साक्ष्य के लिए द्रष्टव्य— ऐन्श्येन्ट इण्डिया, न० १०-११, पृ० १३

३ पंच० ब्रा १७ १ १४

४ निष्क ग्रीव, ऋ० ५ १९ ३, निष्क कण्ठ, ऐत० ब्रा० ८ २२।

५ ऋ० १ १२६ २, शत० ब्रा० १० ४ १ १, गोपथ० ब्रा०१ ३ ६।

६ शत० ब्रा० १३ ४ २ १०, रजत हिरण्य दक्षिणा नाना रूपत्या शतमान भवति शतायुर्वैपुरुष।

भी उपयोग होता रहा हो। निष्क और शतमान का दक्षिणा और दान की वस्तु के रूप मे उल्लेख निश्चित रूप से इनके आर्थिक दृष्टि से मूल्यवान होने का सकेत करता है। काठक सहिता में हिरण्य कृष्णल का उल्लेख हुआ है[१] जो गुजा के तौल का धातुखड प्रतीत होता है। वृहदारण्यक उपनिषद मे यह कहा गया है कि विदेह राज जनक ने अपनी सभा में एक दार्शनिक-विवाद मे भाग लेने वाले विद्वानों मे सर्वश्रेष्ठ विद्वान को एक सहस्र गायो को पुरस्कार मे देने की व्यवस्था की थी जिनमे प्रत्येक की सीगो मे दस पाद बँधे हुये थे। इस प्रसग में पाद सिक्का प्रतीत होता है। पाद सम्भवत निष्क, सुवर्ण अथवा शतमान का चौथाई भाग था।[२] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वैदिक साहित्य में उल्लिखित इन धातुखण्डो के नमूने अभी उपलब्ध नही हो सके हैं किन्तु यह सुविदित है कि छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व तक मुद्रा का उपयोग प्रचुर मात्रा में होने लगा था। ऐसी स्थिति में मुद्रा-निर्माण के विकास का इतिहास निश्चित रूप से उत्तर वैदिक युग में प्रारम्भ होना चाहिये। इतना अवश्य है कि उत्तरवैदिक युग में अधिकाशत गायें ही विनिमय का साधन थीं[४] तथा निष्क सुवर्ण, शतमान और पाद जैसे धातुखण्ड न तो राज्य द्वारा नियन्त्रित थे और न चिन्हित।[१] ऐसी स्थिति में इन्हें आधुनिक अर्थ में सिक्का मानना तो कठिन होगा किन्तु मुद्रा-निर्माण की प्रारम्भिक अवस्था को दृष्टि में रखते हुए इन्हें 'पच मार्कड' सिक्को का पूर्ववर्ती अविकसित रूप माना जा सकता है।

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, वैदिक आर्यों की आर्थिक व्यवस्था ग्रामीण थी। कृषि-कर्म और पशुपालन ही उनके प्रमुख व्यवसाय थे। व्यापार तथा वाणिज्य का विकास अभी शैशवावस्था में था। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में सुदूरवर्ती प्रदेशों को जाने वाले सार्थवाहो का कहीं भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है। पूर्व वैदिक युग से ही आर्यों को साक्षात् अथवा परम्परा से

व्यापार एव वाणिज्य

१ काठक० स० ११ ४।

२ ब्राह्मण साहित्य में पाद मत्र के चौथाई भाग को कहा गया है। ऐत० ब्रा० ४ ४, कौषीतकि ब्राह्मण २६ ५, निरुक्त० ७ ९।

३ ऐत० ब्रा० ५ २२ ९, ७ ३३ ६, ८ ३७ ७ इत्यादि।

४. द्रष्टव्य, जे० एन० एस० आई०, न० १५,

समुद्र का ज्ञान हो चुका था।[१] यत्र-तत्र समुद्र-यात्रा तथा 'नाव समुद्रियः' का भी उल्लेख हुआ है। कुछ विद्वान यहाँ तक मानते हैं कि ऋग्वैदिक आर्य कुशल नाविक थे तथा विदेशों से सामुद्रिक व्यापार भी करते थे।[२] किन्तु पूर्व-वैदिक आर्यों का भौतिक दृष्टि से अविकसित एवं अटनशील जीवन व्यापारिक समृद्धि के लिये विशेष अनुकूल नहीं था। ऐसी स्थिति में व्यापार एवं वाणिज्य के क्षेत्र मे उनकी उपलब्धियाँ भी सीमित थी। वैदिक संस्कृति की पूर्ववर्तिनी सैन्धव-सभ्यता के अन्तर्गत सामुद्रिक व्यापार समुन्नत था। आर्य ऋषियो ने यहा के व्यापारियों को सम्भवत 'पणि' नाम से अभिहित किया है। पणियों का धन आर्यों के आकर्षण का बहुत बडा केन्द्र था।[३] ऋग्वेद में इन पणियों को ऐश्वर्ययुक्त[४] कृपण तथा दासो से सम्बद्ध बतलाया गया है जिनसे उनके अनार्यत्व का बोध होता है। आर्यों के आक्रमण के परिणामस्वरूप सिन्धु-प्रदेश की समुन्नत नागरिक सभ्यता धराशायी हो गई और सैन्धव नगरों के पतन के पश्चात् विदेशी व्यापार का मार्ग स्वभावत अवरुद्ध हो गया। उत्तर-वैदिक युग में, जब आर्यो तथा आर्येतरजनों के बीच हुए सामाजिक एव सांस्कृतिक सामंजस्य के परिणामस्वरूप नवीन सामाजिक व्यवस्था उद्भूत हुई तथा राजसत्ता के विकास के साथ-साथ शान्ति और सुरक्षा स्थिर हुई, पुन साक्षर नागरिक जीवन का अभ्युत्थान आरम्भ हुआ तथा सैन्धव सभ्यता का भौतिक पक्ष भी पुनरुज्जीवित होने लगा। बहुत सम्भव है कि उत्तर-वैदिक युग के मिश्रित समाज मे आर्येतर जनों द्वारा व्यापार और वाणिज्य को विशेष प्रोत्साहन मिला हो। विशेषत सैन्धव जनो की प्रतिभा वंशानुगत एव परम्परागत रूप से अवश्य जीवित रही होगी। इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि वणिज, वाणिज, वाणिज्या आदि शब्दो की व्युत्पत्ति भी उसी मूल से हुई है जिससे 'पणि' शब्द की। इससे आर्येतर जनों का व्यापार और वाणिज्य से गहरा सम्बन्ध द्योतित होता है।

उत्तर वैदिक साहित्य में 'वाणिज्या' के सम्बन्ध में कई स्थान पर सकेत मिलते हैं। अथर्ववेद में एक स्थान पर दूर्श (वस्त्र) पवस्त (चादर) और अजि

---

१ ऋ० १ १७ ७, १ १६३ ३, ३ ३६ ७, ७ ६ ७, १ ११२ ६

२ वैदिक एज, पृ० २४५ पर उद्धृत वेबर का मत।

३ ऋ० ६ १३ ३, ६ ५३ ३, १ ६४ ४

४. ऋ० १.३३.२

(चर्म) खरीदने का उल्लेख मिलता है ।[1] इसी ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि व्यापारी लोग विभिन्न वस्तुग्रो को लेकर इधर-उधर घूमा करते थे। कभी वे इन वस्तुग्रो का विनिमय करते थे और कभी विक्रय। समय समय पर उन्हे हिंसक पशुग्रो एव डाकुग्रो का भी सामना करना पडता था। ग्रथर्ववेद (३ १५) से ज्ञात होता है कि वस्तुग्रों को खरीदने ग्रोर बेचने मे खूब मोल-भाव होता था। ग्रान्तरिक व्यापार प्राय स्थल मार्ग से होता था। ग्रावागमन की सुविधा के लिये कुछ सडकें भी थी।[2] ग्रथर्ववेद (१६. २. १) मे व्रात्यो के प्रसग मे विपथ का जो उल्लेख हुग्रा है उससे सामान्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ सुपथ भी ग्रवश्य रहे होगे। व्यापारिक वस्तुग्रो को ढोने का काम ग्रधिकाशत पशुग्रों से लिया जाता था। ऐसे पशुग्रो मे बैल, घोडे, ऊँट, गदहे ग्रोर भैस मुख्य थे। शतपथ ब्राह्मण में ब्याज पर धन देने वाले 'कुसीदिन' का भी उल्लेख हुग्रा है।[3]

उत्तर-वैदिक साहित्य मे यत्र-तत्र समुद्र-यात्रा तथा विदेशो से व्यापारिक सम्बन्ध के भी सकेत मिलते हैं। प्रकृत्या कर्मकाण्ड प्रधान होने के कारण यजुर्वेद तथा ब्राह्मण साहित्य में इस विषय पर विशेष सामग्री ग्रनुपलब्ध है किन्तु ग्रथर्ववेद मे ग्रनेक मत्र एव विशिष्ट शब्द विदेशो से व्यापारिक सम्बन्ध की पुष्टि करते हैं। ग्रथर्ववेद में मोती पैदा करने वाले शख का उल्लेख है[4] जो समुद्र से लाये जाते थे। वाजसनेयी सहिता मे समुद्री यात्राग्रो के लिए उपयोगी सौ डाडो वाले बडे जलपोत का भी उल्लेख मिलता है।[5] उपर्युक्त उद्धरणो से उत्तर-वैदिक युग मे सामुद्रिक व्यापार की पुष्टि होती है। साथ ही ग्रथर्ववेद के कुछ विचित्र शब्दो, यहूदी धर्म ग्रन्थों, बोगजकुई ग्रभिलेख तथा ग्रन्य ग्रसीरियन ग्रभिलेखो के साक्ष्य से उत्तर-

१ ग्रथर्ववेद ४ ७ ६

२ द्रष्टव्य-परि-रथ्य, ब्लूमफील्ड, हिम्स ग्राफ दि ग्रथर्ववेद, पृ० ५८७, इस प्रसग मे ग्रथर्ववेद मे उल्लिखित 'पथिकृत' भी उल्लेखनीय है। द्रष्टव्य—ग्रथर्ववेद १८ २ ५३, ३. २५ इत्यादि।

३. शत० ब्रा० १३ ४ ३ ११

४ ग्रथर्ववेद ४. १०. १-३

५ वाज० स० ३१ ७, शतारित्र नौ।

वैदिक युगीन भारत तथा पश्चिमी एशिया के राज्यो के बीच व्यापारिक सम्बन्ध सूचित होता है। आर्यो के आक्रमण और सैन्धव सस्कृति के विध्वस से उत्पन्न उथल पुथल के कारण पुरा-ऐतिहासिक भारत एव पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक सम्बन्धो मे शिथिलता आ गयी थी किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक ये सम्बन्ध पुन स्थापित हुये। बाइबिल मे उल्लिखित ओफिर (आभीर ?) कर्पस (कपास) और कोफ (कपि) एव असुरबनिपाल (लगभग ७ वीं शताब्दी ई० पू०) के अभिलेखो मे कपडे के लिये प्रयुक्त सिन्धु शब्द इस प्रसग मे उदाहरणीय हैं। एशिया माइनर के बोगजकुई के अभिलेख (लगभग १४०० ई० पूर्व) मे मित्र, नासत्य वरुण प्रभृति वैदिक देवताओ का उल्लेख हुआ है। एशिया माइनर जैसे सुदूरस्थ प्रदेशो के निवासियो का वैदिक देवताओ से परिचय निश्चित रूप से इस बात को सूचित करता है कि उत्तर वैदिक युग में भारत का पश्चिमी एशिया से पर्याप्त सास्कृतिक सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध व्यापारिक सम्पर्क के कारण ही उत्पन्न हुआ होगा। भारतीय साहित्य में भी भारतीय व्यापारियों के पश्चिमी देशो की ओर जाने का वर्णन मिलता है। एक जातक कथा में, जो मूलत उत्तर-वैदिक कालीन हो सकती है बवेरू राज्य (बैबीलोन) की यात्रा का उल्लेख है। अथर्ववेद मे तैमात, उरुगूल, आलगी, विलिगी आदि अनेक ऐसे शब्द आये हैं जो विदेशी प्रतीत होते हैं। ग्रिफिथ ह्विटनी तथा ब्लूमफील्ड जैसे विद्वानो ने इन शब्दो को अस्पष्ट बतलाया है किन्तु बालगगाधर तिलक इन्हें बैबीलोन की अक्कादी भाषा से आया हुआ मानते हैं। इनमें तैमात तो निश्चियत बैबीलोनियन 'तियामत' प्रतीत होता है। उरुगूल शब्द का प्रयोग भी तिलक के अनुसार अक्कादी भाषा में पाताल के अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार वैदिक शब्द अप्सु का सम्बन्ध अक्कादी शब्द 'अब्जु' से जोडा जा सकता है। श्री तिलक का तो यहाँ तक कहना है कि 'उरुक्रम', 'उरुगाय', 'उर्वशी' तथा 'अप्सुजित' जैसे सभी शब्द अक्कादी शब्दो से व्युत्पन्न हुये होगे। भारतवासियो का सम्भवत बैबीलोनियन ज्ञान विज्ञान से भी परिचय था। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का विश्वास है कि भारत में भार की इकाई के लिए प्रयुक्त होने वाला 'मन' शब्द 'मीना' से निकला है। इन तथ्यो के प्रकाश में तथा छठी शताब्दी ई० पू० में भारतीय व्यापार एव वाणिज्य की समुन्नत दशा तथा नागरिक जीवन के विकास को दृष्टिगत करते हुए उत्तर-वैदिक युग मे भारत और पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक सम्बन्ध सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है।

(चर्म) खरीदने का उल्लेख मिलता है।[1] इसी ग्रन्थ से यह भी ज्ञात होता है कि व्यापारी लोग विभिन्न वस्तुओ को लेकर इधर-उधर घूमा करते थे। कभी वे इन वस्तुओ का विनिमय करते थे और कभी विक्रय। समय समय पर उन्हे हिंसक पशुओ एव डाकुओ का भी सामना करना पडता था। अथर्ववेद (३ १५) से ज्ञात होता है कि वस्तुओं को खरीदने और बेचने मे खूब मोल-भाव होता था। आन्तरिक व्यापार प्राय स्थल मार्ग से होता था। आवागमन की सुविधा के लिये कुछ सडकें भी थीं।[2] अथर्ववेद (१६ २. १) मे व्रात्यो के प्रसग मे विपथ का जो उल्लेख हुआ है उससे सामान्यतः यह निष्कर्ष निकलता है कि कुछ सुपथ भी अवश्य रहे होगे। व्यापारिक वस्तुओ को ढोने का काम अधिकाशत पशुओं से लिया जाता था। ऐसे पशुओ मे बैल, घोडे, ऊँट, गदहे और भैंस मुख्य थे। शतपथ ब्राह्मण में ब्याज पर धन देने वाले 'कुसीदिन' का भी उल्लेख हुआ है।[3]

उत्तर-वैदिक साहित्य मे यत्र-तत्र समुद्र-यात्रा तथा विदेशो से व्यापारिक सम्बन्ध के भी सकेत मिलते हैं। प्रकृत्या कर्मकाण्ड प्रधान होने के कारण यजुर्वेद तथा ब्राह्मण साहित्य में इस विषय पर विशेष सामग्री अनुपलब्ध है किन्तु अथर्ववेद मे अनेक मन्त्र एव विशिष्ट शब्द विदेशो से व्यापारिक सम्बन्ध की पुष्टि करते हैं। अथर्ववेद मे मोती पैदा करने वाले शख का उल्लेख है[4] जो समुद्र से लाये जाते थे। वाजसनेयी सहिता मे समुद्री यात्राओ के लिए उपयोगी सौ डाडों वाले बडे जलपोत का भी उल्लेख मिलता है।[5] उपर्युक्त उद्धरणो से उत्तर-वैदिक युग मे सामुद्रिक व्यापार की पुष्टि होती है। साथ ही अथर्ववेद के कुछ विचित्र शब्दो, यहूदी धर्म ग्रन्थों, बोगजकुई अभिलेख तथा अन्य असीरियन अभिलेखो के साक्ष्य से उत्तर-

१ अथर्ववेद ४ ७ ६

२ द्रष्टव्य-परि-रथ्य, बलूमफील्ड, हिम्स आफ दि अथर्ववेद, पृ० ५८७, इस प्रसंग में अथर्ववेद में उल्लिखित 'पथिकृत' भी उल्लेखनीय है।
द्रष्टव्य—अथर्ववेद १८ २. ५३, ३ २५ इत्यादि।

३ शत० ब्रा० १३ ४ ३ ११

४ अथर्ववेद ४ १०. १-३

५ वाज० स० २१ ७, शतारित्रा नौ।

वैदिक युगीन भारत तथा पश्चिमी एशिया के राज्यो के बीच व्यापारिक सम्बन्ध सूचित होता है। आर्यो के आक्रमण और सैन्धव सस्कृति के विध्वास से उत्पन्न उथल पुथल के कारण पुरा-ऐतिहासिक भारत एव पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक सम्बन्धो मे शिथिलता आ गयी थी किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक ये सम्बन्ध पुन स्थापित हुये। बाइबिल मे उल्लिखित ओफिर (आभीर ?) कर्पस (कपास) और कोफ (कपि) एव असुरवनिपाल (लगभग ७ वीं शताब्दी ई० पू०) के अभिलेखो मे कपडे के लिये प्रयुक्त सिन्धु शब्द इस प्रसग में उदाहरणीय हैं। एशिया माइनर के बोगजकुई के अभिलेख (लगभग १४०० ई० पूर्व) मे मित्र, नासत्य वरुण प्रभृति वैदिक देवताओ का उल्लेख हुआ है। एशिया माइनर जैसे सुदूरस्थ प्रदेशो के निवासियो का वैदिक देवताओ से परिचय निश्चित रूप से इस बात को सूचित करता है कि उत्तर वैदिक युग में भारत का पश्चिमी एशिया से पर्याप्त सास्कृतिक सम्बन्ध था। यह सम्बन्ध व्यापारिक सम्पर्क के कारण ही उत्पन्न हुआ होगा। भारतीय साहित्य में भी भारतीय व्यापारियों के पश्चिमी देशो की ओर जाने का वर्णन मिलता है। एक जातक कथा में, जो मूलत उत्तर-वैदिक कालीन हो सकती है बवेरु राज्य (बेबीलोन) की यात्रा का उल्लेख है। अथर्ववेद मे तैमात, उरुगूल, आलगी, विलिगी आदि अनेक ऐसे शब्द आये हैं जो विदेशी प्रतीत होते हैं। ग्रिफिथ ह्विटनी तथा ब्लूमफील्ड जैसे विद्वानो ने इन शब्दो को अस्पष्ट बतलाया है किन्तु बालगगाधर तिलक इन्हें बेबीलोन की अक्कादी भाषा से आया हुआ मानते हैं। इनमें तैमात तो निश्चियत बेबीलोनियन 'तियामत' प्रतीत होता है। उरुगूल शब्द का प्रयोग भी तिलक के अनुसार अक्कादी भाषा में पाताल के अर्थ में हुआ है। इसी प्रकार वैदिक शब्द अप्सु का सम्बन्ध अक्कादी शब्द 'अब्जु' से जोडा जा सकता है। श्री तिलक का तो यहाँ तक कहना है कि 'उरुक्रम', 'उरुगाय', 'उर्वशी' तथा 'अप्सुजित' जैसे सभी शब्द अक्कादी शब्दो से व्युत्पन्न हुये होगे। भारतवासियो का सम्भवत बेबीलोनियन ज्ञान विज्ञान से भी परिचय था। डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी का विश्वास है कि भारत में भार की इकाई के लिए प्रयुक्त होने वाला 'मन' शब्द 'मीना' से निकला है। इन तथ्यो के प्रकाश में तथा छठी शताब्दी ई० पू० में भारतीय व्यापार एव वाणिज्य की समुन्नत दशा तथा नागरिक जीवन के विकास को दृष्टिगत करते हुए उत्तर-वैदिक युग मे भारत और पश्चिमी एशिया के बीच व्यापारिक सम्बन्ध सर्वथा सम्भव प्रतीत होता है।

वदिक आर्यो के पारिवारिक सुख-सुविधाओं पर विचार करना भी यहाँ अनुचित नही होगा। वैदिक ग्रन्थो मे घर को सूचित करने वाले गृह, आयतन, पस्त्या, वास्तु, हर्म्य, दुरोण आदि अनेक शब्द मिलते हैं। सम्भवत ये विशिष्ट नाम घरो की विशिष्टता को लक्ष्य करके रखे गये थे। चारो ओर से दीवारों से घिरे रहने के कारण घर आयतन तथा द्वार-युक्त होने के कारण दुरोण कहलाता था। निवास-स्थान के अर्थ मे वास्तु और पस्त्या शब्द का प्रयोग भी होता था। हर्म्य (घर्म्य) शब्द ऐसे घरो का सकेत करता है जिसमे सरलता-पूर्वक धूप आ सकती हो। वैदिक-युगीन भवन अनेक कमरो से युक्त होते थे। यज्ञ के प्रसग मे हविर्धान, अग्निशाला, पत्नीना सदन, तथा सदस इन चार शब्दो का विशेष उल्लेख मिलता है जिससे साधारण वैदिक गृहो के अनेक कक्षो मे विभक्त होने की बात पुष्ट होती है। उत्सव तथा यज्ञो मे आने वाले अतिथियो के लिये भी पृथक् घर होता था जिसे आवसथ कहते थे।[1] तैत्तिरीय आरण्यक मे धनधानी नामक एक विशिष्ट प्रकार के भवन का उल्लेख है[2] जिसका उपयोग सम्भवत कोषागार के रूप में होता था। पशुओ के लिये भी अलग कमरे होते थे जिन्हें शाला कहते थे।

गृह-निर्माण एव विविध घरेलू उपकरण

पुरातात्विक साक्ष्यो तथा वैदिक उद्धरणो से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग के मकान बहुत ही साधारण और कामचलाऊ किस्म के होते थे। भवन-निर्माण के लिये बास, मिट्टी, लकडी, तथा कच्चे ईट प्रधान साधन थे। अथर्ववेद के दो सूक्तो में गृह-निर्माण की प्रक्रिया का वर्णन बडे विस्तार के साथ किया गया है[3] किन्तु पारिभाषिक शब्दों की दुर्ज्ञेयता के कारण रचना पद्धति का यथार्थ विवेचन अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। तथापि इनसे वैदिक भवनों की विशेषताओ का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। पुरातत्व एव साहित्य के सामूहिक साक्ष्य से ज्ञात होता है कि मकानो की दीवारें अधिकाशत मिट्टी, कच्चे ईट अथवा सरकण्डे (रीड्स) आदि से बनी होती थी जिस पर मिट्टी का पलस्तर होता था।[4] यद्यपि पके हुए ईटो का उल्लेख स्थान

---

१ अथर्ववेद ९ ६ ५

२ तै० आ० १०.६७

३. अथर्ववेद ३ १२, ९ ३

४ ऐन्श्येन्ट इण्डिया न० १०-११, पृ० ८५

स्थान पर यज्ञ-वेदी के निर्माण के प्रसग में हुआ है किन्तु पुरातात्विक अवशेषो से भवन-निर्माण में पके ईंटों का प्रयोग अज्ञात प्रतीत होता है।[१] मकानो की छत प्राय बास के लट्ठों और घास-फूस तथा खर की सहायता से बनाई जाती थी। पहले बास के टुकडे काट कर ढाचा बनाने का काम होता था। ढाचे को सम्भवत अक्ष कहते थे।[२] इसके ऊपर छाजन के लिए 'पलद' तथा तृण रखे जाते थे। इसके पश्चात् पूरे छाजनको रस्सियो से बाध दिया जाता था। छत को प्राय छदिस और छन्दस नाम से अभिहित किया गया है। अथर्ववेद (३ १२ ३) मे एक मकान को बृहच्छन्दस विशेषण दिया गया है। इस प्रकार मकानो की बनावट बहुत कुछ आजकल के ग्रामीण झोपडो की भाँति रही होगी। इतना अवश्य है कि आज के युग मे इन झोपडो के निर्माण का कारण दीनता है किन्तु वैदिक युग मे इसका कारण निर्माण-कौशल का अभाव था। उस युग के समृद्ध लोग भी ऐसे हीवास्तु हर्म्य और आयतन मे रहते थे जो अन्य भवनो की अपेक्षा कुछ विशाल, हवादार तथा अनेक कक्षों से युक्त रहे होंगे।

वैदिक साहित्य में पारिवारिक जीवन में काम आने वाले नाना प्रकार के उपयोगी उपकरणो का उल्लेख मिलता है। उनकी विविधता तथा-बनावट से भी तत्कालीन भौतिक जीवन पर कुछ प्रकाश पडता है। सर्वप्रथम हम घरेलू उपयोग की वस्तुओ में सोने और बैठने के लिये निर्मित विभिन्न आसनोंपर विचार करेंगे। याज्ञिक अनुष्ठानो के अवसर पर कुश के बने हुये प्रस्तर[३] 'वर्हि' और 'कूर्च'[४] का उपयोग किया जाता था। बैठने और लेटने के लिये चटाइया भी बनाई जाती थी। कशिपु (सेज) का निर्माण सम्भवतः

१ हस्तिनापुर के उत्खनन से इस युग से सम्बन्धित स्तर मे केवल एक खण्डित ईंट प्राप्त हुई है पके ईंटो से बनी एक भी दीवाल का अवशेष नहीं मिला। यही स्थिति रूपड के उत्खनन से भी प्रमाणित है।

२ अथर्ववेद ८ ८ १८ (अक्षुजालाभ्याम), ६ ३ १८, इस शब्द के अर्थ के सम्बन्ध मे बड़ा मतभेद है। किन्तु मकान के प्रसग मे ठाठ ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

३ ऋ० १०.१४४, अथर्ववेद १६ २ ६, तै० स० १७ ७ ४, वाज० स० २ १८।

४ तै० स० ७ ५ ८ ५, बृहदारण्यक २ ११ १, ऐत० ब्रा० ५ १ ४ वैदिक इण्डेक्स के लेखकों के अनुसार यह घास का एक आसन था जो बैठने के लिये उपयोग मे लाया जाता था।
वैदिक इण्डेक्स १ १७७, शत० ब्रा० ७.१३.४ ३ में हिरण्यकूर्च का उल्लेख है।

नरकट तथा कट (बेंत) की सहायता से होता था।[१] राजा अपने ऐश्वर्य के सूचनार्थ अश्वमेध में हिरण्यकशिपु (स्वर्ण आसन) पर बैठता था।[२]

ऐसा प्रतीत होता है कि समृद्धजनो के अन्त पुरों में बहुमूल्य शैय्या एवं आसनो का उपयोग होता था। ऋग्वेद के एक सूक्त में तल्प, वह्य और प्रोष्ठ पर लेटी स्त्रियो का उल्लेख हुआ है। ये तीनो आसन सम्भवत रचना और सजावट की दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न थे। 'तल्प' एक कीमती पलग था जिस पर विवाह के पश्चात् वर-वधू समागमार्थ शयन करते थे। अथर्ववेद के विवाह सूक्त में (१४ २.३१) वधू को प्रसन्नचित्त होकर तल्प पर आरोहण करने तथा पति केलिये प्रजा उत्पन्न करने का उपदेश दिया गया है।[३] शतपथ ब्राह्मण मे नियमत उत्पन्नपुत्र को 'ताल्प' सज्ञा दी गई है इससे भी इस विचार की पुष्टि होती है।[४] छान्दोग्य उपनिषद (५ १० ९) गुरुतल्पसेवी की गणना पच पातकियो मे करता है।[५] तल्प की रचना भी पवित्र उदुम्बर वृक्ष की लकडी से होती थी।[६] इन सभी बातो पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि तल्प वैवाहिक शैय्या थी जिस पर पति–पत्नी शयन करते थे।

ऋग्वेद में प्रोष्ठ-शया स्त्रियों का उल्लेख है। प्रोष्ठ का उल्लेख तैत्तिरीय ब्राह्मण (७.५५ ८) में भी हुआ है। यह काष्ठ–निर्मित बेंच प्रतीत होता है। इसके निर्माण के विषय में विशेष वर्णन का अभाव है। तल्प और प्रोष्ठ के अतिरिक्त वह्य एक सुखद आसन था। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है इसका उपयोग लोगों को (विशेषत स्त्रियो को) एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के लिये होता था। 'वह्य' आधुनिक पालकी और डोली का प्राचीन प्रतिनिधि जान पडता है। अथर्ववेद के एक प्रसग से यह विदित होता है कि श्रान्ता वधुए वह्य पर चढती थी।[७] अवश्य ही इसका उपयोग वधू के पति-

१ अथर्व० ६ १३८ ५ इसका निर्माण स्त्रियां करती थीं।

२. शत० ब्रा० १३ ४ ३ १

३. आरोह तल्प सुमनस्यमानेह प्रजा जनय पत्ये अस्मै

४. शत० ब्रा० १३ १.६ २

५. स्तेनो हिरण्यस्य सुरा पिबश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च एते पतन्ति चत्वार पञ्चमश्चारैस्तैरिति।

६ तै० ब्रा० १ २ ६ ५

७. अथर्ववेद ४.२०,३, सा भूमिमा रुरोहिथ वह्य श्रान्ता वधूरिव।

गृह गमन के समय होता रहा होगा।[१] इस प्रकार की परम्परा आज भी भारत के ग्राम्य-जीवन में प्रचलित दिखाई देती है।

परवर्ती संहिताओं[२] तथा ब्राह्मणों[३] में आसन्दी का भी उल्लेख है। इसका उपयोग केवल बैठने के लिये होता था। अतिथियों के आने पर उन्हें बैठने के लिये प्राय आसन्दी दी जाती थी। प्राप्त प्रसगों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि राजाओं के अभिषेक के अवसर पर उन्हें बैठने के लिये आसन्दी की व्यवस्था थी। ऐसे अवसरों पर निश्चय ही आसन्दी का प्रयोग राजसिंहासन के रूप में होता था। यह बात जनमेजय की राजधानी के नाम 'आसन्दीवन्त' से भी प्रमाणित होती है। ऐतरेयब्राह्मण (८.५,६) तथा शतपथ ब्राह्मण (५.४ ४ १) में आसन्दी के अग-प्रत्यग का विस्तृत वर्णन मिलता है जिससे अलकारो से सुसज्जित इस आसन के गौरव का आभास मिलता है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि यह खदिर वृक्ष की लकडी अथवा उदुम्बर की लकडी से बनाया जाता था।

---

१ ऋ० १० ३८ में सूर्या के विवाह के प्रसग में हम सूर्या को रथ में बैठकर पतिगृह को आते देखते हैं।

२ अथर्ववेद १४ २ ६५, १५ ३ २, तै० स० ७.५.८ ५, वाज० स० ८ ५६, १६.१६

३ ऐत० ब्रा० ८.५, ६, १२, शत० ब्रा० ३.३.४.२६, ५ २ १ २२, ५ ४ ४ १

—:o—

-ठय ख ा

उत्तर वैदिक युग में ही सामाजिक व्यवस्था की आधारशिला वर्ण व्यवस्था का विकास भी हुआ। ऋग्वेद का पुरुष सूक्त, (१० ९०) जिसमें वर्ण-व्यवस्था के सैद्धान्तिक औचित्य को सिद्ध करने का प्रथम प्रयास है, इसी युग की देन है। यह वर्णन कुछ परिवर्तन के साथ उत्तर वैदिक युग के अन्य ग्रन्थो में भी प्राप्त होता है।[१] ह्विटने महोदय ने अथर्ववेद (१९ ६ ६) के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की रचना भी अथर्ववैदिक युग के अन्तिम चरण मे ही हुई।[२] इस युग मे न केवल चार वर्णों एव अन्य व्यावसायिक वर्गों का रूप स्पष्ट हुआ बल्कि उनके साथ सामाजिक भेद-भाव की भावना का भी जन्म हुआ।

हम देख चुके है कि ऋग्वैदिक युग मे ही वर्गों का उदय प्रारम्भ हो चुका था। ब्राह्मण एव राजन्य अपने को विश से पृथक् और श्रेष्ठ बनाने में सलग्न थे। फिर भी वर्ण शब्द का प्रयोग अभी आर्य और दास इन परस्पर विरोधी और विजातीय लोगो के प्रजातीय एव सास्कृतिक पार्थक्य का ही द्योतक था। उत्तर वैदिक साहित्य मे हम आर्य-दास विरोध तथा द्विवर्ण की स्थिति का सहसा लोप देखते हैं और इसकी जगह स्थान-स्थान पर चार वर्णों का उल्लेख पाते हैं।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तर्जातीय विवाह-जन्य सम्मिश्रण के कारण जब अनेक आर्यों ने भी अपना मौलिक रूप रग खो दिया, जब दासियों के गर्भ से उत्पन्न होकर दीर्घतमा, औशिज और वत्स जैसे लोग ऋषित्व को प्राप्त हुए तथा जब कृष्णत्वच शूद्रों के अतिरिक्त राजन्य भी धूसर वर्ण वाले होने लगे[४] तब आर्य वर्ण और दास वर्ण का पुराना अन्तर स्वभावत मन्द पड गया। समाज के नवोदित चार वर्गों के लिये वर्ण शब्द का प्रयोग बडा ही कौतूहलजनक था क्योंकि पहले वर्ण शब्द का प्रयोग

१. अथर्ववेद १९ ६ ६, पच० ब्रा० ५ १-३-१०, वाज० सं० ३१ ११, तै० आ० ३ १२ ५-६
२ हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज, ८, पृ० ८९५-९८
३. शत० ब्रा० ५ ५ ४. ९, ६ ४ ४ १३, अथर्ववेद ३ ५. ७
४. वैदिक इण्डेक्स भाग २, पृ० २४७

सर्वथा पृथक् मानव समुदायो के लिये होता था किन्तु अब यह समाज के आन्तरिक विभाजन का प्रतीक बन गया। एक ओर तो सामजस्य एव समन्वय के माध्यम से अनार्यों के विशाल जनसमूह शूद्र नाम के अन्तर्गत आर्यों की सामाजिक व्यवस्था मे अन्तर्भूत हो चतुर्थ वर्ण बने[1] और दूसरी ओर आर्यों का अपना समाज वर्ग-विभाजन की दिशा में इतना आगे बढ चुका था कि जन की आन्तरिक एकता विश्रृखलित होने लगी। दासो के विशुद्ध सघर्ष में अपनी समग्रता के रक्षा हेतु वैदिक जन अपने को मात्र आर्य समझते थे किन्तु अपनी आन्तरिक व्यवस्था मे वे केवल आर्य न रह कर ब्राह्मण राजन्य और वैश्य हो चुके थे। ऐसी परिस्थिति मे वैदिक ऋषियों को आर्य वर्ण के अन्तर्गत तीन पृथक् वर्णों की कल्पना करनी पडी। इस प्रकार जहां विकसित श्रम-विभाजन के आधार पर आर्य वर्ण तीन वर्णों में विभाजित हुआ वही शूद्र वर्ण का उद्‌गमन आर्य सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत आर्येतर जनों के प्रवेश की सूचना देता है।[2]

पूर्व युग मे आर्यों की सम्मिश्रण सम्बन्धी नीति पर्याप्त उदार थी। यद्यपि प्रारम्भ में आर्य अनार्य सम्पर्क बहुत कम हुआ फिर भी जो अनार्य आर्यों की व्यवस्था में अन्तर्भूत हुये उनके लिये पृथक् वर्ग की व्यवस्था नही हुई। सम्भवत. आर्यों की सामाजिक व्यवस्था में उन्हें वही स्थिति मिली जो उनके अपने देशी समाज में थी। निम्न स्थिति वाले अनार्य तथा युद्धबन्दी दास पारिवारिक सेवकों के रूप में आर्य परिवारो के सदस्य हो गये होंगे। अनार्यो अथवा दासी के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का निषेध ऋग्वेद में अज्ञात है। इसके विपरीत गंगा की घाटी में जब आर्यों और स्थानीय जनो का सम्पर्क काफी बढ गया तब अल्पसख्यक विजेताओं की सस्कृति के लोप की शका उत्पन्न हो गई और ऐसा लगा कि देशी जनता और उसकी सस्कृति क प्रवाह में आर्यो की अपनी परम्पराएं विलीन हो जायगी अतः उन्होंने पार्थक्य की नीति को प्रोत्साहन दिया। साथ ही वे अनार्य जिन्हें शूद्र वर्ण के अन्तर्गत स्थान मिला, आर्थिक और सास्कृतिक दृष्टि से बहुत ही हीन थे। परिणामस्वरूप ये शीघ्रता पूर्वक विजेता की सस्कृति को नही अपना सके। इसके विपरीत आर्यों के लिये निम्नस्तरीय अनार्य सस्कृति में कोई आकर्षण नहीं था। यही नहीं इनकी कुछ इतनी

१ कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, भाग १, पृ० ९६, १२८-२९
२ रामप्रसाद चन्दा, इण्डो-आर्यन रेसेज, पृ० ३६

निष्कृष्ट परम्परायें भी थी जिन्हें निश्चित रूप से शूद्रो की सामाजिक हीनता का एक सहायक कारण कहा जा सकता है। उदाहरणार्थ श्वपाक श्वानमांस भक्षी थे और इसीलिये वे समाज मे अत्यन्त घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। इन नवोदित परिस्थितियों के परिणामस्वरूप शूद्रो के साथ स्वच्छन्द सम्मिश्रण का विरोध हुआ और सामाजिक व्यवस्था उत्तरोत्तर रूढिग्रस्त और कठोर होने लगी। शूद्रो को समाज का अङ्ग मानते हुए भी उन्हें अन्य तीन वर्णों के सास्कृतिक जीवन से वहिष्कृत करने का प्रयास किया गया तथा उन्हे द्विजातियो से पृथक् करने के लिये और धार्मिक एव सामाजिक सुविधाओ से हीन करने के लिये परवर्ती सहिताओ और ब्राह्मणो मे विभिन्न प्रकार के नियम बनाये गये। आर्यों के विस्तार पथ मे जो भी नई जातिया सम्पर्क मे आई वे अनायास शूद्र वर्ण के अन्तर्गत समाविष्ट हो गई। इस प्रकार इस नई व्यवस्था से एक तरफ अनार्यो के आर्यीकरण की समस्या का सरलतापूर्वक समाधान हुआ और दूसरी ओर अल्पसख्यक होते हुए भी आर्यो की सामाजिक और सास्कृतिक प्रधानता सुरक्षित रही।

शूद्रो के वहिष्करण तथा तत्सम्बन्धी नियम-निर्धारण का समाज पर वडा ही सक्रामक प्रभाव पडा। धीरे-धीरे समाज के उच्च वर्गों ने (ब्राह्मण और राजन्य) वैश्यो को भी अधिकार च्युत करना प्रारम्भ किया तथा अनेक प्रकार के नियमो की व्यवस्था द्वारा उनकी स्थिति को उत्तर वैदिक युग के अन्त तक शूद्रो के समकक्ष कर दिया। विश के सदस्य तक्षन और रथकार जो कभी यज्ञकर्म करते थे तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के पात्र थे[1] धीरे-धीरे शूद्र वर्ण में परिगणित हुए। सूत्र-काल तक वैश्यो को भी शूद्रो की भाति वाजपेय यज्ञ मे प्रवेश से वञ्चित कर दिया गया।[2] वर्णों के बीच के अन्तर को स्पष्ट करने के लिए विशिष्ट अधिकारो एवं कर्त्तव्यो की व्यवस्था हो रही थी तथा वर्णों के सापेक्षिक सामाजिक स्तर के निर्धारण का भी प्रयास हो रहा था। इस नवीन परिवर्तन के पीछे उच्च वर्गो की स्वार्थ भावना ही प्रवल थी। वे अपने विशिष्ट व्यवसाय को अपनी सन्तानों के लिये भी सुरक्षित रखना चाहते थे अतः वे अपने वर्ग के चारो ओर दुर्भेद्य और अनुल्लंघनीय

---

१ वाज० स० ३०.६ ७, अथर्ववेद ३.५ ६, शत० ब्रा० १३.४ २.१७, तै० ब्रा० १ १.४.८।

२ वाराह श्रौत सूत्र ३.१.१.१, किन्तु शास्या० श्रौ० सू० के अनुसार (१६ १७.४) वैश्यो को वाजपेय यज्ञ में भाग लेने का अधिकार था।

प्राचीर के निर्माण मे संलग्न थे। पौरोहित्य और राजत्व दोनों आनुवंशिक हो चले थे। वैसे यत्रतत्र कुछ अपवाद भी अज्ञात नही हैं। शतपथ ब्राह्मण विभिन्न वर्णों के लोगो के लिए विभिन्न आकार की चिताओं की व्यवस्था करता है।[१] इसी ग्रन्थ में यज्ञ के अवसर पर विभिन्न वर्ण के लोगो को पुकारने के लिये पृथक्-पृथक् सम्बोधनो की भी व्यवस्था की गई है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण (१.५) में बताया गया है कि ब्राह्मण को गायत्री मन्त्र का प्रयोग करना चाहिए, क्षत्रिय को त्रिष्टुभ का और वैश्य को जगती का। इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि ब्राह्मण को वसन्त मे, क्षत्रिय को ग्रीष्म में वैश्य को शीत मे और रथकार को वर्षा काल मे अग्निहोत्र करना चाहिए।[३] शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि यज्ञ मे ब्राह्मण को पलाश की लकडी का, क्षत्रिय को न्यग्रोध और वैश्य को अश्वत्थ की लकडी का प्रयोग करना चाहिए।[४] इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ण के पहचान के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के यज्ञोपवीत की भी कल्पना की गई। शतपथ ब्राह्मण में गायत्री मन्त्र के पाठ के सम्बन्ध मे नियम निर्धारित करते हुये कहा गया है कि इस मन्त्र को ब्राह्मण को भू से क्षत्रिय को भुव से और वैश्य को स्व से प्रारम्भ करना चाहिए।[५] इस प्रकार के अनेक नियमों ने वर्णों को एक दूसरे से सर्वथापृथक् कर दिया। आपातत ये नियम बिल्कुल साधारण और निर्दोष थे किन्तु ये ही क्रमश वर्णों के पारस्परिक पार्थक्य के प्रतीक बन गये।

हम देखते हैं कि उत्तर-वैदिक युग के प्रारम्भ मे वर्णों के आपसी सम्बन्धों में ऊच-नीच की भावना का विकास नही हो पाया था। अभी वर्णों के सापेक्षिक स्तर का निर्धारण भी नही हो सका था। यही कारण है कि स्थान-स्थान पर इन वर्णों का उल्लेख करते हुए वर्णन-क्रम मे सामाजिक प्रधानता का ध्यान नहीं रक्खा गया है। अथर्ववेद (१९ ३२.८) तथा वाजसनेयी सहिता (२६ २) में चार वर्णों के उल्लेख-क्रम मे शूद्र को तीसरा और

---

१ शत० ब्रा० १३ ८ ३ ११

२. वही, १ १ ४ १२, ब्राह्मण के लिए एहि, क्षत्रिय के लिए आगच्छ, वैश्य के लिए आद्रव और शूद्र के लिए आधव। इसमें वर्णों की सापेक्षिक प्रतिष्ठा के निर्धारण का प्रयास दिखाई देता है।

३ तै० ब्रा० १ १ ४

४ शत० ब्रा० ५ ३ २ ११

५ वही २ १ ३.४

वैश्य को चौथा स्थान दिया गया है।[1] मैत्रायणी संहिता (४.४.९) में वैश्य का उल्लेख राजन्य के पूर्व हुआ है। अथर्ववेद (३ ५ ७) में तो क्रमश राजन्य वैश्य शूद्र और आर्य का उल्लेख हुआ है। यहाँ आर्य शब्द का प्रयोग ब्राह्मण के लिए हुआ प्रतीत होता है जो कुछ विचित्र लगता है। ब्राह्मणो ने तो ऋग्वेदिक युग से ही अपनी सामाजिक प्रधानता का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था।[2] उत्तर वैदिक साहित्य में इसी प्रधानता के लिए क्षत्रियों और ब्राह्मणो का प्रच्छन्न सघर्ष मिलता है। किन्तु इन सभी प्रयासो के होते हुए भी पुरुषसूक्त मे उल्लिखित वर्णों का क्रम अभी सामाजिक दृष्टि से पूर्ण प्रतिष्ठित नही हो सका था। यह कार्य इस युग के अन्त तक अशत सफल हुआ क्योकि इस समयतक वैश्य और शूद्र निश्चित रूप से तृतीय और चतुर्थ वर्ण के अन्दर प्रतिष्ठित हो चुके थे किन्तु ब्राह्मणो और क्षत्रियों की प्रधानता की समस्या का समाधान नही हो सका। इस सघर्ष की परम्परा हमे बौद्ध साहित्य मे भी दृष्टिगोचर होती है।[3]

वर्णों के इस विकास में तत्कालीन धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियों का बड़ा योग था। धार्मिक क्षेत्र में नये मत्रो की रचना का कार्य प्राय समाप्त हो चला था। इस युग में अधिकाशत॰ यज्ञ-सम्बन्धी साहित्य का विकास हुआ तथा मत्र साहित्य से सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रन्थो की रचना हुई। यज्ञो की विधि तथा अनुष्ठान इतने विस्तृत और जटिल हो गये कि अनुभवी और प्रशिक्षित पुरोहित के अभाव में यज्ञ कार्य असम्भव होने लगा। धीरे-धीरे सम्पूर्ण धार्मिक साहित्य ब्राह्मणो के अधीन हो गया। फलत धार्मिक क्षेत्र मे ब्राह्मणो का एकाधिकार स्थापित हुआ। वैसे स्वतन्त्र रूप से यज्ञ करनेवाले लोग भी इस युग में अज्ञात नही थे[4] किन्तु उन्हे

वर्ण-व्यवस्था के विकास मे धार्मिक परिस्थितियो का योग

---

१ तै॰ सं॰ ५ २ १० १–३, काठक स॰ १७.५, वाज॰ स॰ १४.२८-३०

२ ऋ॰ ४ ५० ८

३ बौद्ध साहित्य में स्थान-स्थान पर क्षत्रियों को ब्राह्मणो से श्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास है।

४ ऐत॰ ब्रा॰ ७ २७ मे विश्वन्तर और श्यपर्णस के विषय में बिना पुरोहित की सहायता से यज्ञ करने का उल्लेख है।
—द्रष्टव्य वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ॰ २६२

पुरोहितो के कठोर विरोध का सामना करना पडा।[१] किसी भी मेधावी व्यक्ति के लिए अब बिना किसी कुशल पुरोहित से यज्ञ सम्बन्धी सैद्धान्तिक और व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त किए पौरोहित्य मे प्रवीण होना असम्भव था। इस स्थिति में पौरोहित्य स्वत ब्राह्मणेतर वर्ग के लिए अग्राह्य होने लगा। ब्राह्मणो ने व्यावहारिक रूप में अन्य वर्णों के लिए पौरोहित्य की शिक्षा का निषेध कर दिया तथा प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए गोत्र और प्रवर की व्यवस्था की।[२] सूत्रकाल तक आते-आते तो यहाँ तक नियम बनाये गये कि कोई भी ऐसा व्यक्ति पौरोहित्य नही कर सकता जिसका सम्बन्ध ऋषियो की तीन (कौषीतकि सूत्र) अथवा दस (लाट्यायन) पीढियो से न हो। राजन्य, जो धार्मिक क्षेत्र में भी ब्राह्मणो के प्रतिस्पर्धी थे याज्ञिक अनुष्ठानो की सूक्ष्मता से अनभिज्ञ होने के कारण, यज्ञ-धर्म से विरत हो ब्रह्मविद्यानुशीलन मे लगे तथा इस क्षेत्र में उन्हें पर्याप्त ख्याति भी मिली। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणों को एक पृथक् विशिष्ट वर्ग बनाने में धार्मिक परम्पराओं के विकास का बडा योग था। विशाल धार्मिक साहित्य एव सूक्ष्म याज्ञिक कर्मकाण्डो की सुरक्षा के लिए एक पृथक् वर्ग की स्थिति अनिवार्य हो गई। साथ ही यह भी कहा गया कि यज्ञ के सम्पादन में यदि किसी प्रकार की त्रुटि होती है तो यजमान अभीप्सित फल की प्राप्ति के विरुद्ध किसी सकट मे पड जाता है।[३] ऐसे नियमों ने धर्मभीरु जनता को इस बात के लिये विवश किया कि वे वशानुगत-पुरोहितो से ही यज्ञ कार्य में सहायता लें क्योंकि व्यवसाय के कारण याज्ञिक अनुष्ठानों के सम्पादन में ये अधिक सिद्धहस्त समझे जाते थे। स्वय पुरोहित के लिए भी यज्ञ सम्बन्धी क्रियाओ और विधि-विधानों में पारगत होना अनिवार्य था क्योंकि इन विधि-विधानों तथा मत्रों के पाठ में साधारण भूल का दुष्परिणाम पुरोहित को भी भोगना पडता था। शतपथ ब्राह्मण (१ ७ ३ १९) के अनुसार यज्ञ सम्पादन मे कुछ त्रुटि हो जाने के कारण एक पुरोहित का हाथ ही टूट गया था। यज्ञ के अवसर पर अपने उत्तर-दायित्व का समुचित वहन न करने के कारण आषाढि सौश्रोमतेय नामक पुरोहित

१ नवाऽपुरोहितस्यदेवा अन्न अदन्ति, ऐत० ब्रा० ४० १.

२ एन० के० दत्त, ओरिजिन् एण्ड ग्रोथ आव् कास्ट इन इण्डिया, पृ० ८१

३. ऐत० ब्रा० ७. २९

मृत्यु को प्राप्त हुआ।[१] यज्ञो का दुरूह और रहस्यमूलक होना शूद्रोंकी स्थिति को हीन बनाने मे भी सहायक हुआ। एक तो विस्तृत और व्ययपूर्ण यज्ञो के सम्पादन के लिये निर्धन शूद्रो के पास अर्थ और समय दोनो का अभाव था दूसरे वैदिक मन्त्रो के उच्चारण तथा विविध नियमों के आचरण में इन शूद्रो द्वारा अधिक त्रुटि की आशका थी। शूद्रो को वैदिक धर्म से वहिष्कृत करने का जो प्रयास हुआ उसका एक कारण यह भी था। बाद के युग मे जब स्त्रियां भी अशिक्षित होने के कारण वैदिक मन्त्रों के शुद्ध पाठ करने मे असमर्थ हुई तो उन्हें भी शूद्र कोटि मे रखा गया[२] तथा उनके लिये भी वैदिक-साहित्य का अध्ययन और विशिष्ट यज्ञो में भाग लेना निषिद्ध हो गया।[३] वैसे स्त्रियो की सामाजिक स्थिति के गिरने का कारण आर्य परिवारो मे बहुसख्यक अनार्याओ का प्रवेश भी था।[४] ये अनार्य स्त्रियाँ यज्ञमूलक धर्म से अपरिचित होने तथा आर्य भाषा के अल्पज्ञान के कारण स्वभावतः यज्ञ सम्बन्धी कृत्यो मे अनेक त्रुटिया करती रही होगी। यही कारण है कि इनके विरुद्ध समाज की जो प्रतिक्रिया हुई उसके परिणामस्वरूप उत्तर-वैदिक युग से ही स्त्रियो की गणना शूद्रो के साथ होने लगी तथा उनके व्यक्तित्व मे अपवित्रता का आरोप हुआ।[५] वैदिक ऋषियों ने युगीन सामाजिक विभाजन को धार्मिक पृष्ठभूमि प्रदान करने के लिए देवताओ को भी चार वर्णो मे विभाजित किया जिसके अनुसार अग्नि, बृहस्पति इत्यादि ब्राह्मण हुये, इन्द्र, वरुण और सोम क्षत्रिय कहे गये। रुद्र, आदित्य तथा विश्वदेव को वैश्य और पूषन को शूद्र कहा गया।[६]

यह युग धार्मिक परम्पराओ के साथ-साथ राजशक्ति के विकास का भी युग था। धीरे-धीरे राज्य विशालकाय एव स्थायी होने लगे। अश्वमेध एव वाजपेय जैसे यज्ञों की व्यवस्था हुई जिनके कारण राजन्य वर्ग की प्रतिष्ठा मे अतीव वृद्धि हुई। कालक्रम से क्षत्रियो की प्रभुता का प्रभाव इतना बढ़ा

---

१. शत० ब्रा० ६ २ १. ३७
२. शत० ब्रा० १४, १ १. १३
३. शाखा० ब्रा० २७, ४, अयज्ञियाणी पत्न्यो वहिर्वेदिहिता.।
४. राजा की चतुर्थ पत्नी पालागली शूद्रा ही हुआ करती थी।
५. शत० ब्रा० १४ १. १ १३।
६. मैत्रा० स० १. १०. १३, शत० ब्रा० १४. ४. २. २३-२५, ऐत० ब्रा० ३४. ५।

कि पुरोहित वर्ग भी उससे अप्रभावित नही रह सका । राजसूय यज्ञ के अव-अवसर पर ब्राह्मण भी क्षत्रिय से नीचे बैठता था ।[१] ब्राह्मण साहित्य मे ऐसे प्रसगो का अभाव नही है जहाँ राजन्य को सर्वाधिक उच्च और सामाजिक दृष्टि से प्रधान कहा गया है ।[२] असम्भव नही कि कुछ पुरोहितो ने आश्रयदाता की सन्तुष्टि के लिए समाज-सघर्ष की वेदी पर वर्गगत स्वार्थ का बलिदान किया हो । राजकीय शक्ति के विस्तार के साथ ही राजन्य वर्ग की अहंमन्यता भी बढ़ रही थी । विश (साधारण जनों) का शोषण हो रहा था ।[३] इन्ही राजन्यो के द्वारा पुरोहित भी प्रभूत धनराशि प्राप्त करते थे तथा यही विस्तृत एव व्ययसाध्य यज्ञो को प्रोत्साहन भी मिलता था । यही कारण है कि विशेष तौर से राजन्य वर्ग के लिए पुरोहित की सहायता को अनिवार्य बतलाया गया ।[४] क्रमश जब राजसत्ता निरकुश और वशानुगत होने लगी तब समिति और सभा जैसी लोकप्रिय सस्थाओ का भी ह्रास प्रारम्भ हो गया । इस प्रकार राजसत्ता के विकास ने ब्राह्मणो की भाँति ही क्षत्रियो को भी अपेक्षाकृत एक वशानुगत वर्ग में बदल दिया । यह वर्ग बुद्धिजीवी ब्राह्मणो को तो विशेष हानि न पहुँचा सका किन्तु वैश्यो और शूद्रो के शोषण और उत्पीडन सम्बन्धी इनका प्रयत्न युगीन सामाजिक इतिहास का करुण अध्याय है जिस पर हम अग्रिम पृष्ठो में विचार करेंगे ।

उत्तर वैदिक युग के सामाजिक विभाजन पर सर्वाधिक प्रभाव आर्थिक
परिवर्तनों का पड़ा । गगा की घाटी में पहुँच कर आर्यों ने अपनी आर्थिक
स्थिति को अधिक समृद्ध किया । उनके कृषि और
आर्थिक विकास और पशुपालन जैसे पैतृक व्यवसाय तो गगा के उपजाऊ
सामाजिक व्यवस्था मैदान में विकसित 'हुए ही साथ ही सामाजिक
पर उसका प्रभाव जीवन मे अनार्यों के प्रवेश के कारण विभिन्न
व्यवसायों एव उद्योग-धन्धों का विकास हुआ । सुख
और उपभोग की विभिन्न वस्तुओं के निर्माण की मात्रा मे वृद्धि तो हुई ही
उनकी निर्माण-कला मे भी पर्याप्त परिष्करण हुआ । इस युग में आर्यजन
नागरिक जीवन से भी उदासीन नहीं रह सके । मध्यदेश में नगरों का

---

१. शत० ५ । १४ ४. १ २३ ।
२. वही ।
३ विशामत्ताजनि, ऐत० ब्रा० ३९ ३
४ ऐत० ८ २४

निर्माण प्रारम्भ हुआ। पुरातात्विक अवशेषों के साक्ष्य से प्रमाणित होता है कि हस्तिनापुर और कौशाम्बीप्रभृति नगरों का अभ्युदय १००० ई० पू० के लगभग प्रारम्भ हो चुका था।[१] नागरिक जीवन के विकास के साथ ही व्यापार और वाणिज्य की ओर भी लोगो ने ध्यान देना प्रारम्भ किया। इस आर्थिक प्रगति के फलस्वरूप विभिन्न व्यवसायो ने, जो अभी तक विश अथवा वैश्य वर्ग के अन्तर्गत थे, पृथक् आर्थिक वर्गों का रूप धारण किया जो स्वनिर्मित नियमो के आधार पर सगठित हुए।[२] धीरे-धीरे इनका सगठन अन्तर्मुखी होता गया तथा ये पृथक् सामाजिक इकाइयों मे बदल गये। इस प्रकार वैश्य वर्ण के अन्तर्गत आन्तरिक विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई तथा विभिन्न व्यावसायिक सघ जातियो मे परिणत होने लगे। इन नवोदित आर्थिक परिस्थितियो का प्रभाव वर्णों के आपसी सम्बन्धो पर भी पडा। उत्पादन के साधनों की वृद्धि के साथ ही श्रम की समस्या बढने लगी जिसका समाधान विजित स्थानीय जनो को श्रमकार्य में नियोजित करके हुआ। अधिकाश शूद्र श्रमजीवी बनाये गये। परिणामस्वरूप इनमें और आर्य स्वामियों मे सम्पर्क बढा। इस सम्पर्क ने शूद्रों को जहा आर्यों की सामाजिक व्यवस्था का अविच्छिन्न अग बना दिया वही इसके कुछ दुष्परिणाम भी हुए। आर्यों के उच्च वर्ग धीरे-धीरे श्रमकार्य से उदासीन होने लगे तथा वैदिक युग के अन्त तक श्रम तथा श्रमजीवियो को लोग हीन दृष्टि से देखने लगे। यही कारण है कि शूद्रों के साथ साथ विश के वे सदस्य भी अनादृत और तिरस्कृत होने लगे जिनका व्यवसाय पहले नितान्त आदरणीय और प्रतिष्ठित था। उत्तर-वैदिक युग के विभिन्न औद्योगिक सघों की गणना, जो विश के अग थे, धर्मसूत्रो के काल तक शूद्र वर्ण के अन्तर्गत होने लगी। विचारार्ह है कि आर्थिक सम्पन्नता की पृष्ठभूमि मे ही यज्ञ मूलक धर्म और राजसत्ता का विकास भी सम्भव हो सका।

वर्णों की वास्तविक स्थिति का अध्ययन करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि उत्तर वैदिक साहित्य से प्राप्त कौन से प्रामाणिक अश सामाजिक आदर्शों अथवा नवीन सिद्धान्तो का प्रतिपादन करते

---

१ द्र० ऐन्श्येन्ट इण्डिया, न० १०-११, पृ० १४, एक्सकेवेसन्स एट कौशाम्बी पृ० ५-६

२ कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३७६।

हैं जो व्यावहारिक जीवन मे अज्ञात थे तथा कौन से अश सस्थाओ और नियमो की वास्तविक स्थिति को सूचित करते हैं। उदाहरणार्थ जहाँ ब्राह्मणो और क्षत्रियों के विशेषाधिकारो एव श्रेष्ठता का वर्णन हुआ है वहा यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि इनमें उच्च वर्ग के विशेषाधिकारो की स्थापना का प्रयास मात्र है या तत्कालीन समाज का ऐतिहासिक चित्र प्रतिविम्बित है। उत्तर वैदिक साहित्य में बहुधा हमे दोनो प्रकार के प्रसंग उपलब्ध होते हैं। क्योकि यह युग सस्थाओ के स्वाभाविक विकास तथा नियमों के निर्धारण, दोनो का था। किन्तु इन दोनो का विकास सहगामी नहीं है। प्राय सस्थाओं का जन्म पहले होता है और उन्हें सैद्धान्तिक रूप बाद में मिलता है किन्तु कुछ भिन्न परिस्थितियों मे समाज अथवा वर्ग-विशेष के स्वार्थसाधन हेतु नियमो की सृष्टि होती है तथा सस्थाओ को जन्म दिया जाता है। यह सत्य है कि वर्णों अथवा वर्गों का विकास विभिन्न आर्थिक और सामाजिक परिस्थितियो के प्रभाव से अनायास और अचिन्त्य रूप से हो रहा था किन्तु समाज का साधनसम्पन्न एव बुद्धजीवी वर्ग इस परिवर्तन के प्रति उदासीन नही था। ये लोग इन परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों तथा नवीन सस्थाओ को अपने लिये अधिकाधिक अनुकूल और उपयोगी बनाने के लिये नियमो और सिद्धान्तो की स्थापना कर रहे थे। बाह्य परिस्थितियो ने जहाँ सामाजिक विभाजन के कार्य को प्रोत्साहित किया वही अधिकारो के स्वामित्व की चेतना ने विभिन्न वर्गों के सदस्यो को पारस्परिक सीमा निर्धारण के लिये प्रेरित किया जिसके पीछे वर्ग के स्वार्थों की रक्षा तथा उनमें भावी हस्तक्षेप की आशका, दोनो ही प्रधान रूप से उपस्थित थीं। इस युग के सामाजिक जीवन मे अधिकाश नियमो का निर्माण इसी दृष्टि से हुआ। समाज में ब्राह्मणो और राजन्यो का वग शक्तिशाली था। विविध नियमों की स्थापना का कार्य भी पुरोहित वर्ग का ही विशेषाधिकार हो गया था। परिणामस्वरूप हम स्थान-स्थान पर ऐसे प्रसगो का उल्लेख पाते हैं जहाँ ब्रह्म और क्षत्र को दृढ़ करने का आदेश अथवा निवेदन है।[१] निश्चय ही विश के सदस्यो ने ऐसी क्रांतिकारी, एकपक्षीय एव अभूतपूर्व मान्यताओ का हार्दिक स्वागत नहीं किया होगा। साहित्यिक साक्ष्यो से ऐसा लगता है कि अन्ततोगत्वा ब्राह्मणो और क्षत्रियो को अपनी सामाजिक उच्चता तथा विशेषाधिकारो के प्रतिष्ठापन मे सफ-

१. वाज० स० ५ २७।

लता मिली। इस सामाजिक प्रधानता की प्राप्ति के लिये शास्त्र और शस्त्र का भी पर्याप्त आश्रय लिया गया। शिक्षा एवं प्रचार के अधिकाश साधन युगीन साहित्य के रूप मे ब्राह्मणो के हाथ मे केन्द्रीभूत थे। उन्होने अपने विचारो को धार्मिक आवरण मे लपेट कर समाज के समक्ष प्रस्तुत किया अत उनका विरोध करना असम्भव तो दुष्कर अवश्य हो उठा। दूसरी ओर राजन्य वर्ग ने अपनी शक्ति के प्रभाव से उन नियमो को समाज मे स्थिर करने का प्रयास किया। दुर्भाग्यवश सामाजिक इतिहास के क्षेत्र मे हमे जो प्रमाण उपलब्ध हैं वे एकपक्षीय दृष्टिकोण ही प्रस्तुत करते हैं क्योंकि अधिकाशत इनकी रचना विशिष्ट एवं विशेषाधिकारयुक्त वर्गों द्वारा हुई। यदि हमे इस सामाजिक व्यवस्थापन और वर्ण-सघर्ष के विषय में वैश्यों एवं शूद्रो की प्रतिक्रिया का भी ज्ञान होता, तो निश्चय ही सामाजिक इतिहास के अध्ययन में हम अधिक स्वस्थ निष्कर्ष निकालने में समर्थ होते।

वर्णों की सामाजिक स्थिति पर विचार करते हुये सर्वप्रथम हम उत्तरवैदिक युगीन ब्राह्मणों की दशा पर विचार करेगें। इस विषय मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या ब्राह्मण वर्ण वशानुगत हो चुका था? विद्वानों मे इस विषय पर बडा वैमत्य है। वेबर महोदय ने विषय के गभीर अध्ययन के पश्चात् यह स्थापना की कि उत्तर-वैदिक युग की वर्णव्यवस्था मे कुछ शिथिलता के होते हुए भी प्राय. वही चित्र दृष्टिगोचर होता है जिसे मनुस्मृति में आदर्श रूप में प्रस्तुत किया गया है।[1] वेबर महोदय का यह कथन ब्राह्मण वर्ण के वशानुगत होने का सकेत करता है। वैदिक इण्डेक्स के लेखको ने भी ब्राह्मणो और क्षत्रियो के व्यवसाय को वशानुगत माना है तथा इस बात पर बल दिया है कि इन वर्णों की सदस्यता उत्तर वैदिक युग तक जन्म पर आधारित हो चुकी थी।[2] यद्यपि ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व के परिचायक उनके अपने वर्ण धर्म थे किन्तु अब ये वर्णधर्म और वर्ण-व्यवसाय सबके लिए ग्राह्य नही थे। यदि कोई व्यक्ति ज्ञान और अध्ययन के द्वारा ब्राह्मणत्व की प्राप्ति का प्रयास करता था तो बहुधा उसे निराशा ही मिलती थी इससे स्पष्ट होता है कि जन्म की

ब्राह्मण-वर्ग की सामाजिक स्थिति

---

१. वेबर का मत, कारपोरेट लाइफ इन ऐन्इयेन्ट इण्डिया, पृ० ३३३ पर उद्धृत।

२ वैदिक इडेण्क्स, भाग २, पृ० २६४

हीनता की पूर्ति अब ज्ञान से सम्भव नही थी। यह बात प्राय प्रशस्त हो चली थी कि ब्राह्मणेतर व्यक्ति पौरोहित्य नही कर सकता है।[१] इस युग में एक भी विश्वामित्र नही हुआ जो क्षत्रियत्व से ब्राह्मणत्व की प्राप्ति कर सके।

श्री रमेशचन्द्र मजुमदार ने उक्त मत की आलोचना करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ब्राह्मणों का वर्ग एक व्यावसायिक सघ के रूप में था जिसकी सदस्यता का आधार जन्म नही बल्कि वेदाध्ययन था।[२] दूसरे शब्दो में ब्राह्मण केवल वे थे जो वेदो के विद्वान थे तथा पौरोहित्य मे निपुण थे।[३] उक्त विद्वान ने अपने मत की स्थापना का सतर्क एव सायास प्रयास किया है किन्तु पुष्टि के लिए दिये गये प्रमाण या तो शिथिल है अथवा उनकी व्याख्या पूर्वाग्रह से प्रभावित है। शतपथ ब्राह्मण में यह अवश्य कहा गया है कि याज्ञवल्क्य की शिक्षा से जनक ब्राह्मण हुए।[४] किन्तु इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र ब्राह्मणों ने जनक के द्वारा धार्मिक विवाद में पराजित होने पर उन्हें राजन्य वन्धु कहा है।[५] इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद मे प्रवाहण जैवलि नामक पचाल नरेश को भी राजन्य-बन्धु कहा गया है।[६] निश्चय ही ये दोनो नरेश वैदिक साहित्य एव धर्म के प्रकाण्ड पडित थे किन्तु इन्हें कहीं भी स्पष्टतः ब्राह्मण वर्ग के अन्तर्गत स्थान नही दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण (११ ६ २ १०) में जहा जनक को ब्राह्मण कहा गया है उसका तात्पर्य मात्र उनके ब्रह्म-ज्ञान का सूचक है न कि ब्राह्मण वर्ग की सदस्यता का।[७]

यदि ब्राह्मणेतर वर्ग के लोग अपने ज्ञान और विद्वत्ता के आधार पर ब्राह्मणत्व की प्राप्ति में समर्थ होते तथा ब्राह्मणो के सघ की सदस्यता के अधिकारी होते, जैसा कि मजुमदार महोदय सोचते हैं, तो राजर्षि और देवराजन जैसे शब्दों तथा सम्बोधनों की आवश्यकता नही होती।[८] जिस

---

१ एन० के० दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ० ८६
२ कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३४०–४१।
३ वही।
४ शत० ब्रा० ११ ६ २ १०।
५ वही ११.६ २ ५।
६. बृ० उप० ६.१.५।
७. वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २७२।
८. पच ब्रा० १२ १२.६, १८.१०.५।

समय याज्ञवल्क्य ने कुछ ब्राह्मण-ऋषियों को, जो जनक से धार्मिक वाद-विवाद के लिये उद्यत थे, ऐसा करने से रोका, उस समय के उनके तर्क निश्चय ही बड़े महत्वपूर्ण है। उनका कहना था कि 'हम लोग ब्राह्मण हैं किन्तु जनक केवल क्षत्रिय है। यदि हमने उन्हे पराजित किया तो इस विजय की बात हम किससे कहेगे। इसके विपरीत यदि उन्होने हमे पराजित किया तो सभी यह कहेगे कि एक क्षत्रिय ने ब्राह्मणों को पराजित किया। अत ऐसा कार्य आप लोग मत करें।, याज्ञवल्क्य के इस कथन से प्रकट होता है कि जनक-विद्वत्ता अथवा वैदिक ज्ञान के फलस्वरूप ब्राह्मण होने मे कदापि समर्थ नही हुये थे। इस प्रसग मे श्री मजुमदार का मत अवश्य ही एक भ्रान्त दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है क्योकि वह एकाकी प्रसगो पर आधारित है।

अपने मत की पुष्टि के लिए मजुमदार महोदय तैत्तिरीय सहिता और मैत्रायणी सहिता के दो अश उद्धृत करते हैं। तै० स० मे कहा गया है 'जो वेदों का ज्ञाता और आर्षेय है वही ब्राह्मण ऋषि है।'[1] मैत्रायणी संहिता तथा काठक सहिता मे कहा गया है कि ब्राह्मण के माता-पिता के विषय मे क्या पूछते हो ? जो श्रुतिवान है वही ब्राह्मण का पिता और पितामह है।[2] इन प्रसगो से निश्चय ही ज्ञान को ब्राह्मण का प्रधान गुण तथा ब्राह्मणत्व का मूल आधार बतलाया गया है किन्तु यह वर्णन हमारे समक्ष समाज का वास्तविक चित्र नही प्रस्तुत करता। हम ऊपर देख चुके हैं कि शक्तिशाली राजन्य वर्ग के लिए भी विद्वत्ता एवं ज्ञान के आधार पर ब्राह्मणत्व का गौरव प्राप्त करना असम्भव था फिर विश के अन्य सदस्यो के विषय मे क्या कल्पना की जाय। ऐसी स्थिति मे इन प्रसगों से केवल इतना अनुमान करना युक्तिसगत होगा कि ये ब्राह्मणत्व विषयक सामाजिक आदर्श का प्रतिपादन करते हैं जो वशानुगत पौरोहित्य की प्रतिक्रिया के रूप मे यत्र तत्र सकलित हैं। यथार्थ जीवन मे इन आदर्शों का कोई प्रभाव नहीं था।

मजुमदार महोदय ने ऐतरेय ब्राह्मण का वह अंश भी उद्धृत किया है जिस मे इस बात का सकेत है कि क्षत्रिय यज्ञकार्य में तब तक दीक्षित नही

---

१ एप वै ब्राह्मण ऋषिरार्षेयो य शुश्रुवान्—तै० स० ६ ६.१.५।

२ काठक स० ३०.१, मै० स० ४८ १, १०७ ६
कि ब्राह्मणस्य पितरम् किं उ पृच्छसि मातरम्
श्रुत चेद् अस्मिन् वेद्यम स पिता स पितामह ।

हो सकता जब तक वह अपने अस्त्र-शस्त्रों (तीर धनुष) तथा राजकीय वस्त्रों का त्याग कर ब्राह्मणोचित वस्त्र धारण करके, ब्राह्मण के रूप में, ब्राह्मण होकर, यज्ञ के लिये न प्रस्तुत हो।[१] मजुमदार महोदय इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालते है कि ब्राह्मणों और क्षत्रियो में कोई खास भेद नही था। दोनों अपने व्यवसाय एव जीवन पद्धति में परिवर्तन के साथ वर्ण-परिवर्तन भी कर सकते थे।[२] शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि 'जो कोई यज्ञ करता है, ऐसा मान कर करता है कि मानो वह ब्राह्मण हो।[३] कात्यायन ने अपने श्रौतसूत्र मे कुछ और स्पष्ट करते हुये कहा है कि 'वैश्य और राजन्य को भी ब्राह्मण शब्द से ही सम्बोधित करना चाहिए।[४] इसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि यज्ञ के लिये दीक्षित वैश्य और राजन्य को, यह राजन्य या वैश्य दीक्षित हुआ है, ऐसा नही कहना चाहिये, बल्कि 'यह ब्राह्मण दीक्षित हुआ है' ऐसा कहना चाहिये।[५] इस प्रसग में हमें यह नही भूलना चाहिये कि ये आदेश यज्ञ से सम्बन्धित हैं। यज्ञकर्ता क्षत्रिय जब यज्ञ के लिये दीक्षा लेता था तब वह ब्राह्मण की भांति ही पवित्र माना जाता था। साथ ही वह ब्राह्मणोचित नियमों का आचरण भी करता था किन्तु यजमान की यह पवित्रता तथा उसका ब्राह्मणत्व यज्ञ की अवधि तक ही सीमित था।[६] इसमें उसके स्थायी ब्राह्मणत्व का कोई भी सकेत नहीं है। यहाँ केवल ब्राह्मणो और यज्ञो की पवित्रता पर ही यथेष्ठ प्रकाश पड़ता है।

ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त शुन शेप की कथा इस बात की पुष्टि करती है कि ब्राह्मण की श्रेष्ठता केवल वेदाध्ययन एव विद्वत्ता के कारण नहीं थी। एक बालक भी ब्राह्मण परिवार में जन्म मात्र के कारण श्रेष्ठ और पवित्र समझा जाता था।[७] हरिश्चन्द्र के पुत्र के बदले जब शुन शेप के बलि की व्यवस्था हुई तब सन्तोष प्रकट करते हुये वरुण ने यह कहा कि 'निश्चय ही एक

---

१. ऐत० ब्रा० ७ १७, शत० ब्रा० ३.२.१–३९।
२. कारपोरेट लाइफ इन ऐन्शयेन्ट इण्डिया, पृ० ३३८।
३ शत० ब्रा० १३.४.१.३
४. कात्यायन श्रौ० सू० ६.४.१२
५. म्यूर, संस्कृत लिटरेचर, भाग १, पृ० ३६९
६ वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० २६३
७ ऐत० ब्रा० ३३ ४, भूयान्वे ब्राह्मण क्षत्रियादिति वरुण उवाच।

ब्राह्मण क्षत्रिय से अधिक उपयुक्त है'। शुन.शेप एक बालक था। वैदिक साहित्य मे इस बात का कोई सकेत नही है कि वह इस अल्पायु मे ही विद्वान अथवा पौरोहित्य करने में समर्थ था। फिर भी उसे ब्राह्मण कहा गया और क्षत्रिय से श्रेष्ठ बताया गया। इस कथानक से दो बातें स्पष्टत प्रमाणित होती हैं। प्रथम तो यह कि ब्राह्मण का पुत्र जन्म के कारण ब्राह्मण वर्ग का सदस्य था। दूसरे वह जन्म की पवित्रता के कारण ही क्षत्रियादि-अन्य वर्णों से श्रेष्ठ भी था। ऐसी स्थिति मे ब्राह्मण वर्ग को ज्ञान और कर्म पर आधारित व्यावसायिक सघ बतलाना दुराग्रह मात्र होगा। शतपथ ब्राह्मण में ब्राह्मणो की विशेषताओ का उल्लेख करते हुये उनकी एक विशेषता 'ब्राह्मण्य या वश की शुद्धता' (Purity of descent बताई गई है।[1] निश्चय ही यह ब्राह्मण्य शब्द वशानुगत ब्राह्मणत्व की ओर सकेत करता है अन्यथा यदि सभी वर्णों के लोग ब्राह्मण होने मे समर्थ होते तो फिर वश की शुद्धता का कोई महत्व ही नही था। वास्तव मे यहाँ ब्राह्मण्य शब्द का अर्थ ब्रह्मपुत्र होना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। उत्तर वैदिक साहित्य मे ब्रह्मपुत्र शब्द का भी प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण तथा सूत्र साहित्य से ज्ञात होता है कि ब्रह्मपुत्र एक सम्मान सूचक शब्द था।[2] बृहदारण्यक उपनिषद (६ ४ २९) से ज्ञात होता है कि ब्राह्मण का पुत्र होना बडे गौरव का विषय था। इन सभी प्रमाणो के सामूहिक साक्ष्य से सिद्ध होता है कि ब्राह्मण वर्ग वंशानुगत हो चला था तथा मात्र जन्म के कारण ब्राह्मण आदरणीय समझा जाने लगा था। वैसे अध्ययन, अध्यापन और पौरोहित्य ब्राह्मणो के प्रधान धर्म थे अत उनके लिए विद्वान और श्रुतिवान होना सर्वथा स्वाभाविक था। सम्पूर्ण उत्तर वैदिक साहित्य में निश्चयपूर्वक केवल एक उदाहरण सत्यकाम जाबाल का मिलता है जिसे गौतम हरिद्रुमत ने अज्ञात-गोत्र होने पर भी उपनीत किया किन्तु इस प्रसग में भी गौतम ने उसे दीक्षित करते हुए जो तर्क उपस्थित किये वे विशेष महत्वपूर्ण हैं। गौतम ने सत्यकाम से कहा था, सच्चे ब्राह्मण के अतिरिक्त और कोई ऐसी सच्ची बात नहीं कह सकता, जाओ सौम्य समिध लाओ। मैं तुम्हें—उपनीत करूगा क्योंकि

---

१. शत० ब्रा० ११ ५ ७ १ श्री मजुमदार ने भी ब्राह्मण्य का अर्थ वश शुद्धता ही स्वीकार किया है।— पूर्व उद्धृत ग्रन्थ, पृ० ३३४

२ शत० ब्रा० ११ ४ १.२ ६ आश्वलायन श्रो० सू० २ १८ १२ शाखा० श्रौ० सू०, १२ २१, १ २.

तुम सत्य से भ्रष्ट नही हुये।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि सत्यकाम की दीक्षा के पीछे गौतम द्वारा कल्पित उसका ब्राह्मणत्व ही था। विचारणीय है कि उपनिषद युग का विशिष्ट विद्वान होते हुये भी स्पष्टतः उसे कही भी ब्राह्मण नही कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि गौतम हरिद्रुमत की कृपा से उसे वैदिक साहित्य एव वाङ्मय का ज्ञान तो हुआ किन्तु फिर भी समाज ने उसके ब्राह्मणत्व को नही स्वीकार किया।

ब्राह्मणो ने एक ओर जहाँ अपने को वंशानुगत एव प्रवेशनिषिद्ध वर्ग में सगठित किया वही अपनी सामाजिक प्रधानता को भी स्थिर करने का प्रयास किया। उत्तर वैदिक युग तक ब्राह्मण वर्ग सामाजिक प्रधानता समाज मे विशेष सम्मान्य समझा जाने लगा था। ऋग्वेद में इनका उल्लेख पितरो के साथ हुआ है तथा यह भी कहा गया कि वही राजा सुख-शान्तिपूर्वक अपने घर में निवास करता है जो ब्राह्मणों का आदर करता है। ऐसा करने वाले राजा के लिये पृथ्वी सदैव उदार रहती है तथा सभी मनुष्य स्वेच्छया उसके समक्ष नत होते है[2]। ब्राह्मण की श्रेष्ठता का यह उद्घोष उत्तर वैदिक युग तक और भी प्रबल हो उठा। तैत्तिरीय सहिता में उसे प्रत्यक्ष देवता कहा गया है[3]। तैत्तिरीय ब्राह्मण में उसे दिव्य वर्ण वाला कहा गया है[4] तथा तैत्तिरीय आरण्यक में ब्राह्मणों की विद्वता का उल्लेख करते हुये कहा गया है समस्त देवता ब्राह्मणों में निवास करते है[5]। ताण्ड्य ब्राह्मण में उसे क्षत्रिय से उच्च स्थान दिया गया है[6]। इसी ग्रन्थ में अन्यत्र ब्राह्मण की महत्ता प्रकट करने के लिये उसे विराट पुरुष के मुख से निस्सृत कहा गया है[7]। ऐतरेय ब्राह्मण ३४, ४ में उसे क्षत्रिय से अधिक पवित्र और श्रेष्ठ माना गया है। अथर्ववेद ५ १७ ८ और ५ १७ ९ में भी ब्राह्मणो की प्रधानता की

---

१ छान्दोग्य उप० ४ ४ ५, स होवाचनैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति,
२ ऋ० ४, ५० ८
३. तै० स० १ ७ ३१ एते वै देवा प्रत्यक्ष यद् ब्राह्मणा।
४ तै० ब्रा० १.२ ६।
५. तै० आ० २ १५।
६. ताण्ड्य ब्रा० ११ १ २ ब्रह्म हि पूर्वं क्षत्रात्।
७ ताण्ड्य ब्रा० ६ १ ६ 'मुखेन वीर्यं करोति मुखतोहिसृष्ट'।

प्रतिध्वनि सन्निहित है। ब्राह्मणो का यह दावा अधिकाशत. समाज द्वारा मान्य हो चला था[1]।

ब्राह्मणो की इस मान्यता का मूल कारण उनका धार्मिक नेतृत्व था। जैसे-जैसे यज्ञादि धार्मिक क्रियाओ की महत्ता तथा मंत्रपाठ की शुद्धता की आवश्यकता बढती गई वैसे ही वैसे अन्य वर्णों की अपेक्षा ब्राह्मणों की श्रेष्ठता भी स्थापित होती गई। पुरोहित राजा की सफलता तथा समृद्धि के लिये विभिन्न प्रकार के अनुष्ठान एव यज्ञ करता था। वह राजा के धार्मिक जीवन मे पुरोहित था तथा राजनैतिक विषयों में परामर्शदाता सचिव।[2] उत्तर वैदिक युग में पौरोहित्य अत्यन्त विकसित रूप मे मिलता है। पुरोहितो के पास मत्र, तत्र, जादू टोने का विशाल भडार एकत्र हो गया था जिसे लोग राजा और प्रजा दोनो की सुरक्षा एव समृद्धि का सर्वाधिक व्यावहारिक और विशिष्ट साधन मानने लगे थे।[3] ब्राह्मणो ने जीवन के विविध क्षेत्रा मे विशेषाधिकारो का भी सृजन किया। उनके पीछे अपनी योग्यता और सेवा का न्यूनाधिक प्रतिदान प्राप्त करने की कामना ही प्रधान थी। शतपथ ब्राह्मण (६.५ ७ १) मे जहाँ ब्राह्मणो के गुणो का वर्णन करते हुए ब्राह्मण्य, प्रतिरुपचर्य्या, यश, और लोकपंक्ति का निर्देश हुआ है वहीं उन्हें अर्चा (सम्मान) दान, अजेयता और अवध्यता का भी अधिकारी बतलाया गया है।[4] अपने को आर्थिक दृष्टि से सुदृढ करने के लिये ब्राह्मणो ने धर्मकार्यों में पुरोहित की सहायता को अनिवार्य बतलाया। ऐतरेय ब्राह्मण (८ २४) से ज्ञात होता है कि राजा के लिए पुरोहित अनिवार्य माना जाता था। अन्यत्र

१ उत्तर वैदिक साहित्य में अनेक स्थानो पर इनके प्रति आदर और सम्मान व्यक्त किया गया है। (काठक स० २५ ३, तै० ब्रा० १ १.१० ६, शत० ब्रा० २ ४ १ १०, ३ ४ ६ आदि। शत० ब्रा० १४ ६ १ २ में उन्हें भगवन्त कहा गया है तथा काठक स० १६ १२ में कहा गया है कि ब्राह्मण जहाँ कही भी जाय भोजनादि से उसकी सेवा तथा स्वागत करना चाहिये।

२ ब्लूमफील्ड, अथर्ववेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण, पृ० ३२।

३ अथर्वेद एण्ड गोपथ ब्राह्मण, पृ० ३०

४. प्रज्ञा वर्धमाना चतुरो धर्मान् ब्राह्मण निष्पादयति ब्राह्मण्य, प्रतिरुपचर्या, यशो, लोकपक्ति लोक पच्यमानश्चतुर्भि. धर्मे ब्राह्मण भुनक्ति अर्चया च दानेन चाज्येयतया चावध्यतया च।

इसी ग्रन्थ में कहा गया है कि पुरोहितविहीन राजा का अन्न देवता नही स्वीकार करते अत यज्ञ कार्य के लिये अभिलषित राजा को पुरोहित की सहायता लेनी चाहिये।[1] उत्तर-वैदिक साहित्य मे स्थान-स्थान पर देवताओ और असुरो को भी पुरोहितो से युक्त बतलाया गया है और इस प्रकार धार्मिक कार्यो मे पुरोहितो के महत्व को परोक्ष रूप मे प्रकट किया गया है। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार विश्व रूप देवताओं का पुरोहित था।[2] काठक सहिता (४४) मे सणु और अमर्क को देवताओ का पुरोहित कहा गया है। ये पुरोहित दक्षिणा और दान के रूप मे अधिक से अधिक धन प्राप्त करने का प्रयास करते थे[3] तथा लोगो को गोदान आदि का महत्व बता कर दान की ओर प्रेरित करते थे। ब्राह्मणों को दान देना देवताओ को दान देने के समान समझा जाता था। ब्राह्मणों एव उपनिषदो के काल मे ऐसे अनेक राजा हुये जिन्होंने ब्राह्मण विद्वानों को प्रभूत धन राशि दी। इस प्रकार के राजाओ में विदेहराज जनक का नाम आदर से लिया जा सकता है। ब्राह्मणों ने अपनी अर्थलिप्सा की पूर्ति के लिये यहा तक नियम बनाया कि जो गायें जोड़ुवे बछड़ो को जन्म दें उन्हें ब्राह्मणों को दान कर दिया जाय[4]। इतना ही नही ब्राह्मणों ने अपने को आर्थिक शोषण से भी मुक्त करने का प्रयास किया। अथर्ववेद मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि उनकी गायो को अब्राह्मण नही खा सकते। यज्ञ की अवशिष्ट सामग्री के उपभोग का अधिकारी भी एकमात्र ब्राह्मण ही था[5] क्योकि देवताओ द्वारा भुक्तपदार्थ के उपभोग के लिये जिस पवित्रता की अपेक्षा थी वह ब्राह्मण के ही अन्दर थी। ऐतरेय ब्राह्मण ब्राह्मणों को आदायी और आपायी कहता है जिससे उनके दान ग्रहण करने और सोम रस पीने के विशेषाधिकारों की पुष्टि होती है[6]। दान ग्रहण करने के सम्बन्ध में उनका एकाधिकार इतना प्रबल हो उठा

---

१ ऐत० ब्रा० (४० १) न वा अपुरोहितस्य देवा अन्न मदन्ति तस्माद्राजा यक्ष्यमाणो ब्राह्मण पुरोदधीत देवा मे अन्नम् अदन्निति।

२ तै० स० २ ५ १ १, विश्वरूपो वैत्वाष्ट्रः पुरोहितो देवाना आसीत्।

३ ऐत० ब्रा० ३९ ६ २, ८ और ६

४ अथर्ववेद २ २८ ३

५ शत० ब्रा० २ ३ १ ३६

६ ऐत० ब्रा० ७ २६ २

था कि पचविंश ब्राह्मण[1] मे तरन्त और पुरुमिल्ह द्वारा दान ग्रहण के औचित्य को सिद्ध करने के लिये इस बात की ओर सकेत किया गया है कि उन्होने ऋग्वेद की ऋचाओ की रचना की थी[2]। इससे यह ज्ञात होता है उत्तरवैदिक युग तक दान ग्रहण करने के लिये ब्राह्मण ही सुपात्र समझे जाते थे। ब्राह्मणो ने अपनी दान वृत्ति को तुच्छता से बचाने के लिये नियम बनाया कि उन्हे दान मे ऐसी वस्तु नही ग्रहण करनी चाहिये जो अन्य वर्णो के लोगो द्वारा अस्वीकृत हो[3]।

सामाजिक जीवन मे ब्राह्मणो के कुछ ऐसे विशेषाधिकार थे जो उनकी श्रेष्ठ स्थिति का सकेत करते हैं। तैत्तरीय सहिता के अनुसार राजा ब्राह्मण को अपशब्द कहने वाले व्यक्ति को तथा ब्राह्मण को यातना देने वाले व्यक्ति को दण्डित करें। ब्राह्मणका रक्त बहाने वाला व्यक्ति पितरो के लोक को नही प्राप्त करता।[4] इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्राह्मणो को शारीरिक कष्ट देने वाले तथा उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को ठेस पहुँचाने वाले लोगो के विरुद्ध राजकीय दण्ड तथा दैविक अभिशाप दोनो की कामना की गई। यह निश्चयपूर्वक कहना प्राय कठिन है कि ब्राह्मणो द्वारा स्थापित इन विशेषाधिकारो को कहा तक सामाजिक मान्यता प्राप्त हो सकी थी। अथर्ववेद के अनुसार यदि किसी स्त्री के दस अब्राह्मण पति हों और ब्राह्मण उसका ग्यारहवाँ पति बने तो वही उसका वास्तविक पति होगा नकि वैश्य अथवा राजन्य।[5] इस कथन से ब्राह्मणो की सामाजिक श्रेष्ठता प्रमाणित होती है। बहुत बाद तक समाज मे अन्तर्जातीय विवाह के क्षेत्र मे अनुलोम विवाह को जो मान्यता मिलती रही उसके पीछे भी मूलत ब्राह्मणों की यह स्वार्थ भावना ही निहित प्रतीत होती है।

विशेषाधिकार

१ पच० ब्रा० १३ ७ १२

२ वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ८३

३ शत० ब्रा० ३ ५ १. २५. १३. ४. ३. १४

४ तै० स० २ ६.११

५. अथर्ववेद ५ १७ ६

ब्राह्मणों ने सर्वाधिक प्रयास राजसत्ता के प्रभाव से मुक्त-होने के लिये किया। राज्यारोहण के अवसर पर पुरोहित कहता था, 'हे मनुष्यों! यह व्यक्ति तुम्हारा राजा है। (किन्तु) ब्राह्मणों का राजा सोम है।'[१] इस प्रकार वे अपने को राजा के शासन से मुक्त मानते थे। इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र यह कहा गया है कि जब राजा भूमि तथा उससे सम्बन्धित अन्य वस्तुओं को पुरोहित को दान देता है तो इस दान के अन्तर्गत ब्राह्मण की सम्पत्ति नही शामिल हो सकती।[२] राजा केवल मूर्ख पुरोहित को छोड कर अन्य किसी भी ब्राह्मण को किसी प्रकार की यातना देने का अधिकारी नही था।[३] तैत्तरीय सहिता में ऐसा कहा गया है कि यदि किसी व्यक्ति के पास ब्राह्मण और अब्राह्मण कोई प्रश्न लेकर जाय तो उस व्यक्ति को पहले ब्राह्मण से बोलना चाहिए नकि अब्राह्मण से। ऐसा करने से वह व्यक्ति ब्राह्मण का नही स्वय अपना आदर करता है।[४] दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि यदि ब्राह्मण और अब्राह्मण किसी व्यक्ति से यह पूछें कि कौन बडा है तो उसे ब्राह्मण की प्रधानता घोषित करनी चाहिये। वैदिक इण्डेक्स के लेखकों तथा डा० घुरिये ने इस प्रसग को न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित करते हुये कहा है कि ब्राह्मण और अब्राह्मण मे वैधानिक विरोध (Legal disPute) उत्पन्न होने पर निर्णायक को प्रथम के पक्ष मे बोलना चाहिये।[५] परन्तु इस मत को स्वीकार करने में पर्याप्त कठिनाई है। प्रथम यह कि इस प्रसग मे कोई ऐसा स्पष्ट सकेत नही है जिसके आधार पर इसे न्याय व्यवस्था से सम्बन्धित किया जा सके। दूसरे प्रोफेसर कीथ ने स्वय 'अधिब्रू' शब्द का अर्थ करते हुये इस बात में सन्देह प्रकट किया है कि यहाँ

राजसत्ता के प्रभाव से मुक्ति का प्रयत्न

---

१ शत० ब्रा० ११.५ ७'१

२ शत० ब्रा० १३ ५ ४ २९, ६ २ १८, ७ १ १३

३ शत० ब्रा० १३ ४ २ १७

४ तै० स० २.५ ११ ९
यद् ब्राह्मणश्चाब्राह्मणश्च प्रश्नमेयाता ब्राह्मणायाधिब्रूयाद्यद् ब्राह्मणायाध्याहात्मनेध्याह यद् ब्राह्मण पराहात्मान पराह तस्मात ब्राह्मणो न परोच्य ।

५ वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ८३

इसका तात्पर्य 'निर्णय करना' ही होगा।[1] उन्होने यह स्वीकार किया है कि अधिब्रू शब्द का अर्थ बोलना' (Speak to) भी हो सकता है। तीसरे जहां स्मृतियो मे ब्राह्मणो द्वारा अनेक सुविधाओ की प्राप्ति का अन्य प्रयास मिलता है उन्हे न्याय के ऊपर उठाने का प्रयास कही भी नहीं है। यदि तैत्तिरीय सहिता मे ऐसी कोई व्यवस्था होती तो अवश्य ही स्मृतिकारो ने उसकी प्रामाणिकता का लाभ उठाकर न्याय के क्षेत्र मे भी विशेषाधिकारो की स्थापना का प्रयत्न किया होता।[2] ब्राह्मणो की हत्या को अवश्य ही महापातक समझा जाने लगा था। शतपथ ब्राह्मण के एक प्रसंग मे ब्राह्मण की हत्या को ही वास्तविक हत्या माना गया है।[3] अब्राह्मण की तुलना मे ब्राह्मण का वध एक गुरुतर अपराध था जिसकी तुलना भ्रूणहत्या से की गई है।[4] ब्रह्महत्या का प्रायश्चित अश्वमेघ यज्ञ से होता था।[5] इसके विपरीत पंचविंशब्राह्मण (१४ ६ ८) से ज्ञात होता है कि पुरोहित यदि अपने सरक्षक के साथ विश्वासघात करे तो उसे मृत्यु दण्ड भी दिया जा सकता था। निश्चय ही यह नियम एक असाधारण स्थिति की ओर सकेत करता है।

उपर्युक्त वर्णन से हमे ऐसा नही समझना चाहिये कि ब्राह्मणो ने सामाजिक जीवन मे केवल विशेष सुविधाओ की प्राप्ति का ही प्रयास किया बल्कि अपने कर्तव्यो एवं उत्तरदायित्वो के प्रति उत्तरदायित्व एव कर्तव्य भी वे पर्याप्त सजग रहे। उन्होने अपने को सामाजिक आदर्श का प्रति-रूप बनाने का प्रयास किया। ब्राह्मण के लिए प्रतिरूपचर्य्या (चरित्र की शुद्धता) एक अनिवार्य विशेषण थी।[6] उत्तर वैदिक साहित्य मे ब्राह्मणो के आचार के सम्बन्ध मे अनेक नियम तथा निर्देश मिलते हैं। ब्राह्मण से सदयता[7] और भद्रता[8] की आशा

---

१ हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, भाग १८, पृ० २०३
२. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० ३६, पादाटिप्पणी
३ शत० ब्रा० १३ ३ ५ ३
४. तै० सं० ६.५ १० २, काठक स० २७ ६
५. शत० ब्रा० ८ ३.१ १
६ वही ६ ५ ७ १
७. वही २ ३ २ १२
८ वही २ ३.४.६

की जाती थी। ब्राह्मण पुरोहित और शिक्षक के कार्य भी सम्पादित करता था। अत भाषा और उच्चारण की शुद्धता का ज्ञान भी उसके लिये आवश्यक था।[१] अपूत उच्चारण-(Impure speach) कभी-कभी श्यापर्णेय जैसे पुरोहितो के बहिष्कार और अपमान का कारण बन जाता था।[२] ब्राह्मणों को विलास और ऐश्वर्य से विमुख करने के लिये भिक्षा वृत्ति पर जोर दिया गया।[३] इनके अतिरिक्त अनेक स्थानो पर ब्राह्मणो के आचरण के के सम्बन्ध मे निषेध भी मिलते है। कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण के लिये शस्त्र धारण करना निषिद्ध है। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण मे ब्राह्मण को राज्य भार वहन करने मे असमर्थ बतलाया गया है[४] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण मे कहा गया है कि ब्राह्मण से लक्ष्मी नहीं प्रसन्न होती है।[५] उसे अश्लील वचन नही बोलना चाहिये।[६] स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिये तथा एक निश्चित आयु मे अपने पुत्र का उपनयन करना चाहिये।[७] जो ब्राह्मण इन नियमो की अवहेलना करता था उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा का ह्रास हो जाता था तथा वर्ग का पूर्ववत सदस्य होने के लिये उन्हें अनुष्ठान और व्रत करना पडता था।

ब्राह्मणों का उत्तरदायित्व समाज के बौद्धिक और आध्यात्मिक हितो की रक्षा करना था। इस लक्ष्य की सिद्धि के लिये उन्हें अपने ज्ञान और गुण द्वारा दूसरों की सहायता करनी पडती थी जिसे वे शिक्षक और पुरोहित के रूप मे पूरा करते थे। पौरोहित्य और शिक्षण दोनो के लिए वैदिक

---

१ शत० ब्रा० ३ २ १ १४, काठक स० १४ ५, ३७ २, वाज० स० २३ ६२

२ ऐत० ब्रा० ७ २७

३ कौषी० उप०, ६२ १०४

४ शत० ब्रा० ५ १ १ १२

५. तै० ब्रा० ३.९ १४, न वै ब्राह्मणे श्री रमते इति ब्राह्मणोन्योगायेद्राजन्योन्यः।

६ शत० ब्रा० ३ २.१ २४

७ वेवर का मत, कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३४०-४१ पर उद्धृत

ज्ञान (ब्रह्मवर्चसम्) की अनिवार्यता विभिन्न प्रसगो मे बताई गई है।[१] यद्यपि 'ब्रह्मवर्चसम्' की प्राप्ति मे अनेक अनुष्ठान भी सहायक बताये गये है किन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन स्वाध्याय बतलाया गया है। शतपथ ब्राह्मण मे स्वाध्याय की महिमा की भूरि-भूरि प्रशसा की गई है।[२] इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद मे यह कहा गया है कि विद्वान् श्रोत्रिय का विद्याजनित सुख परमानद के समान होता है।[३] बृहदारण्यक उपनिषद के एक प्रसग में स्वाध्याय और अध्यापन को सर्वोच्च तप माना गया है।[४] स्वाध्याय के विषय बहुधा तीन वेद (ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद) हुआ करते थे जिन्हें त्रयी कहा गया है। त्रयी के अध्येता विद्यार्थी को त्रिशुक्रिय[५] अथवा त्रिशुक्र[६] कहते थे। शतपथ ब्राह्मण तैत्तिरीय आरण्यक तथा छान्दोग्य उपनिषद मे अन्य अनेक विषयों के अध्ययन-अध्यापन का उल्लेख है[७] जैसे इतिहास, पुराण, गाथा, नाराशसी, ब्रह्मोद्य, देव-जन-विद्या, सर्पविद्या, अथर्वागिरस, देव, निधि, पित्र्य, राशि, और सूत्र इत्यादि। तैत्तिरीय आरण्यक तथा सूत्र साहित्य मे स्वाध्याय के लिये स्थान और काल का भी संकेत हुआ है।[८] यदि स्वाध्याय गाव के बाहर अरण्य अथवा किसी एकान्त आश्रम मे होता था तो विषय को स्फुट स्वर मे पाठ करके कठस्थ करने की स्वतत्रता थी (वाचा) अन्यथा गाव मे स्वाध्याय करने वालों के लिये मौन चिन्तन (मनसा) का आदेश था। ब्राह्मण के लिये स्वाध्याय और

---

१. तै० स० ४ १.७.१, ७ ५ १८.१, वाज० सं० २२ २२, २७ २, तै० ब्रा० ३ ८.१३ १, ऐत० ब्रा० ४ ११ ६-९, शत० ब्रा० १३ २ ६ १०, १० ३.५.१६, ११ ४ ४ १, पच० ब्रा० ६ ३ ५।

२. काठक स० ३७ ७, तै० ब्रा० २ ७ १ १, पच० ब्रा० २३ ७ ३, शत० ब्रा० २ ३ १ ३१

३ बृ० उप०, ४ ३ ३५-३९, तै० ब्रा० ९ ८

४ वही ७ ८.१०

५. काठक सं० ३७ ७

६ तै० ब्रा० २ ७.१ २

७ शत० ब्रा० ११ ५ ७ ५-८, तै० ब्रा० २ ९ १०, छान्दोग्य उप० ७ १ २ ४, २ १, ७ १

८ तै० ब्रा० २ १.१२-१५

तज्जन्य ज्ञान इतना आवश्यक समझा गया कि विद्वत्ता को ब्राह्मणत्व का अनिवार्य विशेषण माना गया।[१]

अध्यापन कार्य में यद्यपि ब्राह्मणेतर वर्ग के लोग भी यत्र तत्र भाग लेते थे तथापि इस व्यवसाय पर प्राय ब्राह्मणो का एकाधिपत्य था। ब्राह्मणों के साथ शिक्षण का इतना अधिक सम्बन्ध था कि जब गार्ग्य काशिराज अजातशत्रु के पास ब्रह्मज्ञान के लिये पहुँचे तो दूसरे ने उत्तर दिया कि क्षत्रिय के पास ब्राह्मण का विद्यार्जन के हेतु पहुँचना प्रतिलोम है।[२]

अध्यापन

शतपथ ब्राह्मण ब्राह्मणो के चार प्रधान धर्मों में लोकपक्ति (दूसरो को शिक्षा देना) को भी स्थान देता है। शिक्षक के रूप में उसका प्रथम कार्य अपने पुत्र को वैदिक शिक्षा एव याज्ञिक कर्मकाण्डो में प्रवीण करना था।[३] इस प्रकार वह अपने पुत्र को पैत्रिक व्यवसाय में भी दक्ष बनाता था। आरुणि और श्वेतकेतु की कथा तथा वरुण और भृगु के पौराणिक आख्यान[४] से पिता द्वारा पुत्र के शिक्षण की परम्परा प्रमाणित होती है।[५] कतिपय उद्धरणों से यह भी सिद्ध होता है कि कभी-कभी ये ब्राह्मण अपनी विशेषज्ञता के अभाव में अपने पुत्रों को अन्य लब्धप्रतिष्ठ विद्वानो के यहाँ भी भेजते थे।[६] अध्यापक के रूप मे वह बहुत से शिष्यो को साथ-साथ शिक्षा देता था।[७] वह मन और मस्तिष्क की पूरी शक्ति से विद्यार्थियो को पढाता था तथा उन्हें सब कुछ सिखाने का प्रयास करता था।[८] कुछ विद्यार्थियों के लिये सवत्सरवासिन शब्द का प्रयोग हुआ है जिससे यह प्रतीत होता है कि कभी-कभी विद्यार्थी एक वर्ष की अल्प अवधि तक ही एक आचार्य के पास निवास करते थे। विद्यार्थी अधिकाशत आचार्य के कुल मे ही रहते थे[९]

---

१ तै० स० ३ ६.१ ४, एप वै ब्राह्मण ऋषिरार्षेयोय शुश्रवन'

२ बृ० उप० २ १ १५, कौषी० उप० ब्रा० ४ १८

३ शत० ब्रा० १ ६ २ ४, बृ० उप० ५ २ १, छान्दोग्य ४ ५ ५, ५.११ ७

४ शत० ब्रा० ११ ६ १ १

५ बृ० उप० ६ १ १, शत० ब्रा० ११.६ १ १

६ द्र० वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ८८

७ तै० ब्रा० ७ ३

८. वही ७ ४

९ आचार्य कुलवासिन या अन्तेवासिन। छान्दोग्य उप० ३ २.५, ४.१०.१

और भोजन करते थे[1] और इसके बदले मे गुरुकी सेवा करते थे, जैसे गायो को चराना, यज्ञिय अग्नि को निरन्तर प्रदीप्त रखना आदि। सत्यकाम जाबाल के आख्यान से विदित होता है कि उसे गुरु के गायो की साथ रहने और तब लौटाने का आदेश दिया गया था जब उनकी संख्या एक सहस्र हो जाय। विद्यार्थी भिक्षाचरण में भी गुरु की सहायता करता था।[2]

कुछ खास विद्यायें विशिष्ट जनो के लिये ही थी। उनके अधिकारी सभी विद्यार्थी नही थे।[3] छान्दोग्य उपनिषद (५ ३) में प्रशासन को क्षत्रियो की विद्या कहा गया है। अध्ययन और अध्यापन सम्बन्धी विविध नियमो का विस्तृत वर्णन हमे सूत्र साहित्य में मिलता है।

यद्यपि साधारण गृह्य यज्ञ बिना पुरोहित की सहायता के भी सम्पन्न होते थे किन्तु श्रौत यज्ञो मे उसकी सहायता अपरिहार्य थी। ब्राह्मण साहित्य में विशालतम यज्ञों के लिये सोलह पुरोहितों तक की व्यवस्था मिलती है किन्तु अन्य अपेक्षाकृत साधारण श्रौत यज्ञो में चार, पाच, छ, सात और दस पुरोहित भी पर्याप्त समझे जाते थे।[4] शतपथ ब्राह्मण एक स्थानपर सदस्य नामक सत्तरहवें पुरोहित का भी उल्लेख करता है।[5] पचविंश ब्राह्मण सोलह के अतिरिक्त तीन अन्य पुरोहितो का वर्णन करता है[6] जिन्हें उन्नेतृ, अभिगर और अपगर कहा गया है। इस प्रकार कर्मकाण्डो और अनुष्ठानो की जटिलता के साथ-साथ पौरोहित्य पर भी ब्राह्मणो का एकाधिकार हो चुका था। पौरोहित्य ब्राह्मणो का पैत्रिक व्यवसाय था जिसकी शिक्षा उन्हें पिता पुत्र परम्परा से प्राप्त होती थी। ब्राह्मणों का यज्ञ से अभेद्य सम्बन्ध इस बात से प्रकट होता है कि कोई भी राजन्य अथवा वैश्य तब तक यज्ञ मे भाग नही ले सकता था जब तक स्वय ब्राह्मणोचित वेशभूषा न धारण करे।[7] फिर कोई ब्राह्मणेतर व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से यज्ञ मे पौरोहित्य

यज्ञ-सम्पादन

१. छान्दोग्य उप० ४ ३ ५
२ छान्दोग्य उप० ४ ३,५
३ पच० ब्रा० १५ ५ २८, तै० ब्रा० ३ ५.०.१, काठक स० ३७ १७
४. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ८९
५. शत० ब्रा० १०.४ २ १९
६ पच० ब्रा० २५ १४ ३
७ ऐत० ब्रा० ७ १४.१९

किस प्रकार कर सकता था। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षण कार्य के अतिरिक्त धार्मिक अनुष्ठानों और यज्ञों द्वारा वे राजा और प्रजा दोनो के सुख शान्ति का मार्ग प्रशस्त करते थे।

ब्राह्मण-क्षत्रिय प्रतिस्पर्धा

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है उत्तर वैदिक युग मे सामाजिक प्राधान्य और नेतृत्व के लिये ब्राह्मणो और क्षत्रियो में प्रतिस्पर्धा चल रही थी। ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मणों की उदीयमान श्रेष्ठता से धीरे-धीरे राजन्य वर्ग के अन्दर असन्तोष और क्षोभ का भाव उत्पन्न होने लगा था। वे राष्ट्र के प्रभु थे। विश पर उनका पर्याप्त प्रभाव था। अत॰ वे ब्राह्मणो के समक्ष अपनी सामाजिक हीनता को स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत नही थे। उन्होने न केवल ब्राह्मणो की सामाजिक श्रेष्ठता का विरोध किया बल्कि उनके स्थान पर अपनी श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी किया। घोषाल महोदय ने अनेक उद्धरणो की पृष्ठभूमि में यह प्रमाणित किया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय समाज के दो अत्यन्त शक्तिशाली वर्ग थे जिनके सम्पर्क और संघर्ष ने युग के सामाजिक इतिहास को गति प्रदान की।[१] शतपथ ब्राह्मण जैसे विशाल ग्रन्थो मे जहाँ ब्राह्मणो की श्रेष्ठता का प्रतिपादन हुआ है वही स्थान स्थान पर क्षत्रियो की यह विरोधात्मक प्रवृत्ति भी परिलक्षित हुई है। एक प्रसग मे स्पष्ट कहा गया है कि क्षत्रियो से श्रेष्ठ कुछ भी नही है। यही कारण है कि राजसूय के अवसर पर ब्राह्मण भी उसके समक्ष निम्नासन ग्रहण करता है।[२] इसी प्रकार अन्यत्र यह कहा गया है कि क्षत्रिय के पश्चात् ब्राह्मण मान्य है।[३] वस्तुतः आर्थिक सम्पन्नता और राजनैतिक प्रभुत्व के कारण राजन्य वर्ग की स्थिति भी बहुत सामान्य हो चली थी। तैत्तिरीय संहिता से ज्ञात होता है कि अन्य तीन वर्गों पर अपना प्रभाव स्थापित करने मे वह समर्थ हो चला था।[४] फिर भी ब्राह्मणो ने क्षत्रियो के राजनैतिक प्रभाव से मुक्ति का मुखर प्रयास किया। पुरोहित राजा के समक्ष राज्याभिषेक के अवसर पर इस बात की घोषणा करता था कि यह अभिषिक्त व्यक्ति सब

---

१ घोषाल, हिन्दू पा॰लक लाइफ, पृ० ७३ ८०
२. शत० ब्रा० १४ ४ १ २३
३ सेक्रेड बुक्स आव दि ईस्ट, ग्रन्थ ६, पृ० ९६
४. तै० स० २.५.१० १

लोगो का राजा है। किन्तु ब्राह्मणो का राजा सोम है।[१] इस प्रकार अपनी सामाजिक महत्ता को अक्षुण्ण रखने के लिए उन्होने सदैव अपने को राजाओ के प्रभाव क्षेत्र के बाहर रखने का प्रयास किया तथा इसके लिए नियम बनाये। वेवर महोदय का मत है कि इसी सघर्ष काल में ब्राह्मणो ने ब्रह्मजय, ब्रह्मगाव, शतरुद्रिय जैसे स्तोत्रो की रचना की। क्षत्रियों को पौरोहित्य जैसे धार्मिक कार्यों से पृथक् तो किया ही गया साथ ही यत्र-तत्र उनकी पुरोहितो को नियुक्त करने और निकालने की भी स्वतन्त्रता जाती रही।[२] जनमेजय पारिक्षित ने कश्यपो को अपने पौरोहित्य से पृथक् कर दिया था किन्तु असितमृग ने उन्हे पुन पौरोहित्य मे लगाने के लिये विवश किया।[३] विश्वन्त सौशदमन ने अपने पुरोहित को यज्ञ से बहिष्कृत करने के पश्चात् पुन नियुक्त किया था। किन्तु इसके विपरीत महाभारत में कार्तिवीर्य और विश्वामित्र की कहानी है जिन्हो ने क्रमश जमदग्नि और वशिष्ठ की गायो का अपहरण किया। पुराणों मे भी ऐसे राजाओ के उदाहरण मिलते हैं जिन्हो ने ब्राह्मणो के साथ दुर्व्यवहार किये। अथर्ववेद में ब्राह्मणों तथा उनकी गायो को हानि पहुँचाने वाले राजन्यो को शाप दिया गया है कि उनका राज्य वैसे ही नष्ट हो जाय जिस प्रकार टूटी नौका जल मे नष्ट हो जाती है।[४] इससे स्पष्ट है कि ब्राह्मणो के साथ दुर्व्यवहार करने वाले तथा उनकी गायो का अपहरण करनेवाले निरकुश राजन्य भी उत्तर वैदिक युग मे अज्ञात नही थे। अथर्ववेद के एक मन्त्र मे ब्रह्म जाया के अपहरण की दुष्परम्परा का भी सकेत मिलता है।[५] ऐसे राजन्य को ब्राह्मणो ने निर्धन और दरिद्र होने का शाप दिया है।

उपनिषदो के काल तक यह श्रेष्ठता विषयक ब्राह्मण क्षत्रिय सघर्ष और तीव्र हो गया। ब्राह्मणो की मान्यता के दो प्रमुख कारण थे। प्रथम उनका

१ शत० ब्रा० ११ ५ ७ १
२ दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ० ९०
३ ऐत० ब्रा० ७ २७
४ अथर्व० ५ १९ ३ और ८
५ अथर्व० ५ १७ १४

नास्यक्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेति अग्रत ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्यजाया चित्या ।

ज्ञान और दूसरा धार्मिक कार्यों में उनकी अनिवार्यता । अत इन दोनों क्षेत्रों में क्षत्रियो ने अपने को ब्राह्मणों के समकक्ष लाने की कोशिश की । उपनिषत्-कालीन राजन्य वर्ग ब्राह्मणों की भाँति अध्ययन अध्यापन, मनन-चिन्तन मे सलग्न दिखाई देता है । जब समग्र याज्ञिक और कर्मकाण्डीय धर्म पुरोहितों के हाथ में केन्द्रीभूत हो गया तब इस दिशा मे प्रवेश निषिद्ध देख क्षत्रियो ने धर्म के क्षेत्र में एक नये पथ का अनुसरण किया जिसके माध्यम से वे ब्राह्मणो के समान ही यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करने मे समर्थ हुये । यह उप-निषदों की नई विद्या थी जिसे ब्रह्म-विद्या के नाम से भी अभिहित किया गया है । इसके अन्तर्गत ब्रह्म और आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण प्रारम्भ हुआ । इस युग मे सर्व प्रथम भारतीय मस्तिष्क ने आदिम विश्वासो और मान्यताओ से ऊपर उठकर सत्य के वास्तविक स्वरूप के निर्धारण का वैज्ञानिक प्रयास किया । इस नई विद्या में राजन्य वर्ग यदि ब्राह्मणों से श्रेष्ठ नही तो समान अवश्य था । बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार जनक वेदों और उपनिषदों के ज्ञाता थे ।[१] पचाग्नि विद्या का तो प्रादुर्भाव ही प्रवाहण जैवलि से हुआ था ।[२] क्षत्रिय विद्वानों की विद्वत्ता और ख्याति इस बात से प्रमाणित होती है कि अनेक लब्धप्रतिष्ठ ब्राह्मण-विद्वान भी इनके समीप अध्ययन करने जाते थे । उदाहरणार्थ याज्ञवल्क्य ने जनक से शिक्षा प्राप्त की थी ।[३] बालाकि गार्ग्य ने अजातशत्रु से[४] तथा श्वेतकेतु आरुणेय ने प्रावहण जैवलि से ।[५] छान्दोग्य उपनिषद में यह भी बताया गया है कि एक बार पाँच ब्राह्मण उद्दालक आरुणि के पास एक समस्या के समाधान के लिये आये । स्वय अनभिज्ञ होने के कारण वे उन्हें राजा अश्वपति कैकय के पास ले गये जिन्होने समस्या का समुचित समाधान किया । इस प्रकार क्षत्रियों ने अध्ययन और अध्यापन के क्षेत्र मे कीर्ति अर्जित की तथा ज्ञान के क्षेत्र में ब्राह्मणो के एकाधिकार को खडित किया ।

जहाँ तक याज्ञिक कार्यो मे ब्राह्मणो की अनिवार्यता का प्रश्न था इसका समाधान क्षत्रियों ने दूसरी रीति से किया । उन्होंने याज्ञिक धर्म के मूल पर

---

१ बृ० उप० ४ २ १

२ छान्दोग्य उप० ५ ३ ७

३ शत० ब्रा० ११ ६ २ १ ५

४ बृ० उप० २ १

५ छान्दोग्य उप० ५ ११

ही कुठाराघात किया। आत्म-यजन, चिन्तन और मनन की अपेक्षा यज्ञो की हीनता प्रदर्शित की गई।[1] तपश्चर्या और त्यागपूर्ण जीवन पर बल दिया गया। उपनिषदो मे सर्वप्रथम हिंसात्मक यज्ञो के विरुद्ध नियम प्रतिपादित किये गये।

उपनिषदकाल मे ब्राह्मण-श्रेष्ठता के विरुद्ध जो असन्तोष उत्पन्न हो रहा था वह निरन्तर विकासोन्मुख रहा तथा छठी सदी ई० पू० तक उसने प्रकट विद्रोह का रूप धारण कर लिया। बौद्ध एव जैन धर्म मे न केवल यज्ञमूलक ब्राह्मण धर्म का विरोध हुआ बल्कि उनमे ब्राह्मणो की सामाजिक श्रेष्ठता के प्रति क्षत्रियो की अस्वीकृति भी परिलक्षित होती है। बौद्ध और जैन धर्मो के प्रवर्तको का क्षत्रिय होना कोई आकस्मिक घटना नही थी। उत्तर वैदिक साहित्य मे ब्राह्मणो और क्षत्रियो के इस पारस्परिक सघर्ष के निवारण तथा सहयोग की भावना को उत्पन्न करने का प्रयास भी दिखाई देता है। तैत्तिरीय सहिता मे दोनो की महानता का यशोगान किया गया है।[2] इस ग्रन्थ के अनुसार राजन्य युक्त ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणो से श्रेष्ट है तथा ब्राह्मण युक्त क्षत्रिय अन्य क्षत्रियो से श्रेष्ठ है।[3] ऐतरेय ब्राह्मण पुरोहित को क्षत्रिय की आधी आत्मा बतलाता है।[4] शतपथ ब्राह्मण में कई स्थानो पर इस बात का सकेत है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय का सहयोग कीर्ति और सफलता प्रदान करने वाला होता है। इसी ग्रन्थ मे यह भी कहा गया है कि किसी विशेष कृत्य का सम्पादन करने वाले राजन्य को ब्राह्मण कि सहायता लेनी चाहिये क्योकि ब्राह्मण के सहयोग से किया गया क्षत्रिय का कार्य सफल होता है।[5]

१. छान्दोग्य उप ५ १५.५, कौपी० उप० २.५
२. तै० सं० ५ १ १० ३
३ तै० स० ५ १ १० ३ तस्मात ब्राह्मणों राजन्यवानत्यन्य ब्राह्मण तस्माद्राजन्यो ब्राह्मणवानत्यन्य राजन्यम्।
४ ऐत० ब्रा० ३४४ अर्धात्मो हवा एष क्षत्रियस्य यत्पुरोहित ।
५. शत० ब्रा० ४ १. ४ ६ तस्माद्‌ क्षत्रियेण करिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मण । स हैवास्मै तद ब्रह्मप्रसूत कर्मर्ध्यते।

राजन्य-वर्ग और उसकी सामाजिक स्थिति

जब हम स्वतन्त्र रूप से उत्तरवैदिक युग के राजन्य-वर्ग की स्थिति पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि राजनैतिक प्रभुत्व के कारण क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा इतनी बढी हुई थी कि राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को प्राणिमात्र का अधिपति, धर्म और ब्राह्मण का रक्षक कहा जाता था।[1] शतपथ ब्राह्मण मनुष्यो में श्रोत्रिय और राजा इन दोनो को धृतिव्रत बतलाता है।[2] तैत्तिरीय संहिता के अनुसार राजा मनुष्यो को बन्धनयुक्त बनाता है।[3] राजन्यो की शक्ति का प्रभाव समाज के शेष तीन वर्णों पर इतना अधिक था कि वे ब्राह्मणों के निष्कासन और निर्वासन में समर्थ थे, विश के अत्ता (भक्षक या शोषक) समझे जाते थे तथा शूद्रों को अनायास ही मृत्युदंड दे सकते थे।[4] इससे स्पष्ट होता है कि राजनैतिक प्रभुत्व मे वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक प्रभुत्व भी बढता जा रहा था।

इस युग के क्षत्रिय वर्ग को सबसे बड़ा श्रेय उपनिषदो के दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन का दिया गया है।[5] कतिपय क्षत्रिय नरेशों के दार्शनिक ज्ञान का परिचय हमे छान्दोग्य उपनिषद ५ ३, ५ ११, बृहदारण्यक उपनिषद २ १, ६ २, और कौषीतकि उपनिषद १ १, ४ १, से होता है। इन उद्धारणो से यह प्रकट होता है कि ब्राह्मणो की भांति राजन्य भी धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों में पर्याप्त रुचि लेते थे। काणे महोदय ने क्षत्रियो के ब्रह्मविद्याप्रणेता होने में सन्देह व्यक्त किया है तथा इस पक्ष की पुष्टि के लिये अनेक तर्क व प्रमाण प्रस्तुत किये हैं[6] किन्तु उनके तर्क केवल डॉसन तथा भण्डारकर महोदय की स्थापना को

---

१ ऐत० ब्रा० ३८ और ३९, ३, क्षत्रियो जनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि-विशामत्ताजनि— ब्राह्मणों गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि।

२. शत० ब्रा० ५ ४ ४, धृतव्रतो वै राजा—एष च श्रोत्रियश्च तौ ह वै मनुष्येषु धृतव्रतौ।

३ तस्मात् राजा मनुष्या विधृता। तै० सं० २ ६ २, २

४ तै० ब्रा० ३ १२ ९ ऐत० ब्रा० ७ २९ १

५. द्र०, भण्डारकर, 'वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' पृ० ९

६. हिस्टरी आफ धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० १०७

ही कुठाराघात किया। आत्म-यजन, चिन्तन और मनन की अपेक्षा यज्ञो की हीनता प्रदर्शित की गई।[१] तपश्चर्या और त्यागपूर्ण जीवन पर वल दिया गया। उपनिषदो मे सर्वप्रथम हिंसात्मक यज्ञो के विरुद्ध नियम प्रतिपादित किये गये।

उपनिषदकाल मे ब्राह्मण-श्रेष्ठता के विरुद्ध जो असन्तोष उत्पन्न हो रहा था वह निरन्तर विकासोन्मुख रहा तथा छठी सदी ई० पू० तक उसने प्रकट विद्रोह का रूप धारण कर लिया। बौद्ध एव जैन धर्म मे न केवल यज्ञमूलक ब्राह्मण धर्म का विरोध हुआ वल्कि उनमे ब्राह्मणो की सामाजिक श्रेष्ठता के प्रति क्षत्रियो की अस्वीकृति भी परिलक्षित होती है। बौद्ध और जैन धर्मों के प्रवर्तको का क्षत्रिय होना कोई आकस्मिक घटना नही थी। उत्तर वैदिक साहित्य मे ब्राह्मणो और क्षत्रियो के इस पारस्परिक सघर्ष के निवारण तथा सहयोग की भावना को उत्पन्न करने का प्रयास भी दिखाई देता है। तैत्तिरीय सहिता मे दोनो की महानता का यशोगान किया गया है।[२] इस ग्रन्थ के अनुसार राजन्य युक्त ब्राह्मण अन्य ब्राह्मणो से श्रेष्ट है तथा ब्राह्मण युक्त क्षत्रिय अन्य क्षत्रियो से श्रेष्ठ है।[३] ऐतेरेय ब्राह्मण पुरोहित को क्षत्रिय की आधी आत्मा बतलाता है।[४] शतपथ ब्राह्मण में कई स्थानो पर इस बात का सकेत है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय का सहयोग कीर्ति और सफलता प्रदान करने वाला होता है। इसी ग्रन्थ मे यह भी कहा गया है कि किसी विशेष कृत्य का सम्पादन करने वाले राजन्य को ब्राह्मण कि सहायता लेनी चाहिये क्योकि ब्राह्मण के सहयोग से किया गया क्षत्रिय का कार्य सफल होता है।[५]

१. छान्दोग्य उप ५ १५ ५, कौपी० उप० २.५
२. तै० सं० ५ १ १० ३
३. तै० स० ५ १ १० ३ तस्मात ब्राह्मणो राजन्यवानत्यन्यं ब्राह्मण तस्माद्राजन्यो ब्राह्मणवानत्यन्य राजन्यम्।
४ ऐत० ब्रा० ३४४ अर्धात्मो हवा एप क्षत्रियस्य यत्पुरोहित।
५. शत० ब्रा० ४. १ ४. ६ तस्मादु क्षत्रियेण करिष्यमाणेनोपसर्तव्य एव ब्राह्मण। स हैवास्मै तद ब्रह्मप्रसूत कर्मध्यते।

राजन्य-वर्ग और उसकी सामाजिक स्थिति

जब हम स्वतन्त्र रूप से उत्तरवैदिक युग के राजन्य-वर्ग की स्थिति पर विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि राजनैतिक प्रभुत्व के कारण क्षत्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा इतनी बढ़ी हुई थी कि राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को प्राणिमात्र का अधिपति, धर्म और ब्राह्मण का रक्षक कहा जाता था।[१] शतपथ ब्राह्मण मनुष्यो में श्रोत्रिय और राजा इन दोनो को धृतिव्रत बतलाता है।[२] तैत्तिरीय संहिता के अनुसार राजा मनुष्यो को बन्धनयुक्त बनाता है।[३] राजन्यो की शक्ति का प्रभाव समाज के शेष तीन वर्णों पर इतना अधिक था कि वे ब्राह्मणो के निष्कासन और निर्वासन में समर्थ थे, विश के अत्ता (भक्षक या शोषक) समझे जाते थे तथा शूद्रों को अनायास ही मृत्युदड दे सकते थे।[४] इससे स्पष्ट होता है कि राजनैतिक प्रभुत्व में वृद्धि के साथ-साथ सामाजिक प्रभुत्व भी बढ़ता जा रहा था।

इस युग के क्षत्रिय वर्ग को सबसे बडा श्रेय उपनिषदो के दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन का दिया गया है।[५] कतिपय क्षत्रिय नरेशों के दार्शनिक ज्ञान का परिचय हमे छान्दोग्य उपनिषद ५ ३, ५ ११, बृहदारण्यक उपनिषद २ १, ६ २, और कौषीतकि उपनिषद १ १, ४ १, से होता है। इन उद्धारणो से यह प्रकट होता है कि ब्राह्मणो की भांति राजन्य भी धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयो में पर्याप्त रुचि लेते थे। काणे महोदय ने क्षत्रियो के ब्रह्मविद्याप्रणेता होने मे सन्देह व्यक्त किया है तथा इस पक्ष की पुष्टि के लिये अनेक तर्क व प्रमाण प्रस्तुत किये हैं[६] किन्तु उनके तर्क केवल डॉसन तथा भण्डारकर महोदय की स्थापना को

---

१ ऐत० ब्रा० ३८ और ३९, ३, क्षत्रियो जनि विश्वस्य भूतस्याधिपतिरजनि- विशामत्ताजनि— ब्राह्मणों गोप्ताजनि धर्मस्य गोप्ताजनि।

२. शत० ब्रा० ५ ४ ५, धृतव्रतो वै राजा—एष च श्रोत्रियश्च तौ ह वै मनुष्येषु धृतव्रतौ।

३. तस्मात् राजा मनुष्या विधृता। तै० सं० २ ६ २, २

४ तै० ब्रा० ३ १२ ९ ऐत० ब्रा० ७ २९ १

५. द्र०, भण्डारकर, वैष्णविज्म एण्ड शैविज्म' पृ० ९

६. हिस्टरी आफ धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० १०७

सन्दिग्ध बनाने मे समर्थ हैं। उनसे कोई अपना स्वस्थ निष्कर्ष नही निकलता। प्रोफेसर ईगलिंग ने भी तत्कालीन धार्मिक आन्दोलन मे क्षत्रियो का कोई महत्वपूर्ण योग नही माना है।[1] वैदिक इण्डेक्स के लेखको को तो इन राजाओ की विद्वत्ता मे मात्र प्रशसा और चाटुकारिता की झलक मिलती है।[2] किन्तु उत्तर वैदिक साहित्य मे प्राप्त प्रसगों से इतना तो प्राय. स्पष्ट है कि जनक, प्रावहण जैवलि, अश्वपति कैकेय और काशिराज अजातशत्रु प्रभृति नरेश उपनिषद युग के प्रमुख विद्वानो में अपना स्थान रखते थे जिनके ज्ञान की गन्ध तत्कालीन साहित्य मे बिखरी पड़ी है। उपनिषदयुग के धार्मिक क्रान्ति के सम्बन्ध मे इतना स्पष्ट कहा जासकता है कि विकास की यह नई दिशा ब्राह्मणोत्तर प्रयासो का परिणाम थी जिसमें अनार्य परम्पराओ का भी पर्याप्त प्रभाव था। याज्ञवल्क्य, बालाकि गार्ग्य तथा श्वेतकेतु आरुणेय जैसे विद्वान ब्राह्मणो को भी इस नवीन विषय के ज्ञान हेतु क्षत्रिय कुमारों के यहा जाना पड़ा। बृहदारण्यक उपनिषद (६, २,) तथा छान्दोग्य उपनिषद (५ ११) मे यह कहा गया है कि 'इस विद्या' का ज्ञान अब तक किसी ब्राह्मण को नही था। यहाँ इस विद्या का तात्पर्य सम्पूर्ण ब्रह्मविद्या से न होकर केवल पचाग्निविद्या से है। पचाग्निविद्या परोक्षरूप में (In figurative way) आवागमन के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। निश्चय ही उपनिषदों के दार्शनिक विचारधारा के मूल में आत्मा की अमरता और आवागमन का सिद्धान्त था। आवागमन के सिद्धान्त का विकास गगा की घाटी में आर्यों के प्रवेश के पूर्व ही निषाद जाति ने कर लिया था। दूसरे नैराश्यमूलक धार्मिक विचारो का विकास भी मगध और विदेह के क्षेत्र में आठवी सदी ई० पू० तक हो चुका था। इस प्रकार उपनिषदो की इस नवीन विद्या का मूल अनार्य तथा खास तौर से निषाद उत्पत्ति वाला प्रतीत होता है जिसका विकास स्थानीय राजन्यों के माध्यम से हुआ। यही कारण है कि उपनिषदो के दर्शन का विकास सप्तसिन्धु प्रदेश में न होकर गगा की घाटी में हुआ।[3]

राजन्य वर्ग का प्रमुख कार्य शासन और सुरक्षा का था। युद्ध मे सैन्य-सचालन उनका उत्तरदायित्व था तथा तीर-धनुष उनका जातीय

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग भाग १, पृ० २०६ पर उद्धृत

२ द्र० वैदिक इण्डेक्स, भाग १, पृ० २०६

३. द्र० प्रथम अध्याय, पृ० १९–२०

चिन्ह।[1] युद्ध में क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य लोग भी भाग लेते थे[2] किन्तु क्षत्रिय-वर्ग अपने राजकीय अधिकारो एव उत्तरदायित्वो के कारण दूसरों से पृथक् औरविशिष्ट था।[3] क्षत्रियों के कृषिकर्म करने तथा व्यापार आदि मे भाग लेने के सम्बन्ध में प्रमाणो का अभाव है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि क्षत्रिय अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर वीणावादन तथा सगीत में भाग लेते थे।

वैश्य

वैश्य शब्द ऋग्वेद में पुरुष सूक्त को छोड कर अन्यत्र नही मिलता। विश का उल्लेख अवश्य स्थान-स्थान पर हुआ है जिसका तात्पर्य सर्वसाधारण से था। उत्तरवैदिक युग तक वर्ण-विभाजन के परिणामस्वरूप इन्ही साधारण जनो का एक तीसरा वर्ग अस्तित्व में आया जिसे वैश्य नाम से अभिहित किया गया है। फिक महोदय ने वश्यो की स्थिति एक वर्ग के रूप में नही स्वीकार किया है। यदि हम वैश्य वर्ण का तात्पर्य एक ऐसी इकाई से मानें जिसके विवाह सम्बन्ध वर्ग के अन्तर्गत ही सीमित हो तथा जिसके सभी सदस्य एक सामान्य पैतृक व्यवसाय अपनाते हों तो निश्चित रूप से फिक महोदय का मत महत्वपूण हो जाता है। यह मानना पूर्णत सही नही होगा कि ब्राह्मणों और क्षत्रियो के अतिरिक्त अन्य सभी साधारण जनो को वैश्य नाम से पुकारा गया क्योकि उत्तर वैदिक युग तक समाज के सामान्य जनो का एक बहुत बडा भाग वर्ग सघर्ष एव अनार्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप शूद्रो के चतुर्थ वर्ण में स्थानान्तरित किया गया। इतना अवश्य है कि प्रारम्भिक स्थिति मे यह वर्ग अपने प्रयासों के कारण अस्तित्व में नहीं आया। यह कहना भी अनुचित नही होगा कि वैश्यों के अन्दर प्रारम्भ मे

---

१. अथर्ववेद १८ २ ६०, काठक स० १८ ९ ३७ १,
शत० ब्रा० ५ ३ ५.३० तै० ब्रा० ६ १.३,
ऐत० ब्रा० ७ १९, तै० स० ७ ५ १८ १, मैत्रा० स० ३ १२ ६

२. अथर्ववेद ९ ७ ९

३ काठक स० २७ ४ (तस्मात् राजन्येन अध्यक्षेण वैश्यघ्नन्ति) में राजन्य के न्याय और दड विषयक अधिकार का सकेत है। इस प्रसग मे यह उल्लेखनीय है कि शासन-कार्य भी एकमात्र क्षत्रियों के हाथ मे सीमित नही था। शासन में पुरोहित, वैश्य-ग्रामणी आदि क्षत्रियेतर लोगों का भी पर्याप्त प्रभाव था।

वर्ग निर्माण की चेतना का भी अभाव था। ब्राह्मणो और क्षत्रियों ने जब अपने को विश से पृथक् करके अपना अलग संगठन प्रारम्भ किया तब स्वभावतः विश के शेष लोग भी एक इकाई मे बध चले। ऐसा करने से वैश्यो को शूद्रो के नवोदित वर्ग के समक्ष, जिनसे वैश्यों की व्यवसाय-गत समानता थी, अपनी सामाजिक श्रेष्ठता और द्विजातित्व की रक्षा करनी भी अंशतः सम्भव थी। यह भी सत्य है कि वैश्य वर्ण के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के लोग तथा विभिन्न व्यवसायोपजीवी एकत्र संग्रहीत थे अत इस वर्ग के अन्तर्गत विभिन्नताओ और बहुलताओ का सुन्दर सामजस्य मिलता है। तैत्तरीय ब्राह्मण वैश्यो को अन्य वर्णों की अपेक्षा बहुसंख्यक बतलाता है।[1]

वैश्यो के इस तीसरे वर्ग मे अनार्य तत्व का प्रवेश ब्राह्मणो और क्षत्रियो के सम्मान्य वर्णो की अपेक्षा कही अधिक हुआ होगा। वह वर्ग अपनी बहुसंख्यता और विविधता के कारण, जीवन के विभिन्न दैनिक कार्यों मे शूद्रो से सम्पर्क के कारण तथा व्यावसायिक जीवन मे अपेक्षाकृत समानता के कारण अनार्य जनो का सामाजिक बहिष्कार नही कर सका। साधारण आर्य जनता और अनार्य जनता मे पर्याप्त रक्त-मिश्रण हुआ। सम्पन्न तथा महत्वपूर्ण व्यवसायो को धारण करने वाले अनार्य जन भी वैश्य वर्ण के अन्तर्गत सम्मानित हुये होगे। वैश्यो की वर्धमान सामाजिक हीनता का यह भी एक कारण था। दूसरे अनुवर्ती युग का वणिक शब्द भी, जिसका विकास 'पणि' शब्द से हुआ प्रतीत होता है, वैश्य वर्ग के अन्तर्गत अनार्य व्यापारियों एव व्यवसायियो के प्रवेश का संकेत करता है।

वैश्यों की सामाजिक स्थिति में क्रमिक ह्रास

उत्तरवैदिक युगीन वैश्य वर्ण की स्थिति सामाजिक परिस्थितियो के दबाव के कारण क्रमश हीन होती जा रही थी। उत्तर वैदिक साहित्य में इन्हें 'अन्यस्य बलिकृत' कहा गया है।[2] तैत्तिरीय संहिता मे कहा गया है कि मनुष्यो मे वैश्य और पशुओ में गाय समान है अत ये दूसरो के लिये खाद्य है। इनकी रचना भी खाद्य सामग्रियो से हुई है।[3] सूत्रकाल तक कतिपय ग्रन्थो ने वैश्यो को भी शूद्रो की भाति अश्वमेध यज्ञ मे

१. तै० ब्रा० ३.१२.९, तस्माद भूया सोऽन्येभ्य।
२. ऐत० ब्रा० ७ २९
३. तै० सं० २ ५.१०.२

प्रवेश से वचित कर दिया।[1] वैश्य को 'यथाकामज्जेय' भी कहा गया है जिससे ज्ञात होता है कि राजा उसे इच्छानुसार निष्कासन का दड दे सकता था। वैश्यों को कुछ प्रसगों मे शूद्रो के समान स्थिति प्रदान की गई। शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि एक वैश्य शूद्रा का पति हो सकता है तथा शूद्र वैश्या का।[2] इसके कारण भी प्राय स्पष्ट हैं। राजन्य वर्ग की शक्ति एव सख्या मे ज्यों-ज्यो विस्तार हुआ वैसे ही आर्यों का प्रारम्भिक राजनैतिक सगठन भी बदलने लगा। परिणामस्वरूप राजन्य एव वैश्य वर्ग की स्थिति मे बडा ही महत्वपूर्ण अन्तर आ गया। क्षत्रियो को वैश्य वर्ग का अत्ता कहा गया। वैश्य समुदाय धीरे-धीरे आर्यों के सम्भ्रान्त वर्गों से दूर होता गया तथा समाज के दलित शूद्र वर्ग के निकटतर होता गया। ब्राह्मणो ने भी क्षत्रियो की वर्धमान शक्ति और शोषण के विरुद्ध वैश्यो का साथ न देकर अपने हितो एव विशेषाधिकारो की रक्षा के लिये राजन्य वर्ग का साथ दिया तथा वैश्यों के ऊपर राजन्य वर्ग की प्रभुता को स्वीकार किया। अनेक प्रसगो में वैश्यों को ब्राह्मण और क्षत्रिय से हीन कहा गया।[3] इस प्रकार इन दो उच्च वर्गों के सामूहिक षडयन्त्र के कारण वैश्यो की स्थिति पर्याप्त हेय हो गई जिसे उपर उठाने मे वे सर्वथा असमर्थ रहे।

गगा की घाटी मे पहुँचने तक बहुसख्यक अनार्य अथवा दास आर्य समाज में शूद्र के रूप मे अन्तर्निहित हुये जिनका सदुपयोग आर्य स्वामियो ने उन्हें श्रमकार्य में नियोजित करके किया। खेती, पशुपालन एव विभिन्न उद्योग-धन्धो में इनके प्रवेश के कारण अतीव प्रगति हुई। इसके परिणामस्वरूप समाज के सम्भ्रान्त वर्गों ने श्रमकार्य छोड कर श्रमिको की सहायता से उत्पादन प्रारम्भ किया। इस प्रकार श्रम तथा सेवा कार्य शूद्रो का कर्तव्य माना गया तथा शारीरिक श्रम के प्रति आदर-भावना का लोप होने लगा। वैश्य वर्ग जो असाधारण शक्ति अथवा प्रभुत्व प्राप्त करने में असमर्थ रहा पूर्ववत श्रम-कार्य एव उत्पादन में सलग्न रहा। कृषि, वाणिज्य एव विभिन्न व्यवसायो में जो अभी तक वैश्यों के अधीन थे, शूद्रो ने भी हस्तक्षेप प्रारम्भ किया। व्यवसायो की इस समानता के कारण वैश्य और शूद्र एक दूसरे के निकट

---

१. वाराह श्रौ० सू० ३ १ १ १

२ शत० ब्रा० १३ २ ६ ८, तुलनीय तै० ब्रा० ३ ६ ७ ३, वाज० स० २३ ३०

३ तै० स० २ ५ १० १, काठक स० १६.१०, शत० ब्रा० ६ ४.४.१३, पच० ब्रा० २.८.१

होते गये तथा शूद्रो की भाति वैश्यो को भी उच्च वर्गो ने हीन दृष्टि से देखना प्रारम्भ किया। शतपथ ब्राह्मण में तक्षन के स्पर्श को अपवित्र बताया गया है।[1] रथकार, कर्मार, तष्टा, चर्मम्न, भिषग आदि विभिन्न व्यवसायी धीरे-धीरे वैश्य वर्ग से पृथक् होने लगे तथा सूत्र युग तक उन्हे द्विजातियो से बहिष्कृत किया गया। इसी युग मे हम वैश्यो को विभिन्न व्यावसायिक जातियो मे विभाजित होते हुये देखते हैं। इनमे प्रथम प्रकार के वे लोग थे जिनका उद्योग समादृत था। इन्ही लोगो को द्विजातियो के प्राय सभी अधिकार प्राप्त थे। दूसरे प्रकार के लोग तात्कालिक समाज की दृष्टि मे गर्हित पेशे वाले थे। उन्हे क्रमशः उपनयन आदि आर्य सस्कारो से हीन किया गया। अत वे कालक्रम से शूद्रो के निकट होते गये।

उत्तरवैदिक युग के बढते हुये आर्य-अनार्य सम्पर्क के परिणामस्वरूप अल्पसख्यक आर्यों को जब कृष्णत्वच लोगो के बीच अपने अस्तित्व को खो देने का सकट उत्पन्न हुआ तथा रक्त-शुद्धता की चेतना सजग हुई तब ब्राह्मणो और राजन्यो ने प्रजातीय पार्थक्य (Racial segregation) की नीति को अपनाया तथा अनार्यों के साथ वैवाहिक सम्बन्धो को रोकने की चेष्टा की। किन्तु आर्य जनता का बहुसख्यक वैश्य वर्ग अनार्य जनता के अधिक निकट होने के कारण पर्याप्त रक्त सम्मिश्रण का निषेध न कर सका होगा। इस सम्पर्क के कारण स्वभावत समाज के उच्च वर्ग (ब्राह्मण और क्षत्रिय) विश (Proletariate) को भी अपने से पृथक् एव हीन समझने लगे होगे।

वैश्यो की सामाजिक स्थिति विशेष महत्वपूर्ण नही थी किन्तु उनकी आर्थिक दशा काफी अच्छी थी। पशुपालन और कृषि उनका व्यवसाय था। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार वैश्य पशु की प्राप्ति के लिए यज्ञ करता है।[2] ताण्ड्य ब्राह्मण मे कहा गया है कि 'वैश्य दूसरों द्वारा भुक्त होते हुए भी क्षीण नही होता क्योकि उसकी उत्पत्ति प्रजापति की प्रजननेन्द्रिय से हुई है।[3] इसीलिए उसके पास बहुसख्यक पशु हैं। सभी देवता उसके सरक्षक हैं। उसका छन्द जगती है तथा वर्षा उसके लिए अनुकूल ऋतु है।' सम्पन्नता के

---

१ शत० ब्रा० १ १.३ १२

२ तै० सं० २ ५ १० २, 'पशुकाम. खलु वैश्यो यजते'।

३ ताण्ड्य ब्रा० ६ २ १०,

कारण ही उनके ऊपर कर का भार अधिक था। सम्पूर्ण समाज के भरण-पोषण का भार विशेषत उन्ही पर था। आश्रम-व्यवस्था में जो स्थिति गृहस्थ आश्रम की थी वही स्थिति वर्ण व्यवस्था के अन्तर्गत वैश्य वर्ण की थी। बैडेन पावेल महोदय का यह मत कि वैदिक समाज में कृषि-कार्य आदिवासी श्रमजीवियो द्वारा होता था,[1] एक आधारहीन कल्पना है। ऋग्वैदिक युग से ही आर्यों मे कृषि कार्य की स्वस्थ परम्परा थी जो वैश्यों के माध्यम से बाद तक जीवित रही। अष्ट्रा (बैल हांकने का अकुश) वैश्य का जातीय चिन्ह माना जाता था। वैश्य लोग विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धो तथा वाणिज्य का भी अनुसरण करते थे किन्तु कृषि और पशुपालन ही उनका प्रधान व्यवसाय था।

ऋग्वैदिक युग में हम विश के सामान्य सदस्यो को भी युद्ध में भाग लेते हुये देखते है किन्तु इस युग तक होमर युगीन सामान्य जनो की भांति वैदिक युगीन वैश्य भी युद्ध कला मे अपेक्षाकृत कम निपुण होने के कारण तथा अस्त्र-शस्त्रो की अनुपलब्धता के कारण, भीषण युद्ध के लिये अनुपयुक्त था। राजनैतिक महत्व के उत्सवो पर अन्य लोगों के साथ वैश्यों को भी निमन्त्रित किया जाता था। ग्रामणी, जो रत्निन भी था, राजसूय के अवसर पर राजकीय आदर का पात्र था। तैत्तिरीय संहिता के अनुसार वैश्यो का आदर्श ग्रामणी होना था।[2] यह पद सम्भवत राजा धनी वैश्यों को देता था। राजसूय यज्ञ में द्यूत क्रीडा के अवसर पर अन्य वर्ण वालो के साथ वैश्य भी भाग लेता था।

वैश्यों को यज्ञ करने तथा वेदाध्ययन करने का अधिकार था। ब्राह्मणो और क्षत्रियो की भांति ही उनका उपनयन होता था इसी से द्विज की परिभाषा के अन्दर उनका स्थान था। ऐतरेय ब्राह्मण वैश्यों की महत्ता स्वीकार करते हुए कहता है कि देवकर्म अथवा याज्ञिक क्रियाओं मे वैश्य समुदाय का योग आवश्यक है।[3] तैत्तरीय ब्राह्मण के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और रथकार यज्ञाग्नि (Sacrificial fire) की स्थापना कर सकते थे।[4] वैश्य अश्वमेध और वाजपेय जैसे विशाल यज्ञों मे भाग लेते थे। इस प्रकार धार्मिक

१ इण्डियन विलेज कम्यूनिटी, पृ० १८०
२ तै० स० २ ५ ४४
३ ऐत० ब्रा० १ ९
४ तै० ब्रा० ११४८

जीवन की प्राय सभी सुविधायें उन्हें उपलब्ध थी। वैदिक साहित्य मे प्राय. ऐसे प्रमाणो का अभाव है जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि वैश्य वर्ण के लोग भी ब्राह्मण-क्षत्रियो की भाँति अपने जीवन का विशेष भाग वेदों के अध्ययन तथा पाडित्य प्राप्ति मे लगाते थे। सम्भवत सैद्धान्तिक रूप मे वैदिक शिक्षा का अधिकार प्राप्त करते हुये भी वैश्य समुदाय ने अपना समय व्यावसायिक शिक्षा की प्राप्ति मे ही अधिक लगाया। धार्मिक शिक्षा ब्राह्मणो के लिये तो जीविका थी तथा क्षत्रियों के लिए पर्याप्त अवकाश होने के कारण एक व्यसन।

शूद्र

ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे ही शूद्र शब्द का उल्लेख प्रथम बार हुआ है। अथर्ववेद मे शूद्र शब्द का उल्लेख अवश्य ही कई स्थानो पर हुआ है, किन्तु अन्य वर्णों के साथ प्राय. उन्नीसवें अध्याय मे ही मिलता है।[१] अथर्ववेद का उन्नीसवां और बीसवां अध्याय मूल संकलन के बाद मे जोडा हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार काल की दृष्टि से यह अंश परवर्ती माना गया है। इसी युग में पुरुष-सूक्त भी ऋग्वेद मे प्रक्षिप्त हुआ। समाज के चतुर्थ श्रम-जीवी वर्ग के लिये शूद्र शब्द के प्रयोग का कोई स्पष्ट कारण नही दिखाई देता। शूद्र शब्द की व्युत्पत्ति का प्रथम प्रयास बादरायण के वेदान्त सूत्र मे मिलता है जिसमे इस शब्द को शुक् और द्र इन दो भागो मे विभाजित किया गया है।[२] इसका सीधा अर्थ हुआ 'जो शोक को प्राप्त हो।' पुराणो मे भी शूद्र शब्द का मूल 'शुच' ही माना गया है तथा कहा गया है 'जो शोकाकुल होकर इधर-उधर दौडता है, निर्बल एव निस्तेज है, वही शूद्र है।'[३] दीर्घ निकाय के अनुसार शूद्र नाम उनके क्षुद्र आचरण के कारण पडा।[४] परवर्ती ग्रन्थों द्वारा दी गयी यह व्युत्पत्ति पूर्वाग्रही बुद्धि की उपज प्रतीत होती है

---

१ अथर्ववेद १९ ३२ ८, १९ ६२.१, इसके विपरीत अथर्ववेद ५ १७ ९ केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, इन तीन वर्णों का उल्लेख करता है।

२ वेदान्त सूत्र १ ३ ३४

३ 'शोचन्तश्च द्रवन्तश्च परिचर्यासु ये रता ।
निस्तेजसो अल्पवीर्याश्च शूद्रास्तान् ब्रवीत्त स ।
—वायु पुराण १ ८.१५८.

४. दीर्घनिकाय, ३ ९५

यही कारण है कि इनसे शूद्रो की स्थिति पर अधिक प्रकाश पडता है और उत्पत्ति पर कम।

शूद्रों की उत्पत्ति

शूद्रो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लुडविग महोदय का यह मत अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे यह किसी प्रमुख आर्य-विरोधी जाति (ट्राइब) का नाम था[१] जिन्हें आर्यो ने पराजित करके वशीभूत किया। समानधर्मी होने के कारण सभी विजित दास (शत्रु) शूद्र नाम से ही अभिहित किये गये। शूद्र नामक अनार्य जाति की स्थिति का सकेत साहित्यिक साक्ष्यों से होता है। महाभारत में नकुल द्वारा विजित जातियो की सूची में शूद्रो का वर्णन आभीरों के साथ हुआ है।[२] आभीर सम्भवत भारत युद्ध के समय एक जाति (ट्राइब) थे।[३] जो बाद मे पजाब मे फैल गये।[४] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि शूद्र भी आभीरो की भाँति ही एक जाति (ट्राइब) थे। नकुल द्वारा उनकी पराजय उनके स्वशासित जन-समूह होने का सकेत करता है। यूनानी इतिहासकारो के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि चतुर्थ सदी ई० पू० मे शूद्र जाति के लोग वर्तमान सिन्ध-प्रदेश में रहते थे। डिओडोरस ने उन्हें सोड्राई (Sodrai) तथा एरियन ने सोग्ड्राई (Sogdoi) नाम से अभिहित किया है।[५] टालमी ने भी सीड्रोई (Sydroi) जाति का उल्लेख किया है। यह जाति मध्य एरोकोशिया में रहती थी जिसकी पूर्वी सीमा सिन्धु नद का स्पर्श करती थी।[६] इस जाति की शाखायें अफगानिस्तान से लेकर सरस्वती के समीप तक फैली हुई थीं। महाभारत में शूद्रो और आभीरों का निवास सरस्वती के निकट बताया गया है।[७] अथर्ववेद में तकमान (ज्वर) को मूजवन्तो, महावृपो और वाह्लीको के साथ एक शूद्रों पर भी आक्र-

---

१ ट्रान्सलेशन आव ऋग्वेद ३, २१२।
२ महाभारत ६ १० ६६
३ जे० बी० आर० एस०, ४१ पृ० १६० १
४ वही ४१, पृ० २५५
५. मिक्रिएडल, इनवेजन आव इण्डिया, पृ० २९३,१५७
६ मिक्रिएडल, ऐश्येन्ट इण्डिया डिस्क्राइब्ड बाई टोलेमी, पृ० ३१७
७ महाभारत, २ २९ ९

मण करने के लिये कहा गया है।[1] इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं—एक तो यह कि इस प्रसग में वर्णित शूद्र, समाज का चतुर्थ वर्ण न होकर, भूजवन्तो महावृषो और बाह्लीको की भांति ही एक जाति थी। दूसरे, ये सभी लोग उत्तर पश्चिम भारत मे ही निवास करते थे।[2] उपर्युक्त प्रमाणो की पृष्ठ-भूमि मे यह प्रतीत होता है कि जिन दासो से आर्यों का सघर्ष हुआ, उनकी एक प्रबल शाखा का नाम शूद्र था। इनके इस स्थानीय नाम का परिचय आर्यों को काफी बाद मे सम्पर्क की स्थिति मे हुआ होगा। यही कारण है कि इस नाम का उल्लेख ऋग्वेद के मूल भाग मे नही हुआ है।

शूद्रो को आर्यों की प्रारम्भिक लहर (वेबर और राथ का मत) अथवा ऋग्वैदिक आर्यो का अनुगामी मानना[3] ज्ञात प्रमाणो द्वारा अनुमोदित नही है। यह सच है कि शूद्रो का पैत्रिक प्रदेश पश्चिमोत्तर भारत आर्यों का भी निवास-स्थान था,[4] किन्तु मात्र इसके आधार पर शूद्रो को आर्यों से सम्बन्धित करना ऐतिहासिक दृष्टि से समीचीन न होगा। हम देख चुके हैं कि इसी प्रदेश मे अनार्य सैन्धव सभ्यता का विकास हो चुका था। मोएनजोदड़ों से प्राप्त चन्द अस्थिपजरों के आधार पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि आर्यों ने सैन्धव सभ्यता के निर्माताओ को समूल नष्ट कर दिया। उनमे से अधिकाश आर्य स्वामियो के साथ पराधीनता की छाया में जीने को विवश हुये होगे। जहां तक ब्राह्मण युगीन शूद्रो द्वारा आर्य-भाषा के ज्ञान का प्रश्न है, वह अत्यन्त अल्प और सम्पर्कजन्य था। उसके आधार पर उनके आर्यत्व की कल्पना नही की जा सकती। इसके विपरीत, जैसा कि आगे बताया जायगा,[5] शूद्रो को वेदाध्ययन से वंचित करने का प्रधान कारण उनका सस्कृत भाषा से अपरिचित होना था। वैदिक प्रसंगो से शूद्रों का मूलत अनार्य होना ही प्रामाणिक है।[6] उत्तर वैदिक साहित्य मे भी उन्हे ऋग्वेदिक दासो की भांति ही आर्य-विरोधी बताया गया है तथा उनके प्रति

१ अथर्ववेद ५.२७ ७-८
२. वैदिक एज, पृ० २५८-५९
३ रामशरण शर्मा, शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ३३।
४ म्यूर, ओरियण्टल सस्कृत टेक्स्ट्स, २. पृ० ३५५-५७।
५ द्र० इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठ
६ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, १, पृ० ८६, १२८-२९, वैदिक एज, पृ० ३८६-८७, ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० २६२-६३।

घृणा व्यक्त की गई है। हम ऊपर बता चुके हैं कि अथर्ववेद मे ज्वर को शूद्रा पर आक्रमण करने के लिये कहा गया है। पैप्पलाद शाखा के उसी मंत्र में शूद्रा के स्थान पर दासी का उल्लेख हुआ है[1] जिससे प्रतीत होता है कि ये दोनो शब्द पर्यायवाची थे। शूद्रो को समाज के सांस्कृतिक जीवन से पृथक् करने का जो प्रयास हमें उत्तर वैदिक साहित्य मे मिलता है उससे भी उनके अनार्यत्व का बोध होता है। उत्तर वैदिक युग के अयज्ञीय शूद्र की तुलना ऋग्वेद के अयज्वन दास से की जा सकती है।[2] दास यदि शिश्न-देव थे तो शूद्र भी अधिकांशतः रुद्र के उपासक कहे गये हैं।[3] दासों की भाँति ही शूद्र भी कृष्ण थे। महाभारत मे उनके प्रति द्वेष के कारण सरस्वती के मरुस्थल मे खो जाने का उल्लेख है।[4] यजुर्वेद मे महाव्रत अनुष्ठान के प्रसंग में आर्य और शूद्र के बीच द्वन्द्व की व्यवस्था की गई है जिसमें आर्य विजयी होता है।[5] निश्चय ही यही आर्य दास संघर्ष का नाटकीय प्रदर्शन है जो आर्यों की विजय और दासों की पराजय का स्मरण दिलाता है। इस प्रकार यह प्रायः स्पष्ट है कि अधिकांश अनार्य जो आर्यों के समाज में अन्तर्भूत हुये उन्हें शूद्रों के इस चौथे वर्ग में स्थान मिला। किन्तु शूद्र वर्ण के अन्तर्गत केवल अनार्य ही थे, ऐसी बात नहीं है। सूत्र-काल तक आर्यों में विश (कामन पीपुल) के कुछ लोग भी, जो खास कर निम्न पेशों में लगे थे, व्यवसाय की समानता के कारण धीरे-धीरे शूद्र वर्ण में गिने जाने लगे। इस तरह आर्थिक एवं सांस्कृतिक-हीनता के कारण बहुत से आर्य भी शूद्रत्व को प्राप्त हुये। उत्तरवैदिक युग के अन्त तक शूद्र वर्ण आर्य अथवा अनार्य शब्द की परिधि से अलग, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े, शोषित और दलित लोगों का आश्रय बन चुका था।

शूद्र वर्ण अन्य वर्णों की अपेक्षा अत्यन्त हीन अवस्था में था। राजसूय यज्ञ के प्रसंग मे चारो वर्णों की स्थिति का संकेत करते हुये शूद्रों को अन्यस्य प्रेष्य, कामोत्थाप्य और यथाकामवध्य कहा गया है।[6] अन्यस्य

---

१ अथर्ववेद, पैप्प०, १३ १ ६

२ पंच० ब्रा० ६.१ ११

३ शत० ब्रा० ५ ३.१ १०

४ महाभारत ६ ३७ १

५ वैदिक एण्डेक्स, भाग २, पृ० ३९०

६ ऐत० ब्रा० ७ २६

प्रेष्य का तात्पर्य तो 'दूसरे का सेवक अथवा दास' प्रतीत होता है, किन्तु कामोत्थाप्य का अर्थ सन्दिग्ध एवं विवादग्रस्त है। कीथ महोदय इसका अर्थ इच्छानुसार निष्कासन के योग्य (To be expelled at will) करते हैं।[1] हाग महोदय ने कुछ और स्पष्ट करते हुए कहा है कि इसका तात्पर्य उस व्यक्ति से है जो स्वामी के इच्छानुसार निष्कासित किया जा सके।[2]

शूद्रों की हीन अवस्था

सायण के अनुसार यह शब्द इस बात की सूचना देता है कि शूद्रो से उनका स्वामी दिन अथवा रात में कभी भी स्वेच्छापूर्वक काम ले सकता है।[3] किन्तु उपर्युक्त सभी विद्वानो की व्याख्यायें पूर्वाग्रह से प्रभावित हैं। उत्थाप्य शब्द का सामान्य अर्थ उठाने योग्य है। इसमे निष्कासन अथवा निर्वासन का कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष संकेत नही है। कामोत्थाप्य का सही अर्थ 'इच्छानुसार उठाने योग्य' प्रतीत होता है। इस अर्थ की *'यथाकामवध्य'* के साथ सगति भी बैठती है। दोनो शब्दो के सामूहिक अर्थ का आशय यह होगा कि शूद्र को इच्छानुसार उठाया जा सकता था तथा इच्छानुसार शूद्र का वध किया जा सकता था। इस कथन से स्पष्ट होता है कि शूद्रो का उत्थान और पतन भी दूसरों की इच्छा पर अवलम्बित था। वे स्वय अपने भाग्य के निर्णायक नही थे। साधारणतया *'यथाकामवध्य'* का तात्पर्य उस व्यक्ति से है, जिसकी स्वेच्छापूर्वक, बिना किसी हिचक के हत्या की जा सके किन्तु यहाँ वध का अर्थ हत्या से न होकर ताडन से प्रतीत होता है। सायण की व्याख्या के अनुसार शूद्र स्वामी द्वारा इच्छानुकूल ताडित होता है।[4] निरुक्त के द्वारा भी सायण की यह व्याख्या प्राय अनुमोदित है। निरुक्त मे तीन स्थानो पर वध का अर्थ हत्या करना है[5] तथा पाच स्थानो पर मात्र दड देना या ताडन करना।[6] इस प्रसग मे हाग महोदय का अनुवाद अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है। उन्होंने इसका अर्थ 'इच्छानुसार पीटा जाने योग्य'

---

१. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ३८९
२. ट्रान्सलेशन आव ऐतरेय ब्राह्मण, पृ० ४८५
३ 'मध्यरात्रादौ यदाकदाचिद्धि इच्छा भवति तदानीम् अयम् उत्थाप्यते।'
४. 'वध्य =कुपितेन स्वामिना ताड्यो भवति इच्छामनतिक्रम्य'
५ निरुक्त ३ २, ५ १६, १० ११,
६. वही ३ ६, ९.१५, १६, १८, १०.३६

(To be beaten at pleasure) किया है ।[१] शूद्रो के साथ वैवाहिक सम्बन्ध अनुचित समझा जाता था । यद्यपि वैश्यो और शूद्रों के बीच अनुलोम एव प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाह प्राय मान्य थे तथापि यह भी कहा गया है कि शूद्रा का आर्य पति समृद्धि की प्राप्ति नही कर पाता है ।[२] टीकाकार ने यहा आर्य का अर्थ वैश्य किया है ।[३] यह बात भी प्रमाणित है कि सामाजिक विरोध के होते हुए ब्राह्मण एव क्षत्रिय भी स्वतन्त्रतापूर्वक शूद्र स्त्रियो से विवाह करते थे ।[४] लगभग एक दर्जन ऐसे ऋषियो के नाम भविष्य पुराण मे सग्रहीत हैं जिनकी मातायें शूद्र वर्ण की थी ।[५] कुछ सशोधन के साथ यह सूची महाभारत एव अन्य पुराणों मे भी मिलती है । महाभारत के अनुसार व्यास धीवर कन्या से, पराशर श्वपाक नारी से, कपि जाबाद चडाल स्त्री से, वशिष्ट गणिका से तथा मुनिश्रेष्ठ मदनपाल नाविक की कन्या से उत्पन्न हुए थे ।[६] इन ऋषियों की वास्तविक स्थिति तथा कालक्रम के विषय में तो निश्चयपूर्वक कुछ भी नही कहा जा सकता किन्तु इनसे ऋषि और शूद्रा के बीच के वैवाहिक सम्बन्ध के प्रचलन की पुष्टि होती है । उत्तर वैदिक काल में राजाओ की शूद्रा भार्या तो प्राय प्रमाणित है । राजा की चौथी और न्यूनतम समाहत पत्नी पालागली शूद्रा ही थी ।[७] किन्तु आर्यों की शूद्रा पत्नियो को धर्मपत्नी होने का गौरव नही प्राप्त हुआ । आर्य परिवार में रहते हुए भी उन्हें धार्मिक एव सामाजिक सुविधायें पूर्णत प्राप्त नही थी । यही कारण है कि शाखायन ब्राह्मण शूद्रा भार्या को केवल वासना की तृप्ति का साधन मानता है ।[८] धर्मसूत्रों में भी शूद्रवर्णा पत्नी को मात्र रमण के लिए उपयुक्त कहा गया है ।

समाज का अविच्छिन्न अग होते हुये भी शूद्र अन्य तीन वर्गों से पृथक् था । उसके लिये एक सीमा निर्धारित थी जिसका वह अतिक्रमण नहीं कर

---

१. ट्रान्सलेशन आव ऐतरेय ब्राह्मण, पृ० ४८५
२ वाज० सं० २३ ३०, मै० स० ३ १३ १
३ वाज० स० २३ ३० पर महीधर और उवट की टीका ।
४ कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, भाग १, पृ० १२६ ।
५ भविष्य पुराण १,४२ २२-२६
६ महाभारत ५३ १३-१६ (कुम्भ० सस्करण)
७ शाखा० श्रो० सू० १६ ४ ४
८, शाखा० ब्रा० २७ १

सकता था। वैश्य अपने पतन के पश्चात् भी द्विजातियो के सभी धार्मिक और सामाजिक सुविधाओ से युक्त था। इसके विपरीत शूद्र आर्यों के सांस्कृतिक जीवन से पृथक् था। न तो उसे उपनयन का अधिकार था और न तो वेदाध्ययन की सुविधा। वाजसनेयी संहिता में एक स्थान पर कहा गया है कि सभी जनो को 'कल्याणीवाक्' बोलना चाहिये।[१] श्री मुकर्जी के अनुसार कल्याणीवाक् का तात्पर्य वेदाध्ययन से है। इस आधार पर उनका कथन हैं कि सभी लोग समान रूप से वेदाध्ययन कर सकते थे।[२] किन्तु 'कल्याणीवाक् का यह अर्थ प्रामाणिक नही हैं। टीकाकार महीधर और उवट के अनुसार 'कल्याणीवाक्' का अर्थ दयायुक्त अथवा सहानुभूतियुक्त वचन से है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सभी वर्ण वाले लोगो को बात करते समय भद्र शब्दो का प्रयोग करना चाहिये। संहिता और ब्राह्मण साहित्य मे शूद्र को उपनयन से पृथक् करने का स्पष्ट उल्लेख कही नही है। उपनयन का प्रथम स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में हुआ है[३] जहाँ बालक के दूसरे जन्म का (द्विजत्व) का संकेत है। किन्तु यहा भी बालक के वर्ण का कोई वर्णन नही हैं। श्री अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार उपनयन का प्रचलन प्रारम्भ मे केवल पुरोहितो मे ही था जो क्रमश, ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो द्वारा भी अपनाया गया।[४] यह सच है कि समाज के धार्मिक जीवन से सम्बद्ध होने के कारण अधिकांशतः पुरोहितो अथवा ब्राह्मणो के लडके ही वेदाध्ययन करते थे जिनका समुचित रीति से उपनयन संस्कार होता था,[५] किन्तु अथर्ववेद से हम राजा एव कन्या द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत के आचरण की बात जानते हैं। उपनयन संस्कार का शैक्षणिक महत्त्व सम्भवतः बाद में विकसित हुआ। प्रारम्भ में यह एक जातीय संस्कार था जिसके द्वारा बालक को जन की सदस्यता प्राप्त होती थी। प्रारम्भिक ईरानियो में भी इस प्रकार की प्रथा थी जिसके द्वारा प्रत्येक पन्द्रह वर्ष की अवस्था के लडके लडकी को

१ वाज० स० २६ २, यथेमा वाच कल्याणी मावदानि जनेभ्य' ब्रह्मराजन्येभ्याम् शूद्राय आर्याय च

२ ऐन्श्येन्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ० ५३

३ अथर्ववेद ११ ५ ३

४ एजुकेशन इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० १०

५ तै० स० ६ ३ १०, गो० ब्रा० १ २ २-४।

समाज की सदस्यता प्राप्त होती थी।[१] श्री शर्मा का मत है कि प्रारम्भ में शूद्र भी उपनयन के अधिकारी रहे होंगे।[२] उनकी कल्पना का मूल आधार शूद्रो के उपनयन के निषेध के सम्बन्ध में संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थो का मौन ही है। किन्तु इस मौन के आधार पर किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचना सर्वथा असम्भव है। सूत्र साहित्य में तो स्पष्टत उपनयन और वेदाध्ययन से शूद्रों को पृथक् किया गया है।[३] इनमे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन के लिये ऋतुओं का निर्धारण है किन्तु शूद्र के लिये नहीं।[४] एक दूसरे ग्रन्थ में कहा गया है कि उपनीत व्यक्ति को शूद्र से बात नहीं करनी चाहिए।[५] यद्यपि ये सभी प्रमाण उत्तरवैदिक युग के सायकाल से सम्बन्धित हैं तथापि ब्राह्मणो के युग की अवस्था भी बहुत कुछ समान होने के कारण उन उद्धरणो की प्रमाणिकता स्वीकार्य है। दूसरे वैदिक यज्ञो एव महत्वपूर्ण कर्मकाण्डों से भी शूद्रो को पृथक् करने के नियम ब्राह्मणो मे मिलते हैं जिनके विषय मे हम अग्रिम पृष्ठो मे विचार करेंगे। वैदिक साहित्य की पवित्रता यज्ञो और अनुष्ठानो से कम नही थी फिर शूद्रो का उपनयन तथा वेदाध्ययन सर्वथा अकल्पनीय प्रतीत होता है। तीसरे, जैसा कि पहले ही कहा गया है उपनयन आर्यों का जातीय सस्कार था। उत्तरवैदिक युग तक सामाजिक व्यवस्था मे अन्तर्निहित होने के पश्चात् भी शूद्र आर्यों के लिये विजातीय ही था।[६] वे उपनयन के द्वारा उन्हें अपने समान सामाजिक स्तर प्रदान करने को कदापि प्रस्तुत नही थे। ईरान में भी नवजोत नामक सस्कार हुइती वर्ग के लिये निषिद्ध था।[७] विधिवत वेदाध्ययन की परम्परा तो केवल ब्राह्मणो में ही थी। क्षत्रियो में सामान्यतया युद्धविद्या का ही प्रचलन था।[८] वैसे कुछ जिज्ञासु राजन्य वेदाध्ययन मे भी पर्याप्त रुचि लेते थे तथा दार्शनिक ज्ञान के विकास में भी

१ वेन्दिदाद, १८ ६
२ शूद्राज इन एन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ६७-६८
३ पाट्या० श्रौ० सू० २६ १ २०
४ वही, १६ ३ २६
५ दाह्या० श्रौ० सू० ७ ३ १४
६ दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ०
७ सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया, पृ० ११८
८ जे० ए० ओ० एस० १३, पृ० १०६-११३

सकता था। वैश्य अपने पतन के पश्चात् भी द्विजातियो के सभी धार्मिक और सामाजिक सुविधाओ से युक्त था। इसके विपरीत शूद्र आर्यों के सांस्कृतिक जीवन से पृथक् था। न तो उसे उपनयन का अधिकार था और न तो वेदाध्ययन की सुविधा। वाजसनेयी सहिता में एक स्थान पर कहा गया है कि सभी जनो को कल्याणीवाक्' बोलना चाहिये।[१] श्री मुकर्जी के अनुसार कल्याणीवाक् का तात्पर्य वेदाध्ययन से है। इस आधार पर उनका कथन हैं कि सभी लोग समान रूप ऐ वेदाध्ययन कर सकते थे।[२] किन्तु 'कल्याणीवाक् का यह अर्थ प्रामाणिक नही हैं। टीकाकार महीधर और उवट के अनुसार 'कल्याणीवाक्' का अर्थ दयायुक्त अथवा सहानुभूतियुक्त वचन से है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सभी वर्ण वाले लोगो को बात करते समय भद्र शब्दो का प्रयोग करना चाहिये। सहिता और ब्राह्मण साहित्य मे शूद्र को उपनयन से पृथक् करने का स्पष्ट उल्लेख कही नही है। उपनयन का प्रथम स्पष्ट वर्णन अथर्ववेद में हुआ है[३] जहाँ बालक के दूसरे जन्म का (द्विजत्व) का सकेत है। किन्तु यहा भी बालक के वर्ण का कोई वर्णन नही हैं। श्री अनन्त सदाशिव अल्तेकर के अनुसार उपनयन का प्रचलन प्रारम्भ मे केवल पुरोहितो में ही था जो क्रमश, ब्राह्मणो, क्षत्रियो और वैश्यो द्वारा भी अपनाया गया।[४] यह सच है कि समाज के धार्मिक जीवन से सम्बद्ध होने के कारण अधिकाशतः पुरोहितों अथवा ब्राह्मणो के लडके ही वेदाध्ययन करते थे जिनका समुचित रीति से उपनयन सस्कार होता था,[५] किन्तु अथर्ववेद से हम राजा एवं कन्या द्वारा ब्रह्मचर्य व्रत के आचरण की बात जानते हैं। उपनयन सस्कार का शैक्षणिक महत्व सम्भवतः बाद मे विकसित हुआ। प्रारम्भ मे यह एक जातीय सस्कार था जिसके द्वारा बालक को जन की सदस्यता प्राप्त होती थी। प्रारम्भिक ईरानियो मे भी इस प्रकार की प्रथा थी जिसके द्वारा प्रत्येक पन्द्रह वर्ष की अवस्था के लडके लडको को

---

१ वाज० स० २६ २, यथेमा वाच कल्याणी मावदानि जनेभ्य. ब्रह्मराजन्येभ्याम् शूद्राय आर्याय च

२ ऐन्श्येन्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ० ५३

३ अथर्ववेद ११ ५. ३

४. एजुकेशन इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० १०

५ तै० स० ६ ३ १०, गो० ब्रा० १ २ २-४।

समाज की सदस्यता प्राप्त होती थी।[१] श्री शर्मा का मत है कि प्रारम्भ मे शूद्र भी उपनयन के अधिकारी रहे होंगे।[२] उनकी कल्पना का मूल आधार शूद्रो के उपनयन के निषेध के सम्बन्ध में संहिताओं और ब्राह्मण ग्रन्थो का मौन ही है। किन्तु इस मौन के आधार पर किसी ऐतिहासिक निष्कर्ष पर पहुँचना सर्वथा असम्भव है। सूत्र साहित्य में तो स्पष्टत उपनयन और वेदाध्ययन से शूद्रो को पृथक् किया गया है।[३] इनमे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के उपनयन के लिये ऋतुओ का निर्धारण है किन्तु शूद्र के लिये नहीं।[४] एक दूसरे ग्रन्थ में कहा गया है कि उपनीत व्यक्ति को शूद्र से बात नहीं करनी चाहिए।[५] यद्यपि ये सभी प्रमाण उत्तरवैदिक युग के सायकाल से सम्बन्धित हैं तथापि ब्राह्मणो के युग की अवस्था भी बहुत कुछ समान होने के कारण उन उद्धरणो की प्रमाणिकता स्वीकार्य है। दूसरे वैदिक यज्ञो एवं महत्वपूर्ण कर्मकाण्डों से भी शूद्रो को पृथक् करने के नियम ब्राह्मणो में मिलते हैं जिनके विषय मे हम अग्रिम पृष्ठो मे विचार करेंगे। वैदिक साहित्य की पवित्रता यज्ञो और अनुष्ठानो से कम नही थी फिर शूद्रो का उपनयन तथा वेदाध्ययन सर्वथा अकल्पनीय प्रतीत होता है। तीसरे, जैसा कि पहले ही कहा गया है उपनयन आर्यों का जातीय संस्कार था। उत्तरवैदिक युग तक सामाजिक व्यवस्था मे अन्तर्निहित होने के पश्चात् भी शूद्र आर्यों के लिये विजातीय ही था।[६] वे उपनयन के द्वारा उन्हें अपने समान सामाजिक स्तर प्रदान करने को कदापि प्रस्तुत नही थे। ईरान मे भी नवजोत नामक संस्कार हुइती वर्ग के लिये निषिद्ध था।[७] विधिवत वेदाध्ययन की परम्परा तो केवल ब्राह्मणो में ही थी। क्षत्रियो में सामान्यतया युद्धविद्या का ही प्रचलन था।[८] वैसे कुछ जिज्ञासु राजन्य वेदाध्ययन मे भी पर्याप्त रुचि लेते थे तथा दार्शनिक ज्ञान के विकास मे भी

---

१ वेन्दिदाद, १८ ९

२ शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ६७-६८

३ शाट्या० श्रौ० सू० २६ १ २०

४. वही, १९.३.२६

५ द्राह्या० श्रौ० सू० ७ ३ १४

६ दत्त, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ०

७ सेनार्ट, कास्ट इन इण्डिया, पृ० ११८

८ जे० ए० ओ० एस० १३, पृ० १०६–११३

उनका योग था। वैश्यों में अधिकाशत: व्यावसायिक शिक्षा का ही प्रचलन था। वैश्यो की ही भाति शूद्र भी व्यावसायिक शिक्षा ही प्राप्त करते थे जो उन्हें परिवार और जाति के माध्यम से प्राप्त होती थी। उनके समक्ष आर्थिक एव सामाजिक कठिनाइया इतनी प्रबल थी कि न तो उनके पास वैदिक धर्म तथा साहित्य के अध्ययन के लिये समय था और न तो सुविधा ही।

धार्मिक जीवन से शूद्रो के पृथकरण का प्रयास

शूद्रो को धार्मिक अनुष्ठानो से पृथक् करने का भगीरथ प्रयास उत्तरवैदिक युग से ही प्रारम्भ होता है जिसकी अविच्छिन्न परम्परा हमे उन्नीसवी सदी तक मिलती है। जन्मगत हीनता के कारण शूद्र को यज्ञ से वहिष्कृत किया गया।[१] शतपथ ब्राह्मण यज्ञ की अग्नि को शूद्र के लिये अस्पृश्य बतलाता है।[२] यद्यपि शूद्र अश्वमेध यज्ञ में प्रहरी का कार्य करता था तथापि वह यज्ञशाला में प्रवेश नही कर सकता था। शतपथ ब्राह्मण उसे निश्चित रूप से अयज्ञीय बतलाता है।[३] काठक सहिता का एक अश स्त्रियो तथा शूद्रो को यज्ञ के अवसर पर सोम पीने के अधिकार से वचित करता है किन्तु यह वर्णन यजुर्वेद की अन्य शाखा का मत मानते है।[४] शतपथ ब्राह्मण मे अन्यत्र दीक्षित व्यक्ति के लिये शूद्र से बोलने तक का निषेध किया है।[५] पचविंश ब्राह्मण में कहा गया है कि शूद्रो के न तो देवता है और न तो उन्हें यज्ञ करने का अधिकार है।[६] अग्निहोत्र के लिये आवश्यक दुग्ध के दोहन का अधिकार भी शूद्र को नही है।[७] यहा हम स्पर्शजन्य अपवित्रता का आभास पाते हैं। मैत्रायणी सहिता मे तो कहा गया है कि दुहने की थाली भी किसी आर्य द्वारा ही

---

१ तै० ब्रा० ३ २ ३ ९, कात्या० श्रौ० सू० १ ५,
शाखा० श्रौ० सू० १ १ १–३, माश्व० श्रौ० सू० १ ३ ३

२. शत० ब्रा० ६ ४ ४ ९

३ वही ३ १ १.१०

४ शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ७४

५. शत० ब्रा० ३ १,१ १०

६ पच० ब्रा० ६ १ ११

७ काठक स० ३१ २, मैत्रा० स० ४.१.३, तै० ब्रा० ३.२.३.९–१०

निर्मित होनी चाहिये।[१] तैतिरीय संहिता में कहा गया है कि शूद्रों को धार्मिक अवसरो पर द्विजातियों के चरणप्रक्षालन का कार्य करना चाहिये।[२]

वैदिक युग के अन्तिम चरण तक निश्चित रूप से शूद्र पवित्र अवसरो के लिये अछूत समझा जाने लगा था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार प्रवर्ग्य नामक उत्सव मे यजमान को स्त्रियो और शूद्रो से सम्बन्ध तोड देना चाहिये क्यो कि वे अनृत हैं।[३] परवर्ती साहित्य में स्त्रियो एव शूद्रो को यज्ञ से बहिष्कृत करने का प्रयास प्राय सर्वत्र मिलता है।[४] एक प्रसग में तक्षन (बढई) के भी स्पर्श से अशुद्धि की कल्पना को गई।[५] ज्ञातव्य है कि अथर्ववेद में उसे विश के सम्मान्य सदस्य के रूप में प्रस्तुत किया गया है। शूद्रों की स्पर्शगत अपवित्रता का उल्लेख सहिताओ में नहीं मिलता। ऐसे प्रसग शतपथ ब्राह्मण और श्रौतसूत्रों मे ही मिलते हैं। इससे स्पष्ट है कि शूद्रों की धार्मिक अपवित्रता का विचार तथा स्पर्श एव दर्शन का निषेध वैदिक युग के समाप्तिकाल मे ही विशेष दृष्टिगोचर होता है। साथ ही शूद्रो को यज्ञादि पवित्र अवसरो पर ही अपवित्र माना जाता था। साधारणतया जीवन के अन्य पक्षो मे इनका सम्पर्क हेय नही माना जाता था। हम जानते हैं कि बहुत बाद तक ब्राह्मणो के घर में शूद्र रसोइया हुआ करते थे तथा ब्राह्मण लोग शूद्र द्वारा बनाये भोजन को ग्रहण करने मे किसी प्रकार की हिचक नहीं करते थे।[६] चण्डाल और पौल्कस जैसे बर्बर एव घृणास्पद जीवन व्यतीत करने वाले लोगो का अन्न अवश्य ही अशुद्ध और अग्राह्य था, जिसका प्रधान कारण उनकी अतिशय गन्दी आदतें थी। उदाहरणार्थ श्वपाक इसलिये तिरस्कृत थे कि वे श्वान-मासभक्षी थे जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है। छांदोग्य उपनिषद में उषस्ति नाम के एक ब्राह्मण का वर्णन है जिसने एक हस्तिपालक के भोजन का शेषांश ग्रहण किया तथा उसी दिन एक पडोसी

---

१ मैत्रा० सं० १ ८ ३

२ तै० स० ७.१ १

३ शत० ब्रा० १४ १ १.३१

४. द्र०, जे० बी० आर० एस० ३६, १८१–९१

५ शत० ब्रा० १ १ ३ १२, अशुद्धस्तक्षा

६ आचार्य क्षितिमोहन सेन, सस्कृति-संगम,

राजा के यहा पौरोहित्य करने की इच्छा से उपस्थित हुआ।[1] इससे प्रकट है कि साधारण स्थिति मे शूद्र का अन्न ग्राह्य था।

शूद्र धार्मिक जीवन मे वहिष्कृत होते हुये भी कतिपय याज्ञिक कृत्यो में भाग ले सकते थे। उदाहरण के लिए अन्य वर्णों के साथ वह यज्ञ की हवि तैयार करने मे भाग लेता था। शतपथ ब्राह्मण मे एक शूद्र के पितृमेत्र यज्ञ करने का उल्लेख है।[2] किन्तु इन कतिपय अपवादस्वरूप प्रमाणों के आधार पर शूद्रो का याज्ञिक धर्म मे प्रवेश स्वीकार नही किया जा सकता। ये शूद्र अधिकाशत रुद्र के उपासक थे। रथकार, कुलाल, कर्मार, निपाद, पु जिष्ठ, मृगयु, धनुकार, ईपुकार आदि-विभिन्न जातियो एव व्यवसायियो के लोग रुद्र के उपासक कहे गये हैं। इनमे अधिकाश शूद्र थे।[3] शूद्रो के लिये, जो अधिकाशत. अनार्य थे, वैदिक देवता रुद्र अधिक आकर्षक था, क्योकि उत्तरवैदिक युग तक अनार्य देवता शिव और वैदिक रुद्र का एकीकरण हो चुका था। इस प्रकार वैदिक धर्म के अन्तर्गत ही परोक्ष रूप में अनार्यों ने अपने धार्मिक परम्पराओ के प्रति आस्था प्रकट की। ज्यों-ज्यों समाज के उच्च वर्णों की सामाजिक प्रतिष्ठा में वृद्धि होती गई तथा विश के साधारण-सदस्यो की सामाजिक एव आर्थिक स्थिति गिरती गई वैसे ही ये निराश एव दलितलोग अनार्य जनता के अधिक समीप आते गये। परिणामत रथकार और कर्मार जैसे व्यवसायी भी, जो विश के सदस्य थे, रुद्र के उपासक हो गये। रत्न-हविषी नामक उत्सव के अवसर पर रुद्र को गोविवर्तन का देवता कहा गया है।[4] सायण ने उन्हें निम्न जातीय माना है।

शूद्रो को वैदिक धर्म एव याज्ञिक कर्मकाण्डो से पृथक् करने के कई कारण थे। आर्थिक प्रगति एव सामाजिक विभाजन ने यज्ञो के स्वरूप को बिल्कुल बदल दिया जिसके फलस्वरूप यज्ञ बडे ही विस्तृत दुरूह एव व्ययपूर्ण हो गये। कालक्रमेण यज्ञ उच्च वर्णो के विशेपाधिकार हो गये क्योकि उन्ही के पास इन विस्तृत यज्ञो को चलाने के साधन एव सुविधायें थी। महाभारत में युधिष्ठिर ने स्पष्ट कहा है कि याज्ञिक धर्म निर्धन व्यक्ति की शक्ति के बाहर

---

१. छान्दोग्य उप० १.१०

२. शत० ब्रा० १३ ८ ३ ११

३. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० २४६–५०

४. शत० ब्रा० ५ ३.१ १०

है।[1] शूद्र जिनकी आर्थिक दशा अत्यन्त हीन थी यज्ञ के व्यय मे असमर्थ थे। सम्पन्न शूद्र यज्ञ के अधिकारीरहे होगे,[2] ऐसा निष्कर्ष निकालना भी गलत है क्योकि आर्थिक कठिनाइयो के अतिरिक्त अन्य कठिनाइया भी शूद्रों के समक्ष थी।

बहुधा विजेता जातियो मे अपने धर्म एव सस्कृति के बलपूर्वक प्रचार की भावना होती है। वैदिक आयो मे इसके विपरीत स्थानीय जनता को अपने धार्मिक जीवन से पृथक् रखने की परम्परा बडी ही विचित्र लगती है। इतना अवश्य है कि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे ब्राह्मण विश्वास की पवित्रता की रक्षा के लिये शूद्रों के पृथक्करण का प्रमाण हम नही पाते, किन्तु ब्राह्मणो एव उपनिषदो के युग तक ज्यो ज्यो आर्यों और अनार्यों का सम्पर्क बढता गया वैसे ही पृथक्करण की नीति भी बढती गई। ईगलिग महोदय का विचार इस समस्या का आशिक समाधान प्रस्तुत करता है।[3] उनके अनुसार अनायो की धार्मिक परम्पराओं के प्रभाव से जब ब्राह्मणो के धार्मिक विश्वास आच्छादित एव सकटाकीर्ण होने लगे तब आर्यों ने अपने और अनार्य शूद्रो के बीच एक अनुलघनीय सीमा के निर्धारण का प्रयास किया जिसके पीछे सास्कृतिक स्वत्व की रक्षा की भावना विद्यमान थी। पहले अध्याय मे हम देख चुके हैं कि प्रागार्य भारतीयो का धार्मिक जीवन कितना समुन्नत था। आज भी भारतीयों के धार्मिक विश्वासों का अधिकाश अनार्य है।

इसके अतिरिक्त शूद्र लोग आर्यों के सम्पर्क के पश्चात् भी अपने परम्परागत धार्मिक विश्वासो को सहज ही छोडने को तैयार नही थे। मूर्तिपूजक होने के कारण यज्ञ प्रधान वैदिक धर्म के प्रति उनकी अनासक्ति सर्वथा स्वाभाविक थी। साथ ही वैदिक मत्रों के उच्चारण की शुद्धता का भी धार्मिक महत्त्व था। शूद्रों के लिये, संस्कृत भाषा से अल्प परिचय होने के कारण, उच्चारण की शुद्धता, मन्त्रो का उचित पाठ तथा अनुष्ठानों का सही ढग से सम्पादन बडा ही दुष्कर था। अत इन व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण भी शूद्र याज्ञिक धर्म के प्रति हतोत्साहित हुये तथा हतोत्साहित किये गये।

---

१ महाभारत (कुम्भ०) १३ १६४ २-३, न ते शक्या दरिद्रेण यज्ञा प्राप्तु पितामह, बहूपकरणा यज्ञा नानासम्भार विस्तरा, पार्थिवै राजपुत्रैर वा शक्या प्राप्तु पितामह, नार्थन्यूनैरवगुणैरेकात्मभिरसहतै।
२ शर्मा, शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ८०
३ सेक्रेड बुक्स आव दि ईस्ट, भाग १२, भूमिका, पृ० १३

शूद्रो की आर्थिक स्थिति भी पर्याप्त रूप से हीन थी। ये लोग कठोर परिश्रम करते थे किन्तु परिश्रम से उत्पन्न वस्तुओ का पूर्ण उपभोग स्वय नही कर पाते थे। जैमिनीय ब्राह्मण मे कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ के द्वारा वैश्य धनवान होता है और शूद्र कुशल कर्मकर्ता।[१] कर्मकर्ता का अर्थ सम्भवत श्रमजीवी है क्योकि वेदोत्तर युग मे इसका प्रयोग इसी अर्थ मे हुआ है। प्रारम्भिक उपनिषदोमे शूद्र को वैश्यो की भाति ही पूषन कहा है।[२] इससे प्रतीत होता है कि शूद्र अपने श्रम के द्वारा समाज के अन्य वर्णों का पोषण करता था। इनके श्रम का उपयोग अधिकाशत कृपिकर्म मे होता था।[३] ये शूद्र बहुधा सम्पन्न एवं सम्भ्रान्त लोगो की भूमि पर काम करते थे तथा यदा-कदा भूमि सहित दान में दिये जाते थे।[४] 'वैदिक इण्डेक्स' के लेखको ने आर्थिक दृष्टि से इनकी तुलना यूरोपीय सर्फ (Serfs) से की है।[५] सम्भव है कुछ धनी शूद्र व्यक्तिगत भूमि पर भी कृपि कर्म करते रहे हो। ये लोग कृषि के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के उद्योग-धन्धो मे लगे हुये थे। सूत्र-साहित्य मे इनके लिये व्यापार तथा वाणिज्य की भी व्यवस्था है।[६] महाभारत मे शूद्र को सम्पत्तिहीन बतलाया गया है।[७] किन्तु पचविंश ब्राह्मण मे शूद्र के बहुपशु होने का भी सकेत मिलता है।[८] कुछ सहिताओं मे धनवान् शूद्रो का भी उल्लेख हुआ है।[९] इस प्रकार शूद्र वर्ग के लोग विभिन्न व्यवसायो के द्वारा अपनी रोटी की व्यवस्था मे लगे थे किन्तु युगीन साहित्य मे उनका कर्तव्य निर्धारित करते हुये सेवा कर्म की व्यवस्था ही की गई[१०]

---

१ जै० ब्रा० २ २६६
२ बृ० उप० १ ४ ३
३, मुकर्जी, ऐन्श्येन्ट इण्डियन एजुकेशन, पृ० १५८
४. शाखा० श्रौ० सू० १६.१४ १८ सहपुरुषं च दीयते, १६ १५.२०, कात्यायन श्रौत सूत्र २२ १० मे भूमिशूद्रवर्जनम् का उल्लेख है। यह निषेध भी आंशिक रूप से इसप्रथा के प्रचलन का सकेत करता है।
५. वैदिक इण्डेक्स, भाग २, पृ० ३८९
६. वही, भाग २, पृ० ३११
७ महाभारत, १२.३० ७
८. पच० ब्रा० ६.१.११
९ मैत्रा० स० ४ २.७ १०, पंच० ब्रा० ६.१ ११
१०. जै० ब्रा० १.६८–९, शाट्या०श्रौ० सू० २९.१.७

जिसके पीछे उच्च वर्गों की स्वार्थभावना ही प्रबल थी। कुछ शूद्र द्विजातियो के यहा सेवक का भी कार्य करते थे क्योकि स्थान-स्थान पर उनका कार्य द्विजातियों का चरणप्रक्षालन (पादावनेज्य) बताया गया है।

तत्कालीन राजनैतिक जीवन में शूद्रो का स्थान अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण था। वे समाज के एक विशाल जनसमूह का प्रतिनिधित्व करते थे अत उनकी अवहेलना नहीं की जा सकती थी। राजा द्वारा समादृत बारह रत्नियो मे शूद्रो का भी स्थान था।[१] बारह सदस्यो की यह सभा हिन्द-यूरोपीय जाति की अन्य शाखाओ में भी मिलती है।[२] ये रत्निन इतने महत्वपूर्ण थे कि राजसूय यज्ञ के अवसर पर राजा को स्वतः इनके यहा रत्नहविषी नामक अनुष्ठान के लिये जाना पड़ता था। इन रत्नियों मे प्राय सभी वर्णो के सदस्य थे। तक्षन और रथकार को भी रत्नियों मे स्थान दिया गया है। किन्तु इनका राजनैतिक महत्व इनके व्यवसाय की महत्ता के कारण था। इन लोगों ने आर्यो के पूर्व की ओर प्रसार में रथो एव गाडियो के निर्माण से सहायता प्रदान की। दूसरे, इनके कार्य का सामरिक महत्व भी था। शतपथ ब्राह्मण इन दोनों रत्नियों का उल्लेख न करके गोविकर्तन (Huntsman) और पालागल (Messenger) का उल्लेख करता है।[३] ऐसा प्रतीत होता है कि ये दोनों रत्निन शूद्र वर्ग के थे। पालागल के शूद्रत्व की सम्भावना इस बात से होती है कि पालागली को शूद्रा कहा गया है।[४] गोविकर्तन, जिसे शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों द्वारा भी रत्नियो की सूची में स्थान दिया गया है,[५] सायण द्वारा हीन जाति वाला कहा गया है।[६] सायण ने इसी प्रकार सेनानी नामक रत्निन को भी शूद्र माना है।[७] इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि राजनैतिक जीवन में शूद्रो

१. हिंदू पालिटी, भाग २, पृ० २०
२. चादविक, हिरोइक एज, पृ० ३७०
३ शत० ब्रा० ५.३.१ १०–११
४. शाखा० श्रौ० सू० १६.४४, शत० ब्रा० १३.५ २.८
५. मै० स० २.६ ५, आप० श्रौ० सू० १८ १० २०. शाट्या श्रौ० सू० १३ ४ ८
६ सायण की टीका—शत० ब्रा० ५.३ २ २-४
७. द्र०, सायण की टीका, शत० ब्रा० ५ ३ २.२, शूद्रान सेनान्यादिन ••।

का भी प्रतिनिधित्व था। अन्य वर्णों के रत्नियो की भांति शूद्र रत्निन भी इतने महत्वपूर्ण समझे जाते थे कि राजा राजसूय के प्रसग मे स्वय उनके यहाँ उपस्थित होता था। रत्निन के रूप मे इनके अधिकार और कर्तव्य का विशेष उल्लेख नही हुआ है जिससे इनकी अवज्ञा का बोध होता है। ऐसा प्रतीत होता हैं कि इनका प्रतिनिधित्व औपचारिक मात्र था।

जायसवाल महोदय रत्नहविषी नामक उत्सव को बहुत महत्व देते हैं, जिसमे भावी नरेश एक विजित शूद्र की पूजा करता था।[1] इस राजकीय समादार के कारण हीन शूद्रो की स्थिति भी कुछ गौरवान्वित हुई हो इसमे कोई आश्चर्य की बात नही है। यह कहना गलत होगा कि शूद्र वर्ण के रत्निन केवल अपने विशिष्ट व्यवसायो के कारण ही समादृत थे तथा वे अपने वर्ण का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। पालागल (सदेशवाहक) तथा गोविकर्तन (शिकारियो का प्रधान) का व्यवसाय किसी भी प्रकार से विशेष महत्वपूर्ण नही कहा का सकता। वास्तव मे शूद्रो के राजनैतिक प्रतिनिधित्व का कारण भी अशत राजनैतिक था। प्रथमतः अनार्यो के साथ दीर्घकालीन सघर्ष के पश्चात् शान्तिपूर्ण शासन के लिये समझौते की आवश्यकता थी। इन शूद्रो के माध्यम से निम्नस्तरीय अनार्य जनता का भी प्रतिनिधित्व हो जाता था। दूसरे वैदिक राजा की स्थिति बहुत कुछ जनता के सहयोग पर निर्भर थी जैसा कि अथर्ववेद (३ ५ ६) से स्पष्ट होता है। वैश्यो तथा शूद्रो का वर्ग सख्या मे अधिक था। इन्ही दो वर्गो द्वारा उच्चवर्गों का भरण-पोषण भी होता था। अत इनकी सन्तुष्टि के लिये तथा राजसत्ता को स्थिर रखने के लिये इन्हें राजकीय सम्मान प्रदान किया जाता था। शूद्रो का राजनैतिक महत्व राजसूय यज्ञ मे होने वाली द्यूतक्रीडा से भी स्पष्ट होता है। कृष्ण-यजुर्वेद की पुरानी परम्परा के अनुसार द्यूतक्रीडा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चारो भाग लेते थे तथा अन्त में राजा विजयी होता था।[2] वाजसनेयी सहिता मे द्यूतक्रीडा मे केवल ब्राह्मणो और क्षत्रियो के ही भाग लेने का उल्लेख है।[3] इससे प्रतीत होता है कि इस अनुष्ठान से वैश्यों और शूद्रो को पृथक् करने का प्रयास भी आरम्भ हो चुका था।

---

१. हिन्दू पालिटी, २ पृ० २१

२. मै० स० ४ ४ ६, वाराह श्रौ० सू ३.३ ३ २४, आप० श्रौ० सू० १८ १९. २-३, शाट्या० श्रौ० सू० १३ ६ २९-३०

३. वाज० स० १० २९

फिर भी द्यूतक्रीडा मे शूद्रो के भाग लेने का जो उल्लेख है उससे राजनैतिक जीवन मे इस वर्ण के प्रतिनिधित्व की बात प्रमाणित होती है। राजसूय यज्ञ के एक दूसरे कृत्य के अनुसार राजा ब्राह्मण को स्वर्ण क्षत्रिय को धनुष और तीन बाण, वैश्य को लाठी और शूद्र को बीज से भरा पात्र देता है तथा बदले में उनके गुणो को प्राप्त करने की कामना करता है।[१] इस प्रकार वह शूद्र से दीर्घजीवन प्राप्त करता है। युधिष्ठिर के राजसूय के अवसर पर शूद्र भी निमन्त्रित हुये थे।[२] यजुर्वेद की संहिताओं से ज्ञात होता है कि राजा राजसूय के अवसर पर सूर्य की उपासना करता हुआ आर्य और शूद्र के प्रति किये गये पाप के लिये प्रायश्चित करता था।[३]

अश्वमेध यज्ञ में सशस्त्र सैनिक के रूप में अश्व की रक्षा करते हुए भी शूद्रों का उल्लेख है।[४] शूद्रों द्वारा सैनिक वृत्ति का धारण आश्चर्यजनक नहीं है। तैत्तिरीय संहिता में भी शूद्र सैनिको का उल्लेख मिलता है।[५] महाभारत मे तो चारो वर्णो द्वारा शस्त्रधारण की बात कही गई है।[६] इस प्रकार राजसत्ता की रक्षा मे शूद्रो का सशस्त्र योग भी इस युग मे अज्ञात नही था। राजनैतिक महत्त्व के अनुष्ठानो मे शूद्र कहाँ तक भाग लेते थे, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि विशेष पवित्र एवं महत्वपूर्ण अनुष्ठान मे वे भाग नही लेते थे। राजसूय यज्ञ मे ही शूद्र अभिषेचन मे भाग लेने का अधिकारी नही था।[७] जायसवाल महोदय के अनुसार जन्य अथवा जन्यमित्र नामक जो चौथा व्यक्ति जल छिड़कता था, वह शूद्र होता था।[८] किन्तु जन्य या जन्यमित्र का अर्थ शूद्र करना कल्पना मात्र पर अवलम्बित है। वाजपेय यज्ञ में भी शूद्र के प्रवेश का अधिकार नही था।[९]

---

१ काठक सं० ३८ १

२. विशश्च मावयान् शूद्रांश्च सर्वानानयनेति च, महा० २ ३० १४

३ तै० सं० १ ८ ३ १, काठक सं० ३८.५, शत० ब्रा० १२ ६ २ ३

४ शतम शूद्रावरुथिनः, आप० श्रौ० सू० २०.५ १३, शाट्या श्रौ० सू० २० ५०

५ तै० सं० ६ ४,८

६ महाभारत ५ १४७

७ शत० ब्रा० ३ ५ ११-१४, तै० ब्रा० १ ७ ८ ७

८ हिन्दू पालिटी, भाग २, पृ० २५

९. शांखा० श्रौ० सू० १६ १७.४

इन सभी बातो के होते हुये भी शूद्र को समाज का अविच्छिन्न और अनिवार्य अग समझा जाता था। समाज के सुख-दुख में उसका भी भाग था। अथववेद तथा वाजसनेयी सहिता मे आर्य और शूद्र दोनो का प्रिय बनने की कामना व्यक्त की गई है।[१] अथर्ववेद में एक ऋषि कहता है कि 'मुझे देवताओ का प्रिय बनाओ, राजन्यो का प्रिय बनाओ, शूद्रो और आर्यो का प्रिय बनाओ।[२] निश्चय ही यहाँ चारो वर्णों के प्रिय बनने की कामना की गई है। एक उल्लेखनीय अश मे जो यजुर्वेद की लगभग सभी शाखाओ मे मिलता है अग्नि से चारो वर्णों के लोगो को 'रुचम्' (तेज Brilliance) प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[३] उपनिषदो के युग तक नवीन धार्मिक क्रान्ति के साथ ही शूद्रों के प्रति हीन सामाजिक दृष्टिकोण का भी विरोध हुआ। बृहदारण्यक उपनिषद मे कहा गया है कि आत्मन् के क्षेत्र मे कोई भेद अथवा दुराव नही रहता। यहाँ चंडाल और पौल्कश भी हीन नही माने जाते हैं।[४] इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद चडाल को भी अग्निहोत्र के अवशेष का अधिकारी बतलाता है।[५]

निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते हैं कि शूद्रो को अधिकाशत विजातीय, विजित तथा हीनाचारी होने के कारण समाज के सास्कृतिक जीवन से पृथक् किया गया। साथ ही उनकी हीन स्थिति का बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने स्वार्थ-साधन हेतु दुरुपयोग भी किया। फिर भी अपनी आर्थिक उपयोगिता के कारण उन्हें कुछ सुविधायें भी प्राप्त हुई थी। किन्तु कीथ महोदय का यह मत कि इस युग मे शूद्रो की स्थिति अस्पष्ट (Ambiguous) थी न्याय-सगत नही कहा जा सकता।[६] यत्र-तत्र राजनैतिक अवसरो पर उनके प्रति सम्मान अवश्य प्रकट किया गया है किन्तु मात्र इनके आधार पर शूद्रो की

---

१. अथर्ववेद १९. ३२ ८, ६२. १, वाज० स० २६.२

२ अथर्ववेद १९ ६२ १

३ तै० स० ५ ७ ६ ४, वाज० स० १८ ४८ मै० सं० ३ ४.८

४ बृ० उप० ४ ३ २

५ छान्दोग्य उप० ५ २४ ४

६ कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डया, भाग १, पृ० १२९
शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ८१

आदरणीय स्थिति का बोध नहीं होता। इसके विपरीत सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन में उनके बहिष्कार एवं अवज्ञा का जो भाव मिलता है उससे उनकी करुण कथा ही मुखरित होती है। शूद्रों की पशुवत् स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ऐतरेय ब्राह्मण का 'यथाकामवध्य' विशेषण ही पर्याप्त है।



इन सभी बातो के होते हुये भी शूद्र को समाज का अविच्छिन्न और अनिवार्य अग समझा जाता था। समाज के सुख-दुख में उसका भी भाग था। अथर्ववेद तथा वाजसनेयी सहिता मे आर्य और शूद्र दोनो का प्रिय बनने की कामना व्यक्त की गई है।[१] अथर्ववेद में एक ऋषि कहता है कि 'मुझे देवताओ का प्रिय बनाओ, राजन्यो का प्रिय बनाओ, शूद्रो और आर्यो का प्रिय बनाओ।[२] निश्चय ही यहाँ चारो वर्णो के प्रिय बनने की कामना की गई है। एक उल्लेखनीय अश मे जो यजुर्वेद की लगभग सभी शाखाओं मे मिलता है अग्नि से चारो वर्णों के लोगो को 'रुचम्' (तेज Brilliance) प्रदान करने की प्रार्थना की गई है।[३] उपनिषदो के युग तक नवीन धार्मिक क्रान्ति के साथ ही शूद्रो के प्रति हीन सामाजिक दृष्टिकोण का भी विरोध हुआ। बृहदारण्यक उपनिषद मे कहा गया है कि आत्मन् के क्षेत्र मे कोई भेद अथवा दुराव नही रहता। यहाँ चडाल और पौल्कश भी हीन नहीं माने जाते हैं।[४] इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद चडाल को भी अग्निहोत्र के अवशेष का अधिकारी बतलाता है।[५]

निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते हैं कि शूद्रो को अधिकाशत विजातीय, विजित तथा हीनाचारी होने के कारण समाज के सास्कृतिक जीवन से पृथक् किया गया। साथ ही उनकी हीन स्थिति का बुद्धिजीवी वर्ग ने अपने स्वार्थ-साधन हेतु दुरुपयोग भी किया। फिर भी अपनी आर्थिक उपयोगिता के कारण उन्हें कुछ सुविधायें भी प्राप्त हुई थी। किन्तु कीथ महोदय का यह मत कि इस युग में शूद्रो की स्थिति अस्पष्ट (Ambiguous) थी न्याय-सगत नही कहा जा सकता।[६] यत्र-तत्र राजनैतिक अवसरो पर उनके प्रति सम्मान अवश्य प्रकट किया गया है किन्तु मात्र इनके आधार पर शूद्रो की

---

१ अथर्ववेद १९. ३२. ८, ६२. १, वाज० स० २६.२

२ अथर्ववेद १९ ६२ १

३ तै० स० ५ ७ ६ ४, वाज० स० १८ ४८ मै० सं० ३ ४.८

४ बृ० उप० ४ ३ २

५ छान्दोग्य उप० ५ २४ ४

६ कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इण्डिया, भाग १, पृ० १२९
शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० ८१

आदरणीय स्थिति का बोध नहीं होता। इसके विपरीत सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक जीवन में उनके बहिष्कार एवं अवज्ञा का जो भाव मिलता है उससे उनकी करुण कथा ही मुखरित होती है। शूद्रों की पशुवत् स्थिति को स्पष्ट करने के लिए ऐतरेय ब्राह्मण का 'यथाकामवध्य' विशेषण ही पर्याप्त है।



परि ारि संगठ
और
ि ों की था

उत्तर-वैदिक-युगीन पारिवारिक संगठन बहुत कुछ पूर्ववैदिक-युग के समान था यद्यपि इसपर आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तनों का प्रभाव पड़ने के कारण कुछ अन्तर भी आ गये थे। संयुक्त परिवार की परम्परा अभी विच्छिन्न नहीं हो पाई थी। अथर्ववेद (३ ३० १-३) में पारिवारिक जीवन के, जिस आदर्श का चित्रण है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है।[1] पिता के, जो कुटुम्ब का नायक होता था, जीवन काल मे उसके सभी पुत्र एव पौत्र बहुधा साथ-साथ रहते थे लेकिन अब कभी-कभी उसकी वृद्धावस्था में उसके पुत्र पारिवारिक सम्पत्ति का बटवारा करने की माग करने लगे थे। जैमिनीय ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि अभिप्रतारण के चार पुत्रो ने उस समय सम्पत्ति के बटवारे के लिए कलह किया जब वह वृद्धावस्था में रोगशैय्या पर पड़ा हुआ था।[2] पुत्रों के कलह का कारण जानने पर अभिप्रतारण ने क्षुब्ध होकर कहा कि 'मैंने सुना था कि एक समय ऐसा आएगा जब पिता के जीवन कालमे ही पुत्र सम्पत्ति का बटवारा करा लेंगे। उसके इस कथन से प्रमाणित होता है कि पिता के जीवन-काल में पुत्रो द्वारा सम्पत्ति-विभाजन एक अज्ञात-पूर्व एव आश्चर्यजनक बात थी। मनु के पुत्रो ने भी उसके ही जीवन काल में

संयुक्त परिवार

---

१ सहृदयं सामनस्यमविद्वेषं कृणोमि व
अन्यो अन्यमभिहर्यंत वत्स जातमिवाघ्न्या
अनुव्रत' पितु पुत्रो माता भवतु समनाः
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम्
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा
सम्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया।

२. जै० ब्रा० ३ १५६

सम्पत्ति का बटवारा करा लिया था।[1] इस नवीन परिवर्तन से कई विषयों पर प्रकाश पड़ता है। प्रथम, इससे प्रतीत होता है कि इस युग मे पिता की असीम सत्ता का ह्रास होने लगा था। हम कह चुके हैं कि आर्यो की पितृ-प्रधान पारिवारिक व्यवस्था मे पुत्रों पर पिता का प्रायः निरंकुश शासन रहता था। पारिवारिक सम्पत्ति का वह एकमात्र स्वामी था और पुत्रो का दाय-प्राप्ति का अधिकार मात्र नैतिक था।[2] किन्तु इसके विपरीत उत्तर-वैदिक युग तक पुत्र पिता की सम्पत्ति पर अपना स्वाभाविक अधिकार मानने लगे थे। स्पष्ट है कि इस युग मे एक ओर पिता के निरकुश अधिकारो का अन्त हो रहा था तो दूसरी ओर पारिवारिक सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व की चेतना विकसित हो रही थी। ब्राह्मण युग में पुत्रो के जन्मना स्वत्ववाद का सिद्धान्त अस्तित्व मे आ चुका था। किन्तु परवर्ती युग मे यह सिद्धान्त प्राचीन परम्परा के अनुकूल न होने के कारण धर्मसूत्रों द्वारा अनुमोदित नही हुआ। इन ग्रन्थों मे पिता के अधिकारों का समर्थन करते हुए इस बात पर बल दिया गया है कि सम्पत्ति-विभाजन पिता के जीवन काल में नही होना चाहिए।[3]

उत्तरवैदिक युग मे पारिवारिक विघटन एवं पुत्रो द्वारा सम्पत्ति-विभाजन की यह नवोदित प्रथा बहुत कुछ परिस्थितिजन्य थी। पूर्ववैदिक आर्यों को युद्ध, विजय एवं प्रसार की सकटग्रस्त परिस्थितियो से होकर गुजरना पड़ा। ऐसी स्थिति मे चाहते हुए भी एकाकी और विभाजित जीवन व्यतीत करना सर्वथा असुरक्षित था। दूसरे इस युग में पशु (और विशेषत गायें) आर्थिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण होते हुए भी दुर्लभ नहीं थे। युद्ध मे पराजित स्थानीय जनो के पशु-समूह सरलता से आर्यों के हाथ आ जाते थे। उन्हें प्राप्त करने के लिए पारस्परिक सघर्ष की आवश्यकता नही थी। इसके विपरीत उत्तरवैदिक युग तक आर्यों का प्रसार-क्रम काफी मन्द पड चुका था। वे स्थायी आवास बनाकर रहने लगे थे। राजसत्ता के विकास के साथ शान्ति एवं सुरक्षा में वृद्धि हुई। ऐसी स्थिति में भूसम्पत्ति एवं पशुधन की सहज प्राप्ति दुष्कर हो गई। परिणामत धीरे-धीरे परिवार को पूर्वार्जित सम्पत्ति ही

१ ऐत० ब्रा० ५ १४, तै० स० ३.१.९.४ के अनुसार यह बटवारा मनु ने स्वय किया।

२. वैदिक इण्डेक्स, १.३५१

३. गौतम १५ १५, १९

इसके सदस्यो के आकर्षण का प्रमुख केन्द्र हो गई। शक्तिमान पिता पारिवारिक सम्पत्ति के बटवारे मे पूरी मनमानी करता था तथा अपने प्रियपुत्र को सम्पत्ति मे अधिक हिस्सा दे सकता था। ताण्ड्य ब्राह्मण[१] में कहा गया है कि पिता का प्रिय पुत्र अधिक सम्पत्ति प्राप्त करता है अत अन्य पुत्रों को उससे स्वभावत ईर्ष्या होती है। निश्चय ही सभी पुत्र सम्पत्ति विभाजन में समान भाग चाहते होगे अत पिता के मनमाने विभाजन से बचने के लिए उनके अस्वस्थ अथवा अशक्त होने पर स्वय विभाजन का प्रयास करने लगे। इसके अतिरिक्त पिता के शक्तिमान रहने पर तो पुत्रों और पुत्रवधुओं पर पर्याप्त शासन रहता था किंतु उसके प्रभाव के हटते ही भाइयो में कलह प्रारम्भ हो जाता था फिर उनका साथ-साथ-रहना प्राय कठिन हो जाता था। ऐसी स्थिति में यदा-कदा पिता के जीवनकाल मे ही भाई अलग हो जाते थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् भी यदि सभी भाई साथ साथ रहते थे तो ज्येष्ठ भ्राता सयुक्त परिवार का प्रधान बनता था। जान मेन ने इसकी स्थिति पिता से भिन्न मानी है। उनके अनुसार जहा पिता प्रकृत्या परिवार का स्वामी था वहा ज्येष्ठ भ्राता केवल भाइयो के समझाते से परिवारका मुखिया बनता था।[२]

उत्तरवैदिक-युगीन पारिवारिक जीवन मे विघटन की प्रक्रिया का सकेत भ्रातृव्य शब्द के अर्थपरिवर्तन से भी होता है। भ्रातृव्य शब्द का अर्थ चचेरा भाई है।[३] अथर्ववेद में उसकी गणना बान्धवो में की गई है।[४] किन्तु ब्राह्मण युग तक हम इसका प्रयोग प्रतिस्पर्धी शत्रु के अर्थ मे पाते हैं।[५]

---

१. ताण्डय ब्रा० १६.४.४.३–४

२. मेंन, हिन्दू ला, पृ० ३२०

३. ह्विटने ने अथर्ववेद (२.१८.५) के अनुवाद मे इसका मूल अर्थ भतीजा माना है किन्तु यह उचित नही प्रतीत होता। यदि पितृव्य का अर्थ चाचा हो सकता है तो निश्चय ही भ्रातृव्य का अर्थ भतीजा न होकर चचेरा भाई ही होगा।

४ अथर्ववेद १० ३ ६, ५ २२ १२

५ शत० ब्रा० १.१ १.२१, ऐत० ब्रा० ३ ७, पच० ब्रा० २ ७.२, १२ १३ २ देखिए सहिताएं—अथर्ववेद २.१८.१, ७ १.१८, वाज० स० १.१०,तै० स० १.३.२.१, ३.५.६.२

काठक संहिता मे उसे 'अप्रिय' 'पाप्मा' और 'द्विषन' विशेषण दिए गए है।[१] पाणिनि ने भ्रातृव्य शब्द के दोनों अर्थों को समान रूप से स्वीकार किया है।[२] भ्रातृव्य के शत्रु बनने के कारण सामूहिक परिवार के साम्पत्तिक झगडे प्रतीत होते हैं।[३] आप्टे महोदय का यह मत कि भ्रातृव्य शब्द का शत्रुवाचक अर्थ सम्भवत इरानियों एव भारतीय आर्यों के पारस्परिक कलह का स्मरण दिलाता है,[४] नितान्त काल्पनिक प्रतीत होता है, क्योंकि वैदिक साहित्य के जिन अशो मे भ्रातृव्य शब्द का शत्रुवाचक अर्थ मिलता है वे अधिकाशत हिन्द-इरानी युग से बहुत बाद के हैं। दूसरे भारतीय आर्यों एव इरानियो के बीच किसी सघर्ष अथवा कलह के निश्चायक प्रमाण भी नही हैं। भ्रातृव्य शब्द के शत्रुवाची अर्थ से इतना तो स्पष्ट है कि चचेरे भाइयों का साथ-साथ रहना उत्तरवैदिक युग में एक असामान्य स्थिति थी। इनके इस सम्बन्ध से भाइयो के आपसी सम्बन्ध पर भी न्यूनाधिक रूप से प्रकाश पडता है। इससे इस बात की सम्भावना दृढ होती है कि भाइयो का सामूहिक और सयुक्त जीवन केवल पिता के प्रभाव के कारण ही था। उस प्रभाव से मुक्त होते ही वे अपने पृथक् परिवार की व्यवस्था का प्रयास करते होगे। सूत्रकाल तक तो स्पष्ट रूप से विभाजन का सैद्धातिक समर्थन हुआ। गौतम के अनुसार विभाजन से धर्म-वृद्धि होती है।[५]

उत्तरवैदिक युग की सयुक्त परिवार-व्यवस्था के ह्रास के कई महत्वपूर्ण कारण थे। सबसे प्रबल कारण आर्थिक परिस्थियो मे परिवर्तन था। यद्यपि कृषि और पशुपालन आर्यों के प्रमुख
विघटन के प्रमुख कारण व्यवसाय थे किन्तु अब धीरे-धीरे वाणिज्य और शिल्पों का भी विकास होने लगा था। पण, कार्षापण तथा आढक, द्रोण, प्रस्थ आदि नामो के उल्लेख से उस समय की व्यापारिक प्रगति का सकेत मिलता है। व्यापारिक प्रगति एव लघु उद्योग धन्धों के विकास के फलस्वरूप परिवार से अलग होकर जीविकोपार्जन करना सरल एव स्वाभाविक हो गया। व्यापारिक तथा

---

१ काठक स० १८ ८, १० ७

२ अष्टाध्यायी, ४ १ १४४-४५

३ पाल, ला आव प्राइमाजैनिचर, पृ० २२८

४ आप्टे, सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज, पृ० ६७

५. गौतम, २८.४ विभागे धर्मवृद्धि

औद्योगिक विकास के अपेक्षया मन्द होने के कारण पारिवारिक विघटन की प्रवृत्ति भी धीमी रही ।

व्यापारिक एवं औद्योगिक प्रगति का एक और भी परिणाम हुआ । कृषि एवं पशुपालन जैसे व्यवसायों में सामूहिक श्रम की आवश्यकता थी अतः इनसे उत्पन्न धन पर परिवार का प्रत्येक सदस्य व्यक्तिगत स्वत्व की कल्पना नहीं कर सकता था । इसके विपरीत पृथक् उद्योगों एवं व्यापार से अर्जित सम्पत्ति प्रायः व्यक्तिगत प्रयत्नों का परिणाम होती है । परिणामतः ऐसी सम्पत्ति पर वैयक्तिक अधिकार एवं उसके उपभोग की स्वतन्त्रता की भावना ने परिवार के सदस्यों को पृथक् पृथक् रहने को प्रेरित किया होगा । वैदिक युग के पितृप्रधान संयुक्त परिवार के कठोर अनुशासन में पले व्यक्ति को यह पृथक् जीवन बड़ा ही भारहीन प्रतीत हुआ होगा साथ ही उसके अहबुद्धि की तुष्टि भी हुई होगी ।

पाल महोदय के अनुसार संयुक्त परिवार में विघटन का एक कारण पितृपूजा भी रही होगी । जब लोग यह विश्वास करने लगे कि पितर परलोक में अपने वंशजो द्वारा दिए गए अन्न के उपभोग से पलते हैं तो पुत्र में यह इच्छा होनी स्वाभाविक थी कि वह अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक सावधानी से अपने पिता को अन्न पहुँचाता रहे । यदि कोई विद्वान किसी दिन यह सिद्ध कर देगा कि वैदिक परिवार में इसी कारण ये झगड़े उत्पन्न हुए तो हमें इस बात पर कोई आश्चर्य नहीं होगा । इन झगड़ों से न केवल संयुक्त परिवार का विघटन हुआ बल्कि पितृपूजा में पितृपरम्परा में पूजे जाने वाली पीढ़ियों की संख्या भी मर्यादित हो गई ।[1] किन्तु इस सम्भावना के पक्ष में न केवल प्रमाणों का अभाव है बल्कि यह असंगत भी प्रतीत होती है । एक ही परिवार में विभिन्न पितृपूजक सदस्यों में किसी प्रकार के पारस्परिक विरोध का कोई कारण नहीं होना चाहिए । परिवार के एक सदस्य की पितृभक्ति से दूसरे की पितृभक्ति का मार्ग अवरुद्ध नहीं होता । आज भी हिन्दू संयुक्त परिवारों में पितृपूजा होती है किन्तु उनके कारण पारिवारिक जीवन में कलह नहीं होता । अब भी प्रायः पारिवारिक विभाजन एवं विघटन के कारण आर्थिक ही हुआ करते हैं । सम्भव है कि इस युग की भाँति वैदिक युग में भी पारिवारिक कलह में स्त्रियों का हाथ रहा हो ।

१. पाल, पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० २४८

रक्त सम्बन्ध के कारण जहाँ भाइयो मे स्नेह और सहानुभूति की भावना होती है वहीं अन्य परिवारो से आने के कारण कुलवधुओ की निष्ठा पति के अतिरिक्त अन्य लोगो मे कम होती है ।[१] पूरे परिवार के साथ आत्मीयता के अभाव मे अपने को परिवार के सभी श्रेष्ठ जनो के प्रभुत्व से मुक्त करने के लिए पति को पृथक् परिवार की सृष्टि करने की प्रेरणा देना उनके लिए सर्वथा स्वाभाविक होता है ।

कुछ विद्वानों ने कर्मवाद के सिद्धात के विकास को भी पारिवारिक विघटन का कारण माना है ।[२] लेकिन स्पष्टत. कर्मवाद का सिद्धान्त व्यक्तिको सयुक्त परिवार से पृथक् करने का कारण नही वरन् विघटन के सैद्धान्तिक औचित्य को सिद्ध करने का एक साधन मात्र कहा जा सकता है ।

सयुक्त परिवार के विघटन का यह तात्पर्य नही हैं कि ब्राह्मण युग मे यह सस्था समाप्त हो चली थी । अभिप्रतारण और मनु के पुत्रो के उदाहरण पारिवारिक जीवन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन की सूचना देते हुए भी अपवाद मात्र थे । अथर्ववेद के स्वापन सूक्त (४.५) और सामनस्य सूक्त (३ ३०) सयुक्त परिवार के अस्तित्व की ओर सकेत करते हैं । स्वापन सूक्त मे रात में परिवार के सभी सदस्यों को मन्त्रो से सुलाने की कामना करते हुए कहा गया है जो नारिया प्रोष्ठ (बेंच) पर लेटी हुई हैं, पलग पर लेटी हुई हैं, पालकी में लेटा करती हैं, जो स्त्रियाँ उत्तम गधवाली है, उन सबको हम सुलाते हैं । मध्यरात्रि में गति करने वाली प्रत्येक वस्तु को हमने पकड रक्खा है । चक्षु और श्वास को भी थाम लिया है तथा गति करने वाले अगों को भी निरुद्ध कर लिया है । जो कोई बैठा हुआ है, इधर-उधर जाता है, खडा होकर देखता है, हम उन सबकी आखें नींद से बन्द करते हैं । माता सो जाय, पिता सो जाय, कुत्ता सो जाय गृहस्वामी (विशपति) सो जाय । इस स्त्री के सभी सम्बन्धी और चारो ओर के

सयुक्त परिवार की अक्षुण्ण परम्परा

---

१ रामायण २ ४५ २८ में स्त्रियो को फूट डालने वाला कहा गया है । विमुक्तश्चपलास्तीक्ष्णा भेदकरा स्त्रिय ।

२ सर्वाधिकारी — प्रिंसिपुल्स आव हिन्दू ला आव इनहेरिटेन्स, पृ० ५५

लोग सो जाय।[1] सायणाचार्य के अनुसार इस सूक्त का पाठ स्त्र्यभिगन में उसके आसपास के लोगो एवं सम्बन्धियो को सुलाने के लिए होता था।[2] इस सूक्त से यह स्पष्ट है कि एक ही परिवार मे अनेक लोग रहते थे। अनेक सदस्यो से युक्त परिवार संयुक्त परिवार के अस्तित्व को सूचित करता है जिसमे पति-पत्नी के अतिरिक्त उनके माता-पिता, अनेक सम्बन्धी और बहुत सी स्त्रिया साथ-साथ एक ही घर मे रहती थी। सामनस्य सूक्त (३ ३०) का कवि कहता है मैं तुम्हे समान हृदय वाला, समान मन वाला तथा द्वेषरहित बनाता हूँ। जैसे गाय अपने बछडे को प्यार करती है उसी प्रकार तुम आपस मे प्रेम रखो। तुम समान चित्त वाले बनो, साथ-साथ चलो, साथ-साथ कार्यों की सिद्धि करो तथा आपस मे विभक्त न हो। एक-दूसरे के प्रति मधुर वचन का प्रयोग करो। मैं तुम्हे मिलकर गति करने वाला तथा समान मन वाला बनाता हूँ। तुम एक स्थान मे जल पियो, साथ-साथ भोजन करो। मैं तुम सबको एक बन्धन मे बाँधता हूँ। जिस प्रकार अरे, रथचक्र के चारो ओर जुडे रहते हैं उसी प्रकार तुम एक साथ मिलकर गति करते हुए अग्नि की उपासना करो।[3] स्पष्टत इस सूक्त मे परिवार को अविभक्त और संयुक्त बनाए रखने का आदेश दिया गया है।

---

१ अथर्ववेद ४ ५ ३-६, प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः। स्त्रियोया पुण्यगन्धयस्ता सर्वा स्वपयामसि ॥ एतदेतदजग्रभ चक्षु प्राण-मजग्रभम्। अगान्यजग्रभ सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे॥ य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति। तेषा सदध्मो अक्षीणि-। स्वप्तु माता, स्वप्तु पिता, स्वप्तु श्वा, स्वप्तु विश्पतिः। स्वपन्त्वस्यै ज्ञातय स्वप्त्वयमभितो जन ॥

२. इस सूक्त के १, ३, ५ और ६ मन्त्र ऋ० ७ ५५ ५-८ में मिलते है। इनमे भी इन मन्त्रो का प्रयोग सुलाने के लिए किया गया है। ग्रिफिथ महोदय ने ऋ० २, ५४ की टिप्पणी मे कहा है कि अथर्ववेदकालीन प्रेमी जब अपनी प्रेयसी के पास अभिसार के लिए जाता था तो वह इन मन्त्रो की सहायता से उसके अन्य सम्बन्धियो को सुलाता था।

३ अथर्ववेद ३, ३० १, ५-६, सहृदय सामनस्यमविद्वेष कृणोमि व। अन्योअन्यमभिहर्यत वत्स जातमिवाघ्न्या। ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्त सधुराश्चरन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्व संमनसस्कृणोमि ॥ समानी प्रपा सह वोन्नभाग समाने योक्त्रे सहवो युनज्मि। सम्यञ्चोग्नि सपर्यतारा नाभिमिवाभित ॥

सयुक्त परिवार की यह अविच्छिन्न परम्परा गृह्यसूत्रों में भी पूर्णत जीवन्त है। गोभिल गृह्यसूत्र से ज्ञात होता है कि उस समय विशाल सयुक्त परिवार होते थे।[१] परिवार के सदस्यो की सख्या इतनी अधिक होती थी कि भोजन एक चूल्हे पर नही बन पाता था, अत अलग-अलग भोजन की व्यवस्था की जाती थी। पारस्कर गृह्यसूत्र मे भी एक विशाल परिवार का उल्लेख हुआ है।[२] इस ग्रन्थ के अनुसार गृहपति को वैश्वदेव यज्ञ के पश्चात् पहले भिक्षुओ, ब्रह्मचारियों, सन्यासियों और अतिथियों को भोजन कराना चाहिए, फिर बालको और बूढो को तदनन्तर परिवार के अन्य सदस्यो को। उसे स्वय सबसे अन्त मे भोजन करना चाहिए।

वैदिक परिवार में सामान्यत तीन पीढी के लोग साथ साथ रहते थे।[३] जैसा कि श्राद्ध एव अन्य यज्ञो में पितरों के आह्वान से सकेत मिलता है। उत्तर-वैदिक युग तक पितरो की पूजा का रूप पर्याप्त परिवर्तित हो चुका था। ऋग्वेद, शुक्ल, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद मे वर्णित पितरों की पूजा में स्पष्ट अन्तर है। ऋग्वेद में पितरो का सामान्य रूप से आह्वान किया गया है।[४] ऐसा प्रतीत होता है कि उनका सम्बन्ध किसी कुल विशेष से नही वरन् सम्पूर्ण जन से माना जाता था। यज्ञादि पवित्र अवसरों पर इनका आह्वान होता था। उस समय सहस्रो की संख्या में देवताओ सहित इनकी उपस्थिति की आशा की जाती थी।[५] किन्तु ऋग्वेद में ही विशिष्ट परिवारो द्वारा अपने पारिवारिक पितरों की पूजा करने के सकेत भी मिलते हैं। ऋग्वेद के प्रथम मडल में अगस्त्य और लोपामुद्रा का वार्तालाप इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।[६] इस सूक्त मे महर्षि अगस्त्य अपनी पत्नी लोपामुद्रा से यौन-सम्बन्ध की याचना करते हैं। दीर्घ काल तक अविवाहित रहने के पश्चात् अगस्त्य को ज्ञात होता है कि उनके पितर उनसे नियमित रूप से बलि न मिलने के कारण अत्यन्त कष्ट मे है। पितरों ने अपने उद्धार का मार्ग अगस्त्य द्वारा गृहस्थ जीवन का

---

१ गो० गृ० सू० १ ४ २३ २६

२ पा० गृ० सू० २ ९

३ द्रष्टव्य—हिन्दू परिवार मीमासा पृ० ३८।

४ ऋ० १० १५

५ कपाडिया, हिन्दू किनशिप, पृ० १२, घुरिये, फैमिली एण्ड किन इन इण्डोआर्यन कल्चर, पृ० ४४

६ ऋ० १.१७९

स्वीकार बताया। इस पर अगस्त्य ने इनके उद्धार के लिए विदर्भराज से सृष्टि के समग्र प्राणियो के सर्वोत्तम अगो से विनिर्मित लोपामुद्रा को मागा।[१] यदि अगस्त्य और लोपामुद्रा के वार्तालाप का आधार महाभारतकार द्वारा प्रदत्त इस पुराकथा को माना जाय तो यह स्वीकृत करना पडेगा कि ऋग्वैदिक युग मे ही पृथक् पृथक् परिवारो मे अपने पितरो की पूजा होने लगी थी तथा यह विश्वास भी प्रबल हो चुका था कि पितर पुत्रो द्वारा प्राप्त अन्न से पलते हैं। उत्तरवैदिक साहित्य मे पितृपूजा के जो उदाहरण हमे मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि पुत्र अपने ही पिता, पितामह आदि पूर्वजो को यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट करते थे। यजुर्वेद तथा अथर्ववेद मे पितरो की पीढियो की सख्या भी मर्यादित कर दी गई है। शुक्ल यजुर्वेद (१९ ३६-३७) मे पिता, पितामह और प्रपितामह को नमस्कार करते हुए उनसे वशजो को पवित्र करने की प्रार्थना की गई है। अथर्ववेद के पितृमेध या श्राद्ध सम्बन्धी सूक्तो मे तत, ततामह और प्रततामह को स्वधादान का उल्लेख है।[२] प्रपितामह का उल्लेख परवर्ती सहिताओं और ब्राह्मणो मे अनेकश हुआ है।[३] पितृपूजा मे केवल तीन पीढी के पूर्वजो का आह्वान सयुक्त कुटुम्ब-व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालता है। घुरिये महोदय इस आधार पर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि साधारणतया चार पीढी के लोग एक परिवार मे साथ साथ रहते थे जिनमे चौथा अपने तीन पूर्वजों (पिता, पितामह, प्रपितामह) से सुपरिचित होने के कारण मृत्यु के पश्चात् उन्हे बलि देता था। यदि परिवार मे तीन ही पीढी के लोग रहते तो पितृपूजा मे दो ही पीढी के पूर्वजो को स्थान मिलता।[४] उपर्युक्त विद्वान का मत तर्कपूर्ण होते हुए भी प्रामाणिक नही कहा जा सकता क्योकि चार पीढियो का व्यावहारिक रूप में एक साथ रहना असामान्य घटना ही कही जाएगी। दूसरे, अथर्ववेद में (१४ १ ४३, ४४) नववधू को पोतो पर से युक्त परिवार शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है। उसे प्रपौत्रो से युक्त परिवार पर शासन करने को नही कहा गया है। ऋग्वेद मे एक स्थान पर प्रपौत्र का उल्लेख अवश्य हुआ

---

१ महाभारत, ३ ९६

२ अथर्ववेद १८.४.७५

३ तै० स० १.८.५ १, शत० ब्रा० २ ४.२ १६, १२ ८ १ ७

४. घुरिये, फैमिली एण्ड किन इन इण्डो-आर्यन कल्चर, पृ० ४५

है।[१] किन्तु मात्र इसके आधार पर चार पीढियो का साथ-साथ रहना सिद्ध नही होता। अपवादस्वरूप आज भी कुछ ऐसे परिवार मिल जाते हैं जिनमें प्रपितामह और प्रपौत्र को अल्पकाल तक साथ साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है किन्तु ऐसे स्थानो पर भी बहुधा बालक की चेतना के सजग होने के पूर्व ही प्रपितामह का देहावसान हो जाता है। हम देख चुके हैं कि ऋ० १० ८५ में नववधू को सास श्वसुर की रानी बनने को कहा गया है किन्तु वहाँ भी प्रपितामह अथवा प्रपितामही का कोई सकेत नहीं है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में हम कही भी प्रपितामह का सयुक्त परिवार के जीवित सदस्य के रुप मे उल्लेख नही पाते। ऐतरेय ब्राह्मण मे नप्तृ का प्रयोग प्रपौत्र के अर्थ में अवश्य हुआ है[२] किन्तु इस प्रसग से भी उसके पारिवारिक सदस्य होने की बात स्पष्ट नही होती है। इसमे एक व्यक्ति अपने वशजो को पारिवारिक अग्निहोत्र की परम्परा को अक्षुण्ण रखने का सदेश देते हुए पुत्र, पौत्र और नप्तृ को सम्बोधित करता है। वस्तुतः यहाँ उसका सन्देश परिवार के सदस्यों के लिए नही बल्कि आने वाली पीढियो के लिए है। अत इसके आधार पर चार पीढियो का साथ-साथ रहना पुष्ट नही होता। अभिप्रतारण की कथा से भी स्पष्ट है कि पुत्रो के युवावस्था तक पहुँचते पहुँचते पिता स्वय वृद्ध और अशक्त हो जाता था। वैदिक परिवार का जो चित्र सामान्यत. मिलता है उससे ज्ञात होता है कि परिवार का केन्द्र गृहपति एव उसके भाई होते थे और उनके साथ सयुक्त परिवार की ग्रन्थि को दृढ़ करने वाले बूढे माता पिता तथा गृहपति एव उसके भाइयों की अपनी सन्तानें होती थीं। इस प्रकार सामान्य रूप से वैदिक परिवार की सीमा पितामह से पोते तक ही समझनी चाहिए। पितृपूजा में तीन पीढ़ियों की सख्या मर्यादित करने का कारण दूसरा ही प्रतीत होता है। परिवार मे पला प्रत्येक व्यक्ति अपने से ऊपर की दो पीढियों से सुपरिचित होता था। अत श्राद्ध के समय न केवल अपने पिता का आह्वान करता था बल्कि अपने पिता एव पितामह के पिता के प्रति भी अपना आदर व्यक्त करता था।

उत्तरवैदिक युग में दाम्पत्य जीवन पर्याप्त सुखी था तथा पत्नी का स्थान पूर्ववत महत्वपूर्ण और आदरणीय माना जाता था। तैत्तिरीय सहिता

---

१ ऋ० ८ १७ १३, अणपात

२. ऐत० ब्रा०, ३२.१०

से ज्ञात होता है कि समाज मे तीन ऋणों की कल्पना जन्म ले चुकी थी।[१] पितृ ऋण से मुक्त होने के लिए विधिवत विवाह एव पुत्रोत्पत्ति आवश्यक माने जाते थे। महर्षि अगस्त्य ने पितरों के उद्धार-हेतु ही वैवाहिक जीवन स्वीकार किया था।[२] अविवाहित पुरुष को

दाम्पत्य जीवन की महत्ता

यज्ञाधिकार से वचित माना जाता था।[३] विवाह करके पुत्र उत्पन्न करने के पश्चात् ही व्यक्ति पूर्ण समझा जाता था।[४] यज्ञादि कार्यों की सिद्धि के लिए पुत्र-प्राप्ति आवश्यक थी। ऐतरेय ब्राह्मण में एक स्थान पर सन्यास की निन्दा करते हुए पुत्रोत्पादन को ही परम-धर्म बताया गया है।[५] विवाह एव पुत्रार्जन की इस अनिवार्यता के पीछे सामाजिक हित एव प्रगति की प्रबल भावना थी। पुत्र वृद्धावस्था का सहारा था, राष्ट्र की शक्ति था उसी के माध्यम से वश की परम्परा अक्षुण्ण रहती थी। तैत्तिरीय सहिता मे प्रजा के माध्यम से अमृतत्व प्राप्ति की कामना की चर्चा पीछे की जा चुकी है। एकाकी जीवन धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से भी उपेक्षणीय था। अविवाहित व्यक्ति अपने पितरों को श्राद्ध नही दे पाता था। साथ ही मृत्यु के पश्चात् होने वाली अपनी दुर्गति की कल्पना से वह स्वभावत खिन्न रहता था। विवाह की इस अनिवार्यता के पीछे नवीन वैराग्यमूलक प्रवृत्तियों से उत्पन्न प्रतिक्रिया का भी योग था। उत्तरवैदिक युग के अन्त तक नैष्ठिक ब्रह्मचारी तथा ब्रह्मवादिनीस्त्रियो के समूह समाज मे बढने लगे थे। इस नये विकास को रोकने के लिए भी विवाह की अनिवार्यता पर बल दिया गया। महाभारत में जरत्कारु और कुणिगर्ग की कथा द्वारा स्त्री-पुरुष दोनो के लिए विवाह एव पारिवारिक जीवन की अनिवार्यता व्यक्त की गई है। जरत्कारु (१ १३ व १ ४५) एक उग्र तपस्वी थे। उन्होने विवाह नही किया था किन्तु पितरों की दुर्दशा देखकर अन्ततोगत्वा उन्हें विवाह करना पडा।

---

१ तै० स० ६ ३.१० ५, काणे, हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० २७०

२ देखिए पीछे,

३. शत० ब्रा० ५ २ ६ १०, अयज्ञोयो वै एषऽपत्नीक, तुल० तै०ब्रा०२२ २ ६

४ शत० ब्रा० ५ २.१ १०

५ ऐत० ब्रा० ३३ ११, किं नु मल किमजिन किं श्मश्रुणि किं तप । पुत्रं ब्राह्मण इच्छध्व स वै लोको वदावदः ।

कुणिगर्ग की कन्या ने आजीवन घोर तप किया (९५२), तथा बूढी होने पर स्वर्गारोहण की इच्छा की किन्तु जब नारद द्वारा उसे यह ज्ञात हुआ कि अविहाहिता कन्या स्वर्ग की अधिकारिणी नही होती तब उसने अपनी तपस्या का अद्धाश देकर शृगवान से शादी की और उसके पश्चात् ही वह स्वर्ग जा सकी। हिन्दू समाज में विवाह की अनिवार्यता का विचार आज भी जीवित है। कई प्रदेशो में जब कोई व्यक्ति अविवाहित हो मर जाता है तो दाह सस्कार के पूर्व उसका विवाह अवश्य कराया जाता है।[१]

उत्तर-वैदिक युग मे विवाह-पद्धति से सम्बन्धित विभिन्न नियम तथा प्रणालिया दिखाई देती हैं। समाज के सम्भ्रान्त व्यक्तियो का झुकाव बहु-पत्नीत्व की ओर था। उत्तर-वैदिक-साहित्य मे बहुपत्नीकता की अस्वस्थ परम्परा को प्रोत्साहित किया गया है। उदाहरणार्थ तैत्तिरीय ब्राह्मण में बहुपत्नीत्व को सौभाग्यदायक बताया गया है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण मे स्पष्ट कहा गया है कि एक पुरुष की अनेक पत्निया हो सकती हैं किन्तु एक स्त्री के अनेक पति नहीं।[३] याज्ञवल्क्य जैसे विद्वान तथा दार्शनिक ने भी मैत्रेयी और कात्यायनी नामक दो स्त्रियो से विवाह किया था।[४] ऐतरेय ब्राह्मण एक स्थान पर राजा हरिश्चन्द्र की सौ पत्नियो का उल्लेख करता है।[५] इसके अतिरिक्त राजसूय की विधि के विवरण से ज्ञात होता है कि राजाओं की बहुधा विभिन्न वर्णोत्पन्न चार पत्निया होती थी।[६] मैत्रायणी सहिता मे मनु की दस पत्निया बताई गई है।[७] शतपथ ब्राह्मण में भी बहुपत्नीत्व का समर्थन किया गया है तथा इसका एक धार्मिक आधार प्रस्तुत किया गया है।[८] किन्तु वैदिक साहित्य मे ही उपलब्ध प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है

विवाह

---

१. सेन्सस रिपोर्ट, १६३१, खण्ड १, भाग १, पृ० २२७
२. तै० ब्रा० ३ ८४ श्रिया वा एतद्रूप यत्पत्नय
३. ऐत० ब्रा० १२ ११, तस्मात् एकस्य बह्वी जाया भवन्ति न एकस्यै बह्व सहपतय तै० स० ६ ५.१० ४, एकोबह्वीर्जाया विन्दते।
४. बृ० उप० ४ ५ १ २
५. ऐत० ब्रा० ३३ १
६ शत० ब्रा० १३ २ ६.४-६ महिषी, परिवृक्ति, वाताता और पालागली
७ मैत्रा० सं० १ ५ ८
८ शत० ब्रा० ९ १ ४ ६

कि बहुपत्नीकता की यह परम्परा सामाजिक दृष्टि से बहुत ही घातक थी। निश्चय ही इन सपत्नियो के कलह से पारिवारिक जीवन अशान्त और क्षुब्ध रहता होगा। अथर्ववेद मे सपत्नी विनाश के लिए मन्त्रो का विधान है।[१] उत्तर-वैदिक साहित्य मे स्थान-स्थान पर सपत्न शब्द का प्रयोग प्रतिद्वन्दी के अर्थ मे हुआ है।[२] इससे यह सिद्ध होता है कि सपत्नियो में 'प्रिय सखीवृत्ति' अकल्पनीय थी। उनकी प्रतिद्वन्दिता और संघर्ष ने जहाँ दाम्पत्य जीवन के सुखो को दूषित और विषाक्त किया वही वह स्त्रियों के पतन का भी एक प्रबल कारण बना। पति का सपत्नियो की तुलना में अधिक प्रेम और साहचर्य प्राप्त करने के लिए उत्कण्ठिता नारी अपने गौरव-पूर्ण आसन को छोडकर सेवाकार्य मे सलग्न हुई और क्रमश पति के चरणो मे जा बैठी। सहिता युग की पत्नी (स्वामिनी) उपनिषद काल तक भार्या (भरण के योग्य) कहलाने लगी।[३] बहुसख्यक अनार्या स्त्रियो का आर्यों के अन्तपुर मे प्रवेश इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरुप द्रुततर हुआ होगा। ये स्त्रियाँ विजित और अधिकृत थी अत. उन्हें धार्मिक और सामाजिक अनुष्ठानो से पृथक् रक्खा जाता था तथा मात्र उपभोग की वस्तु माना जाता था। धीरे-धीरे यह दृष्टिकोण आर्या स्त्रियो पर भी लागू होने लगा और उन्हें भी उपभोग की वस्तु एव प्रजनन-यन्त्र समझा जाने लगा। उत्तर वैदिक नारी के लिए जाया शब्द का अपेक्षया अधिक प्रयोग इस बात का सकेतक है कि अब नारी की महत्ता का सबसे बडा कारण उसका प्रजनन कार्य माना जाता था। स्त्रियाँ धीरे-धीरे अयज्ञन शूद्र की कोटि में रक्खी जाने लगी।[४]

वैदिक समाज के सम्भ्रान्त वर्गों में बहुविवाह के प्रचलन के मुख्य कारण सम्भवत अनेक पुत्रो की लालसा एव वर्द्धमान समृद्धिजन्य विलासप्रियता थी। आर्यों की पितृप्रधान व्यवस्था भी बहुपत्नीकता के प्रचलन के लिए कम उत्तरदायी नही थी। पुरुष शासित समाज ने जहाँ स्त्रियो को पुरुष के प्रति निष्ठा रखने को बाध्य किया वहाँ पुरुषो को अनेक-स्त्र्यभिगमन की स्वतन्त्रता प्रदान की। श्रोदर महोदय ने अनेक उद्धरणो के साथ यह बताया है कि

---

१. अथर्ववेद१ १४ ३ १८
२. वैदिक इण्डेक्स, २ ४२४
३ बृ० उप० ३.४ १, ४ ५ १
४ शत० ब्रा० १४.१ १ १३

प्रारम्भिक आर्य जातियों में विवाहित पुरुष के व्यभिचार को विशेष आपत्ति-जनक नही माना जाता था किन्तु पत्नी का व्यभिचार एक भीषण अपराध समझा जाता था।[१]

बहुपत्नीकता के प्रचलन को सूचित करने वाले विभिन्न उदाहरणो के आधार पर हमें इसे तत्कालीन युग मे प्रचलित सामान्य प्रथा नही मान लेनी चाहिए। साधारण जनो में एकपत्नीकता ही प्रतिष्ठित थी। सूत्र युग तक हम विधायकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन पाते हैं। सूत्रकारो ने पारिवारिक जीवन को दुखद बनानेवाली बहुपत्नीक प्रथा का विरोध किया तथा एकपत्नीव्रत की व्यवस्था की। आपस्तम्ब ने धर्म और प्रजा से युक्त पत्नी की उपस्थिति मे द्वितीय विवाह का निषेध किया है।[२] केवल स्त्री के अप्रजा स्त्रीप्रजा अथवा मृतप्रजा होने पर ही द्वितीय विवाह की अनुमति दी गई। किन्तु ऐसी स्थिति मे भी एक निश्चित अवधि तक प्रतीक्षा करने का विधान किया गया।

ब्राह्मण साहित्य में बहुपति प्रथा का विरोध मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (३ १२) स्पष्ट शब्दो में इस प्रथा का निषेध करता है। साथ ही तैत्तिरीय सहिता मे भी ऐतरेय ब्राह्मण के इस मत का समर्थन हुआ है।[३] द्रौपदी के विवाह के प्रसग में भी महाभारत मे बहुपतिकता की इस प्रथा को अश्रुत और लोकवेदविरुद्ध बताया गया है (महाभारत १ १९५ २७-२८)। कुन्ती को स्वत अपनी आकस्मिक आज्ञा के दुष्परिणाम पर घोर कष्ट हुआ था।[४] इस विरोध के होते हुए भी बहुपतिकता के प्रचलन की प्रतिध्वनि हमे उत्तर-वैदिक साहित्य में यत्र तत्र मिलती है। अथर्ववेद (१४ १ ६१) मे सूर्या के अनेक पतियों का उल्लेख मिलता है। यास्क ने यह स्वीकार किया है कि बहुधा पति के जीवन काल मे भी स्त्री देवर के लिए गम्य हुआ करती थी।[५]

---

१ प्रिहिस्टरिक एण्टिक्विटीज, पृ० ३८८

२ आप० धर्म० सूत्र० २ · ११ १२, धर्मप्रजासम्पन्ने दारेनान्या कुर्वीत

३ तै० स० ६ ६ ४ ३, द्रष्टव्य कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ इण्डिया, ग्रथ १, पृ० ८८, वैदिक इण्डेक्स १ ४७९।

४ महाभारत १ १२३ २, कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रान् उवाच भुंक्तेति समेत्य सर्वे। पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णा कष्ट मया भाषित मित्युवाच।

५ निरुक्त ३ १५

महाभारत मे हमे जटिला गौतमी, वाक्षी, ममता और माधवी जैसी बहुपतिका स्त्रियों के जो उदाहरण मिलते हैं उन्हें केवल कल्पनाप्रसूत नहीं कहा जा सकता। उपनिषदों मे प्राप्त अनेक ऋषियो एव व्यक्तियों के नाम, जो उनकी माता के नाम पर आधारित हैं, बहुपतिक्ता के सूचक माने जा सकते हैं। सत्यकाम जाबाल, गौतमी-पुत्र, गार्गीपुत्र प्रभृति नाम सम्भवतः इस बातका सकेत करते हैं कि स्त्री के अनेक पति होने के कारण अथवा पितृत्व अज्ञात होने के कारण माताओ के नाम पर पुत्रो का नाम रखने की आवश्यकता पडी। इन अल्पसंख्यक उदाहरणों के आधार पर हम इतना ही कह सकते हैं कि वैदिक समाज मे बहुपतिकता की परम्परा सर्वथा अज्ञात नही थी। साधारणत पितृप्रधान समाज मे बहुपतिकता के विकास की सम्भावना नही होती है। भारतवर्ष मे आज भी यह व्यवस्था उन्ही जातियों में दिखाई देती है जिनका समाज मातृसत्तात्मक है। कुमायूँ प्रदेश में प्राय सभी भाई एक ही स्त्री से विवाह करते हैं तथा उनसे उत्पन्न सन्तान सबसे बडे भाई की मानी जाती है।[1] इस प्रकार की वैवाहिक रीति पजाब को सेंद्राज, लहौल आदि पहाडी जातियो में भी पाई जाती है। हिमालय की तराई मे फैले किरात लोगों (मगोलिद्स) में भी बहुपतिकता की प्रथा बहुत प्रचलित है। भारत में सुदूर दक्षिण मे भी बहुपतिकता की परम्परा दृष्टिगोचर होती है। उत्तरी कन्नड से नायरों ने बहुपतिकता की प्रथा का त्याग ब्रिटिश शासन काल मे किया। थियेन, तोनियार तथा वेल्लर जातिकी स्त्री सभी भाइयों की सामूहिक पत्नी समझी जाती है। नीलगिर के टोडा लोगों में भी इस प्रथा का प्रचलन है। ट्रावनकोर-कोचीन तथा मलाबार मे कुछ अन्य ऐसी जातियाँ हैं जिनमे बहुपतिकता का प्रचलन है। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि बहुपतिकता का प्रचलन भारतवर्ष मे प्रमुखतया प्रजातिगत दृष्टि से हिमालय की तलहटी में बसने वाली मगोल जातियों में तथा दक्षिण भारत के द्रविड भाषा-भाषी भूमध्यसागरीय लोगो में रहा है। विवाह की यह प्रणाली आर्यों की सामाजिक व्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल थी। इसीलिए भारतीय साहित्य में प्रायः सर्वत्र इस व्यवस्था का तिरस्कार किया गया। वैदिक साहित्य में बहुपतिकता के प्रचलन के जो सकेत मिलते हैं उन्हें अपवादस्वरूप ही ग्रहण करना चाहिए। बहुत सम्भव है कि इन एकाकी प्रसगो में आर्येतर सामाजिक परम्पराओं का ही उल्लेख हो क्योंकि

---

१. जाली, हिन्दु ला एण्ड कस्टम्स पृ० १०३

उत्तर-वैदिक युग आर्य एव आर्येतर सास्कृतिक परम्पराओं के सामञ्जस्य का युग था। ऐसी स्थिति मे तत्कालीन समाज मे ऐसे वाह्य तत्वो—का प्रवेश सर्वथा स्वाभाविक था जिनकी उपस्थित सामाजिक पृष्ठभूमि एव सास्कृतिक परिवेश को देखते हुए विचित्र लगे।

धर्मसूत्रों मे बहुधा सपिण्ड एव सगोत्र विवाह का निषेध मिलता है। गोभिल गृह्यसूत्र[1] और आपस्तम्बधर्मसूत्र[2] के अनुसार सपिण्ड कन्या से विवाह नही हो सकता। गौतम जैसे विधायकों ने सपिण्ड विवाह की सीमा निर्धारित करते हुए कहा है कि सपिण्ड विवाह पिता के पक्ष मे सात पीढी तक तथा माता के पक्ष में पाच पीढी तक निषिद्ध है। इसी आधार पर व्यवस्थाकारों ने मातुल दुहिता, पितृस्वसादुहिता आदि के साथ विवाह का निषेध किया है। बौधायन ने मातुलकन्या तथा पितृस्वसासुता से विवाह की परम्परा को दक्षिण भारत मे प्रचलित माना है।[3] उत्तरी भारत की आर्य सस्कृति के लिए यह प्रथा कुछ विचित्र सी थी। महाभारत मे भी सपिण्ड और सगोत्र विवाह का निषेध है।[4] वैसे महाभारत में वर्णित कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह तथा अर्जुन और सुभद्रा का विवाह प्रतिभ्रातृव्य (cross-cousin) विवाहो के न्यूनाधिक प्रचलन की सूचना देते हैं। सगोत्र विवाह को प्राय सभी सूत्रकारों ने निषिद्ध बताया है। इसका क्षेत्र सपिण्ड विवाह की अपेक्षा अधिक विस्तृत है। चाहे युवक युवती के बीच सैकडों पीढियो का अन्तर क्यो न हो, फिर भी उनके सगोत्र होने पर विवाह नही हो सकता। बौधायन ने सगोत्र कन्या के साथ विवाह करने वाले के लिए चान्द्रायण व्रत द्वारा प्रायश्चित करने की व्यवस्था की है।[5] गोभिल गृह्य सूत्र[6] हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र[7] तथा आपस्तम्ब धर्मसूत्र[8] में भी सगोत्र विवाह निषिद्ध है।

---

१ गो० गृह्य० सू० ३ ४. ५

२ आप० ध० सू० २ ५ ११-१६

३ बौधायन—१ १ १९-२६, बृहस्पति का मत स्मृति चन्द्रिका १ १० में उद्धृत स्वमातुलसुतोद्वाहो मातृबन्धुत्व दूषित ।

४ महाभारत, १३ ४४ १८

५ बौधायन, प्रवराध्याय ५५, सगोत्रां गत्वा चान्द्रायण चरेत ।

६ गो० गृ० सू०, ३ ४ ४

७ हिरण्य० गृ० सू०, १ ११ २

८. आप० ध० सू० २. ११ १५

वैदिक साहित्य मे पिण्ड शब्द का उल्लेख तो अनेकश हुआ है।[१] किन्तु सपिण्ड शब्द कही भी नही मिलता। अत वैदिक युग मे सपिण्ड विवाह निषिद्ध थे अथवा नही, कहना दुष्कर है। गोत्र की व्यवस्था सम्भवत वैदिक युग मे ही हो चुकी थी। अथर्ववेद[२] मे निश्चित रूप से इस शब्द का प्रयोग परस्पर सम्बन्धित व्यक्तियो के समुदाय के अर्थ मे हुआ है। गोत्र का नाम प्राय किसी पूर्वज के नाम पर होता था। प्रमुख ऋषियो के नाम पर समुदायो के नामकरण की परम्परा ऋग्वैदिक युग मे भी अज्ञात नही थी।[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे अंगिरस ऋषि के नाम पर एक समुदाय को आंगिरसी प्रजा कहा गया है।[४] ऐतरेय ब्राह्मण शुनः शेप को जन्मना आंगिरस कहता है।[५] ताण्ड्य ब्राह्मण[६] तथा कौषीतकि ब्राह्मण[७] मे भी सगोत्र ब्राह्मणो का उल्लेख है। उपनिषद् युग तक भारद्वाज, आश्वलायन, गार्ग्य, कात्यायन, गौतम, भार्गव, जमदग्नि वशिष्ठ कश्यप आदि अनेक गोत्र अस्तित्व मे आ चुके थे। किन्तु इस युग मे गोत्र का विशेष महत्व यज्ञ और शिक्षा कार्य मे ही था, यद्यपि उपनिषद युग तक सम्भवत सगोत्र विवाहो का निषेध भी किया जाने लगा था।[८] उत्तर वैदिक साहित्य में इस बात के प्रमाण अवश्य मिलते है कि रक्त-सम्बन्धियो मे विवाह सम्बन्ध घृणित समझा जाने लगा था। माता-पिता की तीन या चार अनुगामी पीढियो के अन्तर्गत विवाह निषिद्ध माना जाता था।[९] किन्तु यदा कदा तीसरी या चौथी पीढी से वैवाहिक सम्बन्ध हो सकता था। सायण के अनुसार कण्वों मे विवाह तीसरी पीढी में हो सकता था तथा सौराष्ट्रो मे चौथी पीढी मे। धीरे-धीरे लोग उन धार्मिक अनुष्ठानो से भी उदासीन होने लगे थे जिनमे निकटाभिगमन की आशका थी। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार राजा जनक

---

१ ऋ० १ १६२ १९, तै० स० ४ ६ ९. ३, शत० ब्रा० २ ४. २ २४
२ अथर्व० ५. ११ ३
३ ऋ० ६ ३५ ५, १० ६६ १४
४ तै० २ २ ३
५ ऐते० ब्रा० ३३ ५
६ ताण्ड्य १८ २. ११
७ कौपीतकि ब्रा० २५ १५
८ दत्त, एन० के०, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ० १०८
९. कौषीतकि ब्रा० ३. ८, शत० ब्रा० १, ८ ३. ६

ने गोसव नामक अनुष्ठान का सम्पादन इसलिए नही किया क्योंकि उसमें निकटाभिगमन की व्यवस्था थी।[१] वैदिक साहित्य में नवविवाहिता के लिए 'वधू' शब्द का प्रयोग भी इस बात को सूचित करता है कि साधारणतया स्थानीय विवाह का प्रचलन नही था।

अन्तर्जातीय विवाह के प्रति किसी प्रकार की सामाजिक घृणा नही थी। अथर्ववेद (५.१७.९) के अनुसार यदि एक कन्या से विवाह के लिए ब्राह्मण और वैश्य दोनों इच्छुक हों तो ब्राह्मण युवक को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या और च्यवन ऋषि के विवाह का उल्लेख मिलता है।[२] शतपथ ब्राह्मण[३] से इस बात का संकेत मिलता है कि एक क्षत्रिय के वणिक कन्या के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का स्पष्ट निषेध नही था किन्तु शूद्र कन्या से विवाह तथा उनसे उत्पन्न सन्तान, दोनो को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। यही कारण है कि कवष ऐलूष को यज्ञ से बहिष्कृत करने का प्रयास किया गया[४] तथा वत्स को अग्नि-परीक्षा के लिए विवश किया गया।[५] शूद्रों से वैवाहिक सम्बन्ध के विरोध के अनेक कारण प्रतीत होते हैं। गंगा के मैदान में आर्येतर जातियों के बाहुल्य तथा उनके साथ बढते हुए सम्पर्क ने सम्भवतः आर्यों को रक्त शुद्धता की ओर सचेत किया। दूसरे, पंजाब में जिन दासों (अनार्यों) के साथ आर्यों का संघर्ष और सम्पर्क हुआ वे पर्याप्त सुसंस्कृत एवं श्रीसम्पन्न थे। इसके विपरीत वे ज्यों ज्यों दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ते गये उनके मार्ग में अनेक अर्द्धसभ्य और भौतिक दृष्टि से नितांत हीन जातियां आईं जिनके आचरण भी प्रायः घृणास्पद थे। आर्यों ने उन्हें अपनी सामाजिक व्यवस्था में समाविष्ट तो किया किन्तु उनके साथ स्वतन्त्र वैवाहिक सम्बन्ध को प्रोत्साहन नही दिया। फिर भी शूद्रा से आर्य पुरुषों का वैवाहिक सम्बन्ध अज्ञात नहीं था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है राजा की चतुर्थ पत्नी पालागली सम्भवतः शूद्रा हुआ करती

---

१ जैं० ब्रा० २ ११३ उप मातरम् इयाद् उप स्वसारम् उप सगोत्राम्।— तेन हैतेन जनको विदेहो इयाजाचक्रे। तम् ब्राह्मणा अभितो निषेद्धुः।

२ शत० ब्रा० ४.१.५

३ द्रष्टव्य काणे, हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० ४४७

४ ऐत० ब्रा० २ १९, कौषीतकि ब्रा० १२ १ ३

५ पंच० ब्रा० १४ ६.६

वैदिक साहित्य मे पिण्ड शब्द का उल्लेख तो अनेकश. हुआ है।[१] किन्तु सपिण्ड शब्द कही भी नही मिलता। अत वैदिक युग मे सपिण्ड विवाह निषिद्ध थे अथवा नही, कहना दुष्कर है। गोत्र की व्यवस्था सम्भवत वैदिक युग मे ही हो चुकी थी। अथर्ववेद[२] मे निश्चित रूप से इस शब्द का प्रयोग परस्पर सम्बन्धित व्यक्तियो के समुदाय के अर्थ मे हुआ है। गोत्र का नाम प्राय किसी पूर्वज के नाम पर होता था। प्रमुख ऋषियो के नाम पर समुदायो के नामकरण की परम्परा ऋ वैदिक युग मे भी अज्ञात नही थी।[३] तैत्तिरीय ब्राह्मण मे अगिरस ऋषि के नाम पर एक समुदाय को आगिरसी प्रजा कहा गया है।[४] ऐतरेय ब्राह्मण शुनः शेप को जन्मना आगिरस कहता है।[५] ताण्ड्य ब्राह्मण[६] तथा कौपीतकि ब्राह्मण[७] में भी सगोत्र ब्राह्मणों का उल्लेख है। उपनिषद् युग तक भारद्वाज, आश्वलायन, गार्ग्य, कात्यायन, गौतम, भार्गव, जमदग्नि वशिष्ठ कश्यप आदि अनेक गोत्र अस्तित्व मे आ चुके थे। किन्तु इस युग मे गोत्र का विशेष महत्व यज्ञ और शिक्षा कार्य में ही था, यद्यपि उपनिषद युग तक सम्भवत सगोत्र विवाहों का निषेध भी किया जाने लगा था।[८] उत्तर वैदिक साहित्य मे इस बात के प्रमाण अवश्य मिलते है कि रक्त-सम्बन्धियो मे विवाह सम्बन्ध घृणित समझा जाने लगा था। माता-पिता की तीन या चार अनुगामी पीढियो के अन्तर्गत विवाह निषिद्ध माना जाता था।[९] किन्तु यदा कदा तीसरी या चौथी पीढी से वैवाहिक सम्बन्ध हो सकता था। सायण के अनुसार कण्वों में विवाह तीसरी पीढी मे हो सकता था तथा सौराष्ट्रो मे चौथी पीढी मे। धीरे-धीरे लोग उन धार्मिक अनुष्ठानो से भी उदासीन होने लगे थे जिनमे निकटाभिगमन की आशंका थी। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार राजा जनक

---

१ ऋ० १ १६२ १९, तै० सं० ४ ६ ९, ३, शत० ब्रा० २ ४. २ २४
२. अथर्व० ५. ११ ३
३ ऋ० ६ ३५. ५, १० ६६ १४
४ तै० २ २ ३
५ ऐते० ब्रा० ३३ ५
६ ताण्ड्य १८ २. ११
७ कौषीतकि ब्रा० २५ १५
८ दत्त, एन० के०, ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, पृ० १०५
९. कौपीतकि ब्रा० ३. ८, शत० ब्रा० १, ८. ३. ६

ने गोसव नामक अनुष्ठान का सम्पादन इसलिए नही किया क्योंकि उसमें निकटाभिगमन की व्यवस्था थी।[1] वैदिक साहित्य मे नवविवाहिता के लिए 'वधू' शब्द का प्रयोग भी इस बात को सूचित करता है कि साधारणतया स्थानीय विवाह का प्रचलन नही था।

अन्तर्जातीय विवाह के प्रति किसी प्रकार की सामाजिक घृणा नही थी। अथर्ववेद (५ १७ ९) के अनुसार यदि एक कन्या से विवाह के लिए ब्राह्मण और वैश्य दोनों इच्छुक हो तो ब्राह्मण युवक को प्राथमिकता मिलनी चाहिए। शतपथ ब्राह्मण में राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या और च्यवन ऋषि के विवाह का उल्लेख मिलता है।[2] शतपथ ब्राह्मण[3] से इस बात का सकेत मिलता है कि एक क्षत्रिय के वणिक कन्या के साथ वैवाहिक सम्बन्ध का स्पष्ट निषेध नही था किन्तु शूद्र कन्या से विवाह तथा उनसे उत्पन्न सन्तान, दोनो को घृणा की दृष्टि से देखा जाने लगा था। यही कारण है कि कवष ऐलूष को यज्ञ से वहिष्कृत करने का प्रयास किया गया[4] तथा वत्स को अग्नि-परीक्षा के लिए विवश किया गया।[5] शूद्रों से वैवाहिक सम्बन्ध के विरोध के अनेक कारण प्रतीत होते हैं। गगा के मैदान में आर्येतर जातियो के बाहुल्य तथा उनके साथ बढते हुए सम्पर्क ने सम्भवत आर्यों को रक्त शुद्धता की ओर सचेत किया। दूसरे, पजाब में जिन दासों (अनार्यों) के साथ आर्यों का सघर्ष और सम्पर्क हुआ वे पर्याप्त सुसस्कृत एव श्रीसम्पन्न थे। इसके विपरीत वे ज्यों ज्यो दक्षिण पूर्व की ओर बढ़ते गये उनके मार्ग में अनेक अर्द्धसभ्य और भौतिक दृष्टि से नितात हीन जातिया आईं जिनके आचरण भी प्राय घृणास्पद थे। आर्यो ने उन्हें अपनी सामाजिक व्यवस्था में समाविष्ट तो किया किन्तु उनके साथ स्वतन्त्र वैवाहिक सम्बन्ध को प्रोत्साहन नही दिया। फिर भी शूद्रा से आर्य पुरुषो का वैवाहिक सम्बन्ध अज्ञात नही था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है राजा की चतुर्थ पत्नी पालागली सम्भवत शूद्रा हुआ करती

---

१ जै० ब्रा० २ ११३ उप मातरम इयाद् उप स्वसारम् उप सगोत्राम्। — तेन हैतेन जनको विदेहो इयाक्षाचक्रे। तम् ब्राह्मणा अभितो निषेद्ध।

२ शत० ब्रा० ४.१ ५

३ द्रष्टव्य काणे, हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, ग्रन्थ २, भाग १, पृ० ४४७

४ ऐत० ब्रा० २ १६, कौषीतकि ब्रा० १२ १ ३

५ पञ्च० ब्रा० १४ ६ ६

थी। वैदिक ऋषियो का दासियो अथवा शूद्रा स्त्रियो से अवैध सम्बन्ध एवं समागम प्रमाणित करने वाले प्रसग भी मिलते हैं।[1] किन्तु वे विरल ही हैं।

विवाह अब भी प्राय पूर्ण प्रौढावस्था मे ही होता था। अथर्ववेद ब्रह्मचर्य के पश्चात् ही कन्या द्वारा पति-प्राप्ति का समर्थन करता है।[2] इस युग मे कुछ स्त्रिया ब्रह्मवादिनी भी हुआ करती थी जो आजीवन अविवाहिता रहती थी। सम्पूर्ण उत्तर वैदिक साहित्य मे किसी कन्या के बाल्यावस्था में ही विवाह हो जाने का एक मात्र उदाहरण छान्दोग्य उपनिषद[3] में कुरु देश के एक निर्धन ब्राह्मण की 'आटकी' पत्नी का है। शंकर से आटकी का अर्थ अविकसित-यौवना (अनुपजातपयोधरा) किया है। आटकी की उत्पत्ति यदि 'इट्' धातु से मानी जाय तो इसका अर्थ घुमक्कड होगा। इस प्रसग मे शकर भाष्य अपने युग की प्रथा से प्रभावित प्रतीत होता है।

परिवार का प्रधान पुरुष पति और पिता के रूप मे परिवार पर शासन करता था। पति शब्द उसके पारिवारिक स्वामित्व का सूचक है। इस शब्द के प्रचलन का यह अर्थ लगाना भूल होगा कि पति को पत्नी का स्वामी माना जाता था क्योंकि पति शब्द की भाँति पत्नी शब्द भी स्वामित्व का द्योतक है। इससे यह सिद्ध होता है कि पारिवारिक जीवन मे दोनो की समान स्थिति थी। यही बात अथर्ववेद मे अनेकश प्रयुक्त दम्पती[4] शब्द की व्युत्पत्ति से भी प्रमाणित होती है। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार पत्नी पति के शरीर का आधा भाग होती है।[5] शतपथ ब्राह्मण पति-पत्नी को दाने के दो दालो की भांति मानता है[6] जिनकी सयुक्त स्थिति ही दोनो को पूर्णता प्रदान करती है। इस प्रकार केवल पति-पत्नी की समानता की ही कल्पना नहीं की गई थी बल्कि दोनो को एक ही शरीर के दो अविभाज्य अग माना गया। इसीलिए शतपथ ब्राह्मण मे अन्यत्र पत्नीविहीन जीवन असर्व और

पति-पत्नी

१ वाज० स० २३,२१, तै० स० ७ ४ १६
२ अथर्ववेद, ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम्, ११ ५ १८
३. छान्दोग्य उप० १ १० १
४ अथर्ववेद ९ १ १३ ३, १२.३ १४,१४ २ ६
५. तै० सं० ६.१ ८.५, अर्धवाएप आत्मनो यत्पत्नी
६. शत० ब्रा० १४ ४ २ ४-५, तस्मादर्धं बृगलमिव स्व इति स्माहयाज्ञवल्क्य·

अधूरा बताया गया है।[१] धार्मिक अनुष्ठानो का सम्पादन भी दोनों साथ साथ करते थे। आर्यों की परिवार व्यवस्था पितृप्रधान होते हुए भी पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन मे पत्नी की स्थिति पति के समान ही आदरणीय थी। अथर्ववेद मे इन्द्र से यह प्रार्थना की गई है कि वह पति-पत्नी को चक्रवाक दम्पती की भाति एकदूसरे के प्रति सच्चे अनुराग की प्रेरणा दे। इस युग मे स्त्रियो मे परवर्ती युगो की पातिव्रत्यभावना का बीजरूपेण प्रारम्भ भी यत्र-तत्र दिखाई देता है। शर्यातपुत्री सुकन्या कहती है कि मेरे पिता ने मुझे जिस व्यक्ति को विवाह मे दे दिया है, जीवित रहते मैं उसका उपहास नही करा सकती।[२]

उत्तर वैदिक युग का पिता, अपनी सन्तानो के भरण पोषण और रक्षण के लिए सर्वदा सचेष्ट रहता था, जैसा कि उसके उदार नाम से ही स्पष्ट है।

पिता

शतपथ ब्राह्मण मे विवाह का प्रमुख प्रयोजन सन्तानोत्पत्ति बताया गया है। तैत्तिरीय सहिता मे सन्तान द्वारा अमृतत्व के उपभोग की कामना की गई है।[३] अथर्ववेद (३,२३) में वीर-प्रसूति के लिए प्रार्थना की गई है तथा नारी को बारबार पुत्र उत्पन्न करने का आशीर्वाद दिया गया है।[४] पुत्र-प्राप्ति के लिए प्रार्थनाओं के अतिरिक्त लोग अनेक अनुष्ठान करते थे। ह्विटने के अनुसार अथर्ववेद (६ ८१.३) में पुत्र-प्राप्ति के लिए हाथ में ताबीज बांधने की प्रथा का सकेत है। तैत्तिरीय ब्राह्मण गर्भाधान का उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति ही बतलाता है।[५] निश्चय ही इस युग मे पुत्र-प्राप्ति के हेतु पुसवन भी होने लगा था।[६] इतना ही नही, अथर्ववेद में पुत्र-प्राप्ति के लिए औषधियो के प्रयोग का सकेत भी मिलता है। अथर्ववेद (६ ११ में शमी वृक्ष के ऊपर उगा हुआ पीपल पुत्रदाता माना गया है। इसी प्रकार शतवार (अथर्ववेद १९ ३६) तथा औदुम्बर की (वहीं १९.३१) मणियो का बाधना भी वीर पुत्र

१. शत० ब्रा० ५.२ १ १०
२ शत० ब्रा० ४ १ ५.९, यस्मै मां पिता दान्नैवाह् त जीवन्त हास्यामीति।
३. तै० स० १ ४.४६.१
४. अथर्ववेद ३. २३ ३-५ पुमांस पुत्र जनय त पुमान् तु जायताम्
५ तै० ब्रा० ३ ७.१
६ अथर्ववेद ६.११ आ० गृ० सू० १ १३, आश्वा० गृ० सू० १ २०, पार० गृ० सू० १ १४, गोभिल गृ० सू० २ ६

प्रदायक बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि लोग पुत्र प्राप्ति का एक प्रबल साधन यज्ञ भी मानते थे।[१] ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ द्वारा पुत्र प्राप्त करने वाले अनेक राजाओं का उल्लेख करते हैं। कक्षीवान, औशिज, वीतहव्य श्रायस, त्रसदस्युआदि ने यज्ञ के द्वारा सहस्रो पुत्र प्राप्त किए।[२] यज्ञ के माध्यम से पुत्र प्राप्तकरने वाले कतिपय राजाओ का उल्लेख काठक संहिता (२२ ३) पंचविंश ब्राह्मण (२५ १६.३) तथा जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण (२ ६ ११) में भी मिलता है। महाभारत के अनुसार द्रौपदी और धृष्टद्युम्न यज्ञीय अग्नि से उत्पन्न हुये थे।[३] इसी प्रकार रामायण मे भी दशरथ को पुत्र-प्राप्ति के लिए यज्ञ करते दिखायागया है।

पुत्र-प्राप्ति की उत्कण्ठा के पीछे आर्थिक और सामरिक कारण ही प्रमुख थे।[४] साथ ही कुछ नवोदित विश्वास भी इसके लिए उत्तरदायी थे। जैसा

परिवार मे पुत्रो, का महत्वपूर्ण स्थान

कि पहले ही संकेत किया गया है उत्तरवैदिक युग मे पितृऋण की भावना बलवती होने लगी थी।[५] लोगो को यह विश्वास हो चला था कि पुत्र पुत् नामक नरक से पिता की रक्षा करने के कारण ही पुत्र कहलाता है।[६] यास्क ने अपने निरुक्त (२ ११) मे इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया है। अनेक परवर्ती धर्मग्रन्थो एवं रामायण महाभारत मे भी इस व्युत्पत्ति का समर्थन किया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण (३३ १) पुत्र की महिमा का वर्णन करते हुए उसे ऋणमुक्त करने वाला, अमृतत्व प्रदान करने वाला तथा पुत् नामक नरक से बचाने वाला कहता है।

पिता पुत्र का सम्बन्ध प्राय प्रेमपूर्ण होता था। शांखायन आरण्यक से ज्ञात होता है कि युवक पुत्र के प्रति प्रेम प्रदर्शित करता हुआ पिता कभी-

---

१ शत० ब्रा० ४ ४ २ ६

२ तै० सं० ५ ६.५ ३

३ महाभारत १ १६९ ३९-४६

४ शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा गया है कि—"पूर्ववय मे पिता द्वारा पालित होकर युवावस्था मे पुत्र वृद्ध पिता का पालन पोषण करता है। (तस्मात् पूर्ववयसे पुत्रा पितरमुपजीवन्ति। उत्तरवयसे पुत्रान् पितोपजीवति), शत० ब्रा० १२.२.३ ४

५ शत० ब्रा० १ ७ २.११, तै० सं० ६ ३ १० ५

६. गो० ब्रा० १११ १२

कभी उसका माथा चूमता था। स्वय शिक्षित होने पर अनेक व्यक्ति अपने पुत्र को स्वय शिक्षा प्रदान करते थे। श्वेतकेतु आरुणेय की कथा इस प्रसग में उदाहरणीय है। उसके पिता उद्दालक ने उसे चौबीस वर्ष की अवस्था तक वेदाध्ययन कराया था।[१] इसके अनुकूल ही हम पुत्रो में भी पिता के प्रति श्रद्धा भाव पाते हैं। अथर्ववेद (३ ३० २) पुत्र को पिता के प्रति अनुव्रत बतलाता है। पुत्र पिताकी वृद्धावस्था मे उसकी रक्षा एव सेवा करते थे। जिमर महोदय ने प्रतिपादितकिया है कि वैदिक युग में बेटे बूढे माता-पिता की हत्या कर देते थे तथा उन्हें जगली जानवरो के खाने के लिए जगल में छोड देते थे।[२] जिमर की इस स्थापना का आधार 'उद्धित' शब्द है जिसका अर्थ है 'उठाकर अलग रखा हुआ'। अथर्ववेद (१८ २ ३४) मे इस शब्द का प्रयोग पितृमेध सूक्त मे शवों के प्रसग में आया है। वैदिक युग मे शवो को गाडने की विधि भी प्रचलित थी और जलाने की भी। पहले प्रकार को अनग्निदग्ध और दूसरे प्रकार को अग्निदग्ध कहा जाता था।[३] अनग्निदग्ध कभी गाड दिए जाते थे (निखात) और कभी जगल में छोड दिए जाते थे। जगल में छोडने की इस परम्परा को 'उद्धित' कहा गया है। अथर्ववेद (१८ २ ३४) मे मृतशरीर के ही उद्धित करने का वर्णन है जीवित शरीर के नहीं। ऋग्वेद (८ ५१ २) मे अवश्य ही पार्षद्वाण द्वारा बूढे सोते पिता को उद्धित करने की बात कही गई है किंतु इस प्रसग में 'उद्धित' शब्द केवल बाहर फेंक देने की क्रिया का सकेत करता है न कि हत्या का। सम्भव है उद्दण्ड पार्षद्वाण ने अभागे पिता को शयनावस्था मे घर के बाहर फेंक दिया हो। इस प्रमाण के आधार पर पितृहत्या सर्वथा अकल्पनीय है। यदि इस प्रकार की कोई परम्परा वैदिक युग मे प्रचलित होती तो कम से कम सूत्र साहित्य मे कुछ निषेधात्मक निर्देश अवश्य मिलता। इसके विपरीत तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार आचार्य शिक्षा समाप्ति पर विद्यार्थी को माता-पिता की देववत पूजा का उपदेश देते थे।[४] पिता की ही भाँति पुत्र माता का भी सम्मान करता था। अथर्ववेद (३ ३० २) माता के अनुकूल मन वाला होने का उपदेश देता है। महाभारत (१ १९६ १६) मे माता को सर्वश्रेष्ठ गुरु माना गया है। वैदिक

१ बृ० उप० ६ २ १४

२ वैदिक इण्डेक्स १, ५२७ से उद्धृत

३ देखिए ऋ० १० १५ १४, अथर्ववेद १८ २ ३४

४ तै० उप० १ ११ २, मातृदेवो भव पितृ देवो भव

साहित्य में पितृव्य शब्द का अभाव इस बात का सकेतक है कि चाचा को भी लोग पिता ही कहकर पुकारते थे। महाभारत मे भी चाचा को पितृव्य न कह कर पिता ही कहा गया है। पाण्डवो ने धृतराष्ट्र को कभी भी पितृव्य नही कहा। वे उन्हे 'पिता' अथवा 'तात' कहकर सम्बोधित करते थे।

कन्या की स्थिति

धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से कम उपयोगी होने के कारण पुत्री की दशा पुत्र की अपेक्षा हीन थी। यद्यपि बृहदारण्यक उपनिषद मे धीमती कन्या के जन्म के लिए विधि नियम बताया गया है[1] तथापि उसके जन्म पर प्राय खिन्नता ही प्रकट की गई है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण (३३ १) में उसे कृपण कहा गया है। इसका भाष्य करते हुए सायण ने कहा है कि 'वह जन्म के समय अपने सम्बन्धियो को कष्ट देती है, विवाह के समय अर्थहानि का कारण बनती है और यौवन मे अनेक दोषो के कारण (कुल को) कलंकित कर सकती है। इस प्रकार कन्या माता-पिता का हृदय विदीर्ण करने वाली होती है।[3] कन्या के प्रति अनादर का भाव इस बात से भी प्रकट है कि जहा पुत्र उत्पन्न होने पर उसे (शय्यापर से) उठा लेते थे, नवजात कन्या को (शय्या पर ही) छोड देते थे।[4] यहा कन्या को छोडने के लिये 'परास्यन्ति' शब्द का प्रयोग है। इसके आधार पर विद्वानो ने अनेक भीषण कल्पनाएं कर ली हैं। जिमर और डेलब्रुइक ने प्रतिपादित किया है कि वैदिक युग मे बालिकावध की प्रथा प्रचलित थी।[5] कन्यावध की परम्परा अत्यन्त प्राचीनकाल में यूनान, चीन और अरब जैसे देशो और स्वय मध्यकालीन भारत मे प्रचलित थी। अरब मे कन्यावध का विरोध करने वाले पहले व्यक्ति मुहम्मद साहब थे। इन उदाहरणो से उत्पन्न पूर्वाग्रह के कारण-जिमर एवं डेलब्रुइक महोहृदय ने मान्यता रखी है कि वैदिक आर्य कन्याओ को घने जगलो में छोड देते थे, जिससे उन्हें वन्य पशु खा जांय। राजवाडे

---

१ बृ० उप० ४ २७

२ अथर्ववेद ६ २, ३

३ *सायणभाष्य ऐत० ब्रा० ३३ १, सम्भवे स्वजनदुख-कारिका, सम्प्रदान समये अर्थहारिका यौवनेऽपि बहुदोषकारिका, दारिकाहृदयदारिकापितु ।*

४. काठक स० २७ ६, तै० स० ६ ५ १० ३, मै० स० ४ ६ ४, ४ ७६

५ तस्मात्स्त्रिय जाता परास्यन्ति न पुमास। वैदिक इण्डेक्स १ ४८७ से उद्धृत

ने उनके इस मन्तव्य का समर्थन किया है।[१] लेकिन इन विद्वानों की कल्पना सर्वथा निराधार है। किसी भी प्राचीन टीकाकार ने इस शब्द का यह अर्थ नही माना है। सायण में इसका अर्थ कन्या को पति कुल में छोडना किया है।[२] कन्यावध का समर्थन करने वाला कोई भी विद्वान वैदिक साहित्य से एक भी निर्विवाद प्रमाण नही दे सका है। वेबर महोदय पचविंश ब्राह्मण (११ ८ ८) मे प्राप्त आँगिरस युक्ताश्व की कथा को कन्यावध का प्रमाण मानते हैं किन्तु इस कथा मे युक्ताश्व द्वारा शिशुओं को केवल विपरिहार अथवा कष्ट देने का उल्लेख है न कि उनको मारने का।

कन्या के प्रति वैदिक आर्यों की उदासीनतातथा पारिवारिक जीवन में उनकी अवहेलना तत्कालीन समाज की सकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक है। जाति एव वश की परम्परा को अविच्छिन्न रखने में पुत्री का भी उतना ही योग था, जितना पुत्र का। यही कन्या विवाह के उपरान्त पत्नी और जाया के रूप में अधिक उपयोगी होने के कारण आदर प्राप्त करती थी किन्तु उसके इस भावी महत्व पर ध्यान नहीं दिया जाता था।

माता-पिता की वृद्धावस्था मे कन्या को प्राय भाई और भाभी के शासन तथा सुरक्षा में रहना पडता था। जैसा कि भ्राता शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट है भाई बहिन का रक्षक और पोषक माना जाता था। भ्रातृ-युक्त कन्याए सौभाग्यशालिनी समझी जाती थी। इसी आधार पर बाद में भगिनी शब्द का विकास भी हुआ। वैदिक साहित्य में भ्रातृहीना कन्याओं की दुर्दशा का चित्र प्राय: मिलता है। अभ्रातृका कन्या का विवाह प्राय: कठिन होता था। या तो उन्हें आजीवन कौमार्य व्रत धारण करना पडता था अथवा विवश होकर वेश्यावृत्ति अपनानी पडती थी।[३] इसके कई कारण थे एक, प्राय वैदिक आर्य अनाथ और अरक्षित कन्याओं से विवाह करने में हिचकते थे विवाह के पश्चात् स्याला अपने बहिन के पति के लिए एक प्रबल मित्र और सहायक सिद्ध होता था। देवताओं की उदारता की तुलना स्याले की उदार वृत्ति से की गई।[४] अत: यह स्वाभाविक ही था कि विवाहार्थी ऐसी कन्या

---

१ निरुक्त, भडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यू द्वारा प्रकाशित, पृ० ४२१

२ सायण भाष्य तै० स० १ ४ २८

३ द्र० वैदिक इण्डेक्स २ ४९६, अथर्ववेद १ १७ १ अभ्रातर. इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चस'

४. निरुक्त ६ ९, वैदिक इण्डेक्स २ ११३, ४८६, ४९०, ४९६

से विवाह करने मे हिचकिचाहट दिखावे जो इस उदार मित्र और सहायक से हीन हो।[1] दूसरे मातृहीना-कन्याओ को पिता पिण्डदान की सुविधा के लिए पुत्रिका बना लेते थे।[2] ऐसी पुत्री प्राय पिता के घर रहती थी, तथा उससे उत्पन्न पुत्र अपने पिता को पिंडदान न देकर अपने नाना (मैटर्नल ग्रैंड फादर) को देता था। इस प्रकार भ्रातृहीना कन्या से विवाह धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक तीनो दृष्टियो से हानिकारक समझा जाता था।

भाई और बहिन के बीच स्नेह तन्तु के होते हुए भी बहुधा ननद-भाभी का सम्बन्ध प्रेमपूर्ण नही होता था। इसका कारण मनोवैज्ञानिक है। घर मे इन दोनो की स्थिति प्राय समान होती थी। ननद अपने भाई के दुलार तथा गृहस्वामिनी माता के प्यार की अधिकारिणी होने के कारण परिवार के नारी सदस्यो मे अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। इसके विपरीत नववधू न केवल परिवार के सदस्यो का स्नेह और ध्यान आकर्षित करती थी वरन् कालक्रम से ननद पर शासन भी करने लगती थी। ऐसी स्थिति मे ननद का खिन्न और ईर्ष्यालु हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। ऐतरेय ब्राह्मण का एक प्रसग ननद-भाभी के सम्बन्धो पर अच्छा प्रकाश डालता है। इसमे कहा गया है एक व्यक्ति की बहिन, जो उसी गर्भ से पैदा हुई है जिससे वह स्वय पैदा हुआ है, उसकी पत्नी का जो दूसरे के गर्भ से उत्पन्न हुई है अनुसरण करती हुई जीवन व्यतीत करती है।[3] तृतीय या चतुर्थ सदी तक अथवा इसके पूर्व ही संस्कृत शब्द 'ननदृ' की व्युत्पत्ति 'न प्रसन्न होने वाली' (न नन्दति इति) किया जाने लगा था।[4] हम ठीक प्रकार से नही कह सकते कि यह स्थिति केवल कुमारी कन्याओ की ही थी अथवा विवाह के पश्चात् पितृगृह में लौटी हुई कन्याओं की भी, किन्तु सम्भवत दोनो स्थितियों में ननद के ऊपर भाभी का शासन प्राय हुआ करता था क्योंकि उसकी भाभी का पति गृहपति होता था और वह गृहपत्नी।

१ फैमिली एण्ड किन इन इण्डो आर्यन कल्चर, पृ० ४८

२. द्र० वैदिक इण्डेक्स, १ ५२८, ५३७, २ ४९६

३. ऐत० ब्रा० ३.२.१२

४. द्रष्टव्य—इरावती कार्वे, किनशिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया, पृ० ४३

वधू गृहपत्नी के रूप मे न केवल पति की बहिनो पर शासन करती थी बल्कि न्यूनाधिक रूप से पति के छोटे भाई भी उसके प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत थे यद्यपि देवर कुछ अवस्थाओं मे उसपर पतिवत् अधिकार भी रखता था। यास्क ने देवर शब्द की टीका करते हुए उसे दूसरा पति बताया है।[1] महाभारत में भी पति के अभाव में देवर से विवाह का उल्लेख है। वैदिक युग में पति की मृत्यु के पश्चात् विधवा का विवाह प्राय देवर से ही होता था। ऐसी सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत भाभी के हृदय में देवर के प्रति (एक अज्ञात भय के कारण) सम्मान होना स्वाभाविक ही था। अथर्ववेद (१४ २.१८) से इन दोनो सम्बन्धियों के बीच प्रेमपूर्ण सम्बन्ध की पुष्टि होती है।

वधू

सास ससुर के प्रति वधू का व्यवहार प्राय आदरपूर्ण होता था। उत्तर वैदिक साहित्य में ऐसे अनेक प्रसग मिलते हैं जिनसे यह प्रमाणित होता है कि वधू ससुर के समक्ष सलज्ज और अनुशासनयुक्त रहती थी। मैत्रायणी सहिता में ब्राह्मण के लिए एक स्थान पर सुरापान का निषेध इसलिए किया गया है कि सुरा के प्रभाव में ससुर और पुत्रवधू भी परस्पर अभद्र बातें करते हैं।[2] इससे प्रकट होता है कि ससुर और पुत्रवधु में बहुत ही सयत और अनुशासनपूर्ण व्यवहार तथा सम्बन्ध की अपेक्षा की जाती थी। अथर्ववेद में स्पष्टतः ससुर और पुत्रवधू के बीच लज्जाजनित दूरी का उल्लेख हुआ है।[3] यहा बताया गया है कि जिस प्रकार लोग धूप से दूर रहने और बचने का प्रयास करते हैं उसी प्रकार पुत्रवधू ससुर से दूर रहने का प्रयास करती है। ऐतरेय ब्राह्मण शत्रुसेना को शक्तिहीन करने के लिए एक अनुष्ठान का उल्लेख करता है जिसके प्रभाव के प्रसग में ससुर-पुत्रवधू सबन्ध का रूपक दिया गया है।[4] सायणाचार्य ने इसपर भाष्य करते हुए कहा है कि यह अनुष्ठान शत्रुसेना को पराजित करने में सहायक है क्योंकि इसमें जिस देवता का आह्वान होता है वह शत्रुसेना की सरक्षिका देवी का ससुर होता है। जिस प्रकार युवती पुत्रवधू ससुर के समक्ष लज्जावश अगों को छिपाने के लिए

---

१ निरुक्त ३ १५

२ मैत्रा० स० २ ४ १-२

३ अथर्व० ८ ६ २४, ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।

४. ऐत० ब्रा० १२.११, स्नुषा श्वशुराल्लज्जमानानिलीयमानेति।

अपने को वस्त्रों से आच्छादित करती है तथा धीरे से घर के अन्दर सरक जाती है उसी प्रकार का आचरण इस विशेष अनुष्ठान के प्रभाव से शत्रु सेना करती है। आश्वलायन श्रौतसूत्र मे भी शत्रु को वशीभूत करने के लिए 'स्नुषा-श्वशुरिय इष्टि' का वर्णन है।[1] अथर्ववेद (१४ २ २६) में पुत्रवधू द्वारा श्वशुर की सहायता की कामना की गई है। वृद्धावस्था में प्राय श्वशुर पुत्रवधू के शासन और देखभाल मे आ जाता था। वैदिक साहित्य में यद्यपि श्वश्रू (मदर इन ला) और स्नुषा के पारस्परिक सम्बन्धों को सूचित करने वाले प्रसगो का अभाव है तथापि अथर्ववेद (१४ २ २६) से स्पष्ट है कि पुत्रवधू श्वसुर और श्वश्रू दोनो का समान रूप से आदर और सत्कार करती थी।[2] बहुवो का सास के प्रति व्यवहार पर्याप्त नम्र होता था।[3] सास की वृद्धावस्था मे बहू उसका उत्तरदायित्व सम्हालती थी, तथा घर की सम्राज्ञी बनती थी।[4]

वैदिक परिवार के पितृप्रधान होने के कारण पत्नी के पिता अथवा स्त्री पक्ष के अन्य सम्बन्धियो का विशेष उल्लेख नही हुआ है। श्वशुर शब्द जहा पति के पिता का बोधक है, पत्नी के पिता का बोधक नही है। स्याला के सम्बन्ध मे जो एकाकी प्रसग मिलते हैं उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। उसे इन्द्र और अग्नि के समान उदार (उपहारादि) देने वाला बतलाया गया है। मामा, जिनकी स्थिति महाकाव्यो और स्मृतियो के काल तक महत्वपूर्ण हो चली थी, वैदिक युग में प्राय महत्वहीन सम्बन्धी हैं। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे उनका उल्लेख केवल एक बार हुआ है।[5] वैदिक साहित्य मे इन्हें 'मातुभ्रातृ' कहा गया है। सूत्रकाल से आगे इन्हे मातुल कहा गया सूत्रसाहित्य मे सम्मानित किए जाने वाले व्यक्तियों में मामा का स्थान पितृव्य के बाद माना गया है।[6]

---

१ आश्वलायन २.११

२ श्वशुराय शंभूः स्योना श्वश्र्वै।

३ काठक स० ३१.१

४ ऋ० १० ८५.४६

५ मै० स० १ ६.१२

६. गौतम ५.२८-३०, वशिष्ठ ११ १, बौधायन २.४६

किसी भी युग अथवा देश की सामाजिक व्यवस्था एवं तत्सम्बन्धी दृष्टिकोण का वास्तविक मूल्यांकन स्त्रियो की स्थिति एव उनके विषय मे प्रचलित धारणाओ के अध्ययन के विना प्रायः अपूर्ण है। उत्तर वैदिक युग की नारी का जीवन समुन्नत होते हुए भी पतनोन्मुख था। एक ओर जहाँ हम

स्त्रियों की दशा

स्त्रियो के प्रति परम्परागत सम्मान का भाव देखते हैं वही दूसरी ओर उनके प्रति नवीन अस्वस्थ धारणाओ का जन्म होता हुआ भी पाते हैं। शैक्षणिक सुविधाएँ स्त्रियों को प्राय पुरुषो की भाँति प्राप्त थी। बृहदारण्यक उपनिषद (६. ४. १७) मे पंडिता कन्या की प्राप्ति के लिये विशेष अनुष्ठानो की योजना मिलती है। अथर्ववेद में कन्या द्वारा ब्रह्मचर्य आश्रम में शिक्षा-प्राप्ति का उल्लेख मिलता है।[१] शुक्ल यजुर्वेद में शिक्षित स्त्री-पुरुष को ही विवाह के उपयुक्त बतलाया गया है।[२] वास्तव मे कन्या ब्रह्मचर्य काल मे अपने को न केवल विदुषी बनाती थी बल्कि सामाजिक जीवन के उपयुक्त बनने का भी प्रयास करती थी। इसमें वह अपनी शारीरिक एव बौद्धिक शक्तियों का विकास करती हुई समाज और धर्म के उन सभी नियमों से सुपरिचित हो जाती थी जिनकी उसे गृहस्थ जीवन में आवश्यकता पड़ती थी। उपनिषद-युग तक तो स्त्रियाँ दार्शनिक विषयों के अध्ययन एव चिन्तन में पर्याप्त ख्याति प्राप्त करने लगी थी। ऐसी स्त्रियाँ भी अज्ञात नही थी जो आजीवन अध्यात्मचिन्तन में ही लगी रहती थीं। उन्हें ब्रह्मवादिनी कहा गया है। पारिवारिक जीवन में उसभी गृहपत्नियाँ भी ब्रह्म और आत्मन के रहस्य को जानने के लिए जिज्ञासु रहती थीं। बृहदारण्यक उपनिषद में हम याज्ञवल्क्य की पत्नी मैत्रेयी को दार्शनिक ज्ञान के लिए उत्कंठित देखते हैं।[३] इसी पुस्तक में इस बात का भी उल्लेख है कि विदेह राज जनक के दरबार में याज्ञवल्क्य अनेक पण्डितों को परास्त करने के पश्चात् गार्गी वाचक्नवी की विद्वत्ता को समक्ष अकस्मात् हतप्रभ हो गये थे।[४] कौषीतकि ब्राह्मण (२ ६) में एक कुमारी गन्धर्व-ग्रहीत अग्निहोत्र में पारगत बताई गई है। तैत्तिरीय सहिता

१ अथर्ववेद ११ ५ १८

२ शुक्ल यजुर्वेद ८ १

३ बृ० उप० २ ४ ३ तथा ४ ५ ४ सा हवाच येनाह नामृता स्या किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान वेद तदेव मे ब्रूहि।

४ बृ० उप० ३ ६ तथा ८

(६ १६.५) तथा मैत्रायणी संहिता (३ ७.३) मे स्त्रियो की संगीत नृत्य-अभिरुचि का वर्णन है ।[१] शतपथ ब्राह्मण (१४ ३ १ ३५) सामगान को स्त्रियों का विशेष कार्य बतलाता है । इससे प्रकट है कि उत्तर वैदिक युग मे स्त्रियाँ गान विद्या मे प्रवीण होती थी तथा उनमें मन्त्रो के शुद्ध पाठ एवं स्वरो के उचित आरोहवरोह की क्षमता होती थी । आश्वलायन गृह्यसूत्र (३ ८ ११) मे स्त्रियो के समावर्तन संस्कार का उल्लेख है इससे प्रकट होता है कि गृह्य सूत्रों के काल तक स्त्रियो को वेदाध्ययन का अधिकार पूर्ववत प्राप्त था । धार्मिक एवं सामाजिक अनुष्ठानो, नियमों एवं विधि-निषेधो से स्त्रियाँ पुरुषो की अपेक्षा अधिक परिचित थी । आपस्तम्ब का कथन है कि अनुल्लिखित कर्तव्यो का ज्ञान स्त्रियो से प्राप्त करना चाहिए । उनका ज्ञान समस्त अध्ययन का पूरक है ।[२]

सामाजिक एवं धार्मिक महत्व के उत्सवो मे भी स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक भाग ले सकती थी । अथर्ववेद मे अलंकृता नारी के सभा मे जाने का उल्लेख है ।[३] यज्ञ मे तो पत्नी पति के साथ अनिवार्य रूप से भाग लेती थी । स्त्रियो को स्पष्टत. यज्ञ का अधिकारिणी कहा गया है ।[४] अपत्नीक व्यक्ति यज्ञ के लिए अनुपयुक्त समझा जाता था ।[५] रामायण काल तक हम राम को सीता की अनुपस्थिति मे यज्ञ करने में असमर्थ पाते हैं । इस समस्या के समाधान हेतु उन्हें सीता की सुवर्ण-प्रतिमा बनवानी पडी थी । शतपथ ब्राह्मण मे पत्नी द्वारा यज्ञ की अनेक क्रियाओ के सम्पादन का वर्णन है ।[६] यज्ञ की वेदी के निर्माण मे उसकी सहायता अपेक्षित थी ।[७] इसके अतिरिक्त अन्य याज्ञिक क्रियाओ में भी वह पति को सहयोग देती थी ।[८] पारस्कर गृह्यसूत्र (२.१७) से ज्ञात होता हैं कि शस्यवृद्धि के लिए पत्नी स्वतन्त्र रूप से भी सीता यज्ञ कर सकती थी । धार्मिक क्रियाओ की भांति ही उनसे

---

१. गायन्त स्त्रिय कामयन्ते,
२ आप० ध० सू० २,२ २९ १५
३ अथर्ववेद २.३६.१
४. अथर्ववेद ११.१ १७-२७ योषितो यज्ञिया इमा
५ शत० ब्रा० ५ १ ६ १०, तै० ब्रा० २२ २ ६
६ शत० ब्रा० १ ६.२ १, १ ६.२.५
७ शत० ब्रा० १० २ ३ १ , १० २.३.३
८ शत० ब्रा० ३ ८ २ १-६

उत्पन्न फल के भोग में भी पत्नी पति के समान ही अधिकारिणी समझी जाती थी। अकेले पुरुष स्वर्ग के भोग की भी आकाक्षा नही करता था। वाजपेय यज्ञ में यज्ञीय यूप के सहारे सीढ़ी पर चढता हुआ पति पत्नी से कहता था आओ हम दोनो साथ साथ स्वर्गारोहण करें।[१]

उपर्युक्त वर्णन से वैदिक नारी की जिस उच्च स्थिति का बोध होता है वह चिरस्थायी नही थी। उत्तर वैदिक युग मे ही स्त्रियो की दशा पतनोन्मुख हो चली थी। उनके विषय मे विभिन्न प्रकार के हीन विचारो का प्रतिपादन एव प्रचार हो रहा था। पत्नी के लिए अब अधिकाशत भार्या और जाया शब्द का प्रयोग होने लगा था। पोष्या और भार्या जैसे शब्द स्त्री की अधीनता का सकेत करते हैं। जाया शब्द का बाहुल्य नारी के प्रजनन कार्य के महत्व पर बल दिए जाने का प्रमाण है। परवर्ती सहिताओं एव ब्राह्मण ग्रथो में जहाँ कही भी स्त्रियो के महत्व पर उनकी उपयोगिता को पृथक् करके विचार किया गया है, प्राय उनकी भर्त्सना की गई है। मैत्रायणी सहिता (३ ६ ३) में स्त्री को झूठ बोलने वाली और मृत्यु के देवता से सम्बद्ध बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण (१४ १ १ ३१) में भी स्त्रियो को अनृत कहा गया है। काठक सहिता नारी को भावुक और निर्वीर्य बतलाता है।[२] मैत्रायणी सहिता के एक अन्य प्रसंग मे स्त्री पर चरित्रहीनता का दोष लगाते हुए कहा गया है कि पति द्वारा धन से खरीदी जाने वाली स्त्री भी अन्य पुरुषो के साथ विचरण करती है।[३] इस प्रसग से स्त्रियो का क्रय-विक्रय भी न्यूनाधिक रूप मे प्रमाणित है। स्त्री-विक्रय की परम्परा के प्रचलन का सकेत यास्क ने अपने निरुक्त में भी दिया है।[४] तैत्तिरीय संहिता में भी नारी की शारीरिक हीनता का उल्लेख हुआ है और उसे यज्ञ में सोम का भाग लेने के अधिकार से विहीन एव पापी पुरुषों से भी तुच्छ बातें करनेवाली बताया गया है।[५] जैमिनीय ब्राह्मण (१ ६८) में स्त्रियो को दु ख का साधन माना गया है तथा कहा गया है कि इन्हें देवताओं ने क्रोध, आलस्य, नीद, भूख या वासना तथा

---

१ शत० ब्रा० ५ २ १ १०

२ काठक स० २८ ८ ४४

३ मै० स० १ १० ११

४ निरुक्त ३ ४

५ तै० स० ६ ५ ८ २

मे रखता है तथा उनकी अपवित्रता की घोषणा करता है।[१] स्त्रियो का धार्मिक अनुष्ठानों से बहिष्कार एक आकस्मिक घटना नही थी। उनके अधिकारों का अपहरण बडी मन्द गति से हुआ। जिन अपवित्रताओ एव दूषणो के कारण उत्तरवैदिक युग के अन्त तक स्त्रियो को यज्ञाधिकार से वंचित कर दिया गया उनके निराकरण का प्रारम्भ में प्रयास भी किया गया। शतपथ ब्राह्मण (१ ३ १ १३) पत्नी के नाभि के नीचेवाले भाग को अपवित्र बतलाता है तथा इस अशौच को दूर करने के लिए वस्त्रों के ऊपर कुशा घास के चण्डातक की व्यवस्था करता है। यज्ञ मे होने वाले विभिन्न अनुष्ठान धीरे-धीरे स्त्रियो के हाथ से निकल कर पुरोहितो के अधिकार क्षेत्र मे आने लगे। पहले पत्नी द्वारा होने वाला हवि तैयार करने का कार्य अब पुरोहित (अग्नीध्र) करने लगा।[२] इसी प्रकार सोमयाग मे प्रवर्ग्य नामक कृत्य (घर्म नामक गरम वर्तन में दूध डालना) पहले पत्नी द्वारा सम्पादित होता था, किंतु बाद में इसे उद्गाता करने लगा।[३] इन प्रमाणो के आधार पर यद्यपि यह तो नही कहा जा सकता कि उत्तर वैदिक युगीन नारी धार्मिक जीवन से बहिष्कृत कर दी गई थी क्योंकि हम अनेक प्रसगों मे पत्नी को पति के साथ यज्ञ कार्य करते हुए पाते हैं, तथापि इनके आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज के अन्य वर्गों एव सस्थाओं की भाँति ही स्त्रियो के सम्बन्ध मे भी नए विचारों एव नवीन मूल्यो का उन्मेष प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार भारतीय नारी के पतन का जो इतिहास बाद में उपलब्ध होता है उसके विकास के बीज उत्तरवैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था में ही निहित थे।

वैदिक आर्यों के पितृप्रधान समाज में पुरुष की अपेक्षा नारी को कम सम्मान प्राप्त होना स्वाभाविक था। पूर्व वैदिक युग की सामाजिक-अव्यवस्था एव वाह्य सघर्षों ने पुरुष को स्त्रियों पर स्वामित्व के आरोपण का विशेष अवसर नहीं दिया। उत्तरवैदिक युग तक, जब समाज के विभिन्न वर्गों एव परिवार के विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों एव उनकी सामाजिक स्थिति स्पष्टतर होने लगी, पुरुषापेक्षी प्रवृत्तियाँ उग्र हो चलीं। इसके पीछे जहा एक ओर समाज मे व्याप्त वर्ग सघर्ष, शोषण और अधिकरण की नूतन

१ शत० ब्रा० १४ १ १ १३

२. शत० ब्रा० १ १ ४.१३

३ शत० ब्रा० ४ ३.१ ८५, पत्नीकर्मैव एतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातर ।

द्यूतक्रीडा जैसे दुर्व्यसनों के साथ मनुष्य को कष्ट देने के लिए बनाया है। शतपथ ब्राह्मण पुरुष के समक्ष नारी की हीनता का प्रतिपादन करते हुए यहाँ तक कहता है कि अनेक स्त्रियो के बीच एक छोटा बालक हो तो उनमे वही श्रेष्ठ समझा जायगा।[१]

इस युग के सामाजिक जीवन में जो संघर्ष दिखाई देता है उसका प्रभाव सामान्यजनो के व्यक्तिगत जीवन पर भी पडा। पारिवारिक जीवन मे हम पुरुषो को स्त्रियो के समक्ष अपनी उच्चता का प्रतिपादन करते हुए देखते हैं। दाम्पत्य जीवन मे भी समान अधिकारों का ह्रास एवं स्त्रियों की दुर्बलता का लाभ उठाकर उनके शोषण का प्रयास होने लगता है। शतपथ ब्राह्मण एक स्थान पर पति का अत्ता कहता है। विचारणीय है कि इसी प्रकार राजा को भी 'विश' का अत्ता कहा गया है। पत्नी के समक्ष पति की गुरुता एवं श्रेष्ठता की स्थापना का प्रयास शतपथ ब्राह्मण (१ १.४ १३) में स्पष्ट दिखाई देता है। शतपथ ब्राह्मण का यह अंश इस बात की व्यवस्था करता है कि पत्नी को पति के पश्चात् भोजन करना चाहिए। शतपथ ब्राह्मण पत्नी के शरीर पर भी प्राय पति का अधिकार मानता है।[२] इस अंश मे हमे स्त्री की परतन्त्रता (न नारी स्वातन्त्र्यमर्हति) का स्पष्ट वर्णन दिखाई देता है। यहाँ कहा गया है कि 'देवताओं' ने पीट-पीट कर अपनी पत्नियो को शक्तिहीन कर दिया है। अत इस प्रकार पीडित और शक्तिहीन होने के कारण उनका अपने शरीर और सम्पत्ति पर कोई अधिकार नहीं है।

इसी युग मे नारी को याज्ञिक अधिकारों से भी वंचित करने का प्रयास किया गया। यद्यपि यज्ञों से धर्मपत्नी के रूप मे नारी को बहिष्कृत नहीं किया जा सका, तथापि उसके धार्मिक अधिकारो को सीमित और संकुचित कर दिया गया। धार्मिक क्षेत्र मे उनकी अपवित्रता और याज्ञिक अनुपयुक्तता का विचार प्रचलित हो गया जिसकी प्रतिध्वनि उत्तर वैदिक साहित्य के उत्तरार्द्ध में सर्वत्र मिलती है। याज्ञिकों के एक सम्प्रदाय ने यह प्रतिपादित किया कि स्त्रियां यज्ञ की अधिकारिणी ही नहीं हैं। उनका स्थान यज्ञ की वेदी के बाहर होना चाहिए।[३] यद्यपि शतपथ ब्राह्मण स्त्रियों को यज्ञ से बहिष्कृत करने का समर्थन नहीं करता फिर उन्हें अयज्वन शूद्रों की कोटि

---

१. शत० ब्रा० १.३.१ ९

२. शत० ब्रा० ४ ४.२.१३

३. शाखा० ब्रा० २७.४, अयज्ञिया वैपत्न्यो बहिर्वेदिहिता.

मे रखता है तथा उनकी अपवित्रता की घोषणा करता है।[१] स्त्रियो का धार्मिक अनुष्ठानों से बहिष्कार एक आकस्मिक घटना नही थी। उनके अधिकारों का अपहरण बडी मन्द गति से हुआ। जिन अपवित्रताओ एव दूषणो के कारण उत्तरवैदिक युग के अन्त तक स्त्रियों को यज्ञाधिकार से वंचित कर दिया गया उनके निराकरण का प्रारम्भ मे प्रयास भी किया गया। शतपथ ब्राह्मण (१ ३ १ १३) पत्नी के नाभि के नीचेवाले भाग को अपवित्र बतलाता है तथा इस अशौच को दूर करने के लिए वस्त्रों के ऊपर कुशा घास के चण्डातक की व्यवस्था करता है। यज्ञ मे होने वाले विभिन्न अनुष्ठान धीरे-धीरे स्त्रियो के हाथ से निकल कर पुरोहितो के अधिकार क्षेत्र मे आने लगे। पहले पत्नी द्वारा होने वाला हवि तैयार करने का कार्य अब पुरोहित (अग्नीध्र) करने लगा।[२] इसी प्रकार सोमयाग में प्रवर्ग्य नामक कृत्य (घर्म नामक गरम बर्तन में दूध डालना) पहले पत्नी द्वारा सम्पादित होता था, किंतु बाद में इसे उद्गाता करने लगा।[३] इन प्रमाणों के आधार पर यद्यपि यह तो नहीं कहा जा सकता कि उत्तर वैदिक युगीन नारी धार्मिक जीवन से बहिष्कृत कर दी गई थी क्योकि हम अनेक प्रसगों मे पत्नी को पति के साथ यज्ञ कार्य करते हुए पाते हैं, तथापि इनके आधार पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि समाज के अन्य वर्गो एव सस्थाओ की भांति ही स्त्रियो के सम्बन्ध में भी नए विचारो एव नवीन मूल्यो का उन्मेष प्रारम्भ हो गया था। इस प्रकार भारतीय नारी के पतन का जो इतिहास बाद में उपलब्ध होता है उसके विकास के बीज उत्तरवैदिक युग की सामाजिक व्यवस्था में ही निहित थे।

वैदिक आर्यों के पितृप्रधान समाज में पुरुष की अपेक्षा नारी को कम सम्मान प्राप्त होना स्वाभाविक था। पूर्व वैदिक युग की सामाजिक-अव्यवस्था एव बाह्य सघर्षों ने पुरुष को स्त्रियों पर स्वामित्व के आरोपण का विशेष अवसर नहीं दिया। उत्तरवैदिक युग तक, जब समाज के विभिन्न वर्गो एव परिवार के विभिन्न सदस्यो के पारस्परिक सम्बन्धों एव उनकी सामाजिक स्थिति स्पष्टतर होने लगी, पुरुषापेक्षी प्रवृत्तियां उग्र हो चलीं। इसके पीछे जहा एक ओर समाज मे व्याप्त वर्ग सघर्ष, शोषण और अधिकरण की नूतन

---

१ शत० ब्रा० १४ १ १ १३

२. शत० ब्रा० १ १ ४ १३

३ शत० ब्रा० ४ ३ १ ८५, पत्नीकर्मैव एतेऽत्र कुर्वन्ति यदुद्गातर ।

प्रक्रिया का परोक्ष प्रभाव था वहीं कतिपय अनार्य जनों के मातृमूलक-समाज के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया भी थी।

स्त्रियों को धार्मिक जीवन से बहिष्करण के प्रयास के कारण अधिकांशत परिस्थितिक थे। वर्णव्यवस्था के विकास एवं पुरोहित वर्ग के प्रभावक्षेत्र में विस्तार के कारण यज्ञों का स्वरूप वामन के शरीर की भाँति बढ़ने लगा। याज्ञिक प्रक्रियाएं उत्तरोत्तर जटिल और आडम्बरपूर्ण होने लगीं। यज्ञ की छोटी क्रियाओं के लिए विस्तृत विधियां निर्धारित की जाने लगी। पहले पति पत्नी द्वारा किया जाने वाला साधारण कृत्य अब होता उद्गाता अध्वर्यु ब्रह्मा आदि अनेक पुरोहितों की सहायता से होने लगा। वैदिक मंत्रों के उच्चारण में लेशमात्र भी त्रुटि अनिष्टकर मानी जाने लगी।[१] फलत कम पढ़ी-लिखी स्त्रियों के लिए यज्ञ में भाग लेना कठिन हो गया। दूसरे पुरोहितों ने पत्नी द्वारा सम्पादित होने वाले अनेक कृत्यों को स्वयं करना प्रारम्भ किया जिससे स्त्रियों का यज्ञों में सहयोग क्रमशः कम होने लगा। विशेषत पुरोहितों द्वारा किए गए इस परिवर्तन पर आक्षेप करने में स्त्रियां समर्थ भी नहीं थी। इस नैराश्य से प्रभावित होकर उपनिषद काल तक अनेक स्त्रियों ने ब्रह्मज्ञान को अपनी बौद्धिक एवं आध्यात्मिक जिज्ञासा का केन्द्र बनाया।

इसी प्रकार आर्यों का अनार्या स्त्रियों से विवाह भी पत्नी को यज्ञाधिकार से बहिष्कृत करने का एक प्रमुख कारण बना। यद्यपि शूद्रा अथवा अनार्या से विवाह हतोत्साहित किये जाते थे तथापि आर्य परिवारों में शूद्र स्त्रियां विवाहिता वधू अथवा रखैल के रूप में आती रहीं। आर्यों की अनार्य पत्नियों का उल्लेख धर्मसूत्रों के काल तक मिलता है। वशिष्ठ धर्मसूत्र[२] कृष्णवर्णा स्त्री को धर्म के लिए उपयुक्त न मानकर केवल रमण के लिए उपयुक्त मानता है। वैदिक कर्मकाण्डों से अपरिचित होने के कारण स्वभावत अनार्या पत्नियां अनुष्ठानों में अधिक भूल कर सकती थीं। अत यज्ञों की पवित्रता की रक्षा के लिए तथा अभीप्सित फल की प्राप्ति के लिए ऐसी स्त्रियों से याज्ञिक अधिकार छीनना वाञ्छनीय समझा गया। किन्तु कालान्तर में इन शूद्राओं के दुर्भाग्य की छाया उनकी आर्या सपत्नियों पर भी पड़ने लगी तथा नारी मात्र को धार्मिक दृष्टि से अपवित्र समझा जाने लगा।

---

१. पाणिनि शिक्षा ५२

२. वशिष्ठ धर्मसूत्र' १८, १७

धार्मिक दृष्टि से स्त्रियों को अपवित्र घोषित करने के लिए उनकी दुर्बलताओं का आश्रय लेना आवश्यक था। इसीलिए स्त्रियों की अपवित्रता का प्रमुख कारण मासिक-धर्म बताया गया। रजस्वला नारी की अपवित्रता का संकेत हमें सर्वप्रथम तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (२ ५ १) के अनुसार 'उस समय स्त्री मलिन वस्त्रों वाली होती है। ऐसी स्त्री के साथ न बोलना चाहिए न बैठना। उनका अन्न भी ग्रहण नहीं करना चाहि। ऐसी स्थिति में यह स्वभाविक था कि पत्नी को यज्ञ कार्य से भी पृथक् किय जाता। तैत्तिरीय ब्राह्मण उस पुरुष को भाग्यहीन बतलाता है जिसकी पत्नी उसे यज्ञ के समय रजस्वला होने कारण प्राप्त नहीं होती[1] क्योंकि पत्नी के अभाव में आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है। प्रारम्भ में केवल रजस्वला स्त्रियां अपवित्र समझी जाती रही होंगी किन्तु बाद में प्रतिमास होने वाले इस दूषण के कारण उन्हें स्थायी रूप से अपवित्र और अमेध्य मान लिया गया। शतपथ ब्राह्मण इसीलिए स्त्री के नाभि के नीचे वाले भाग को स्थायी रूप से अमेध्य बतलाता है[2] मासिक धर्म से उत्पन्न होने वाले अशौच और कुप्रभाव को विश्व की अनेक प्राचीन एवं आधुनिक जातियों ने स्वीकार किया है।[3] फ्रेजर महोदय के अनुसार इस अवस्था में स्त्री की अपवित्रता का कारण आदिम जातियों का यह विश्वास रहा है कि जीवन-शक्ति रक्त में रहती है[4] इसलिए रजस्वला स्त्रियां रक्तस्राव के कारण दुर्बल हो जाती है। अतः उनका स्पर्श करने वाला पुरुष भी दुर्बल और रुग्ण हो जायगा।

वैधव्य

उत्तरवैदिक युग में विधवाएं तिरस्कृत और उपेक्षित नहीं थी। सती प्रथा के प्रचलन के चिह्न हमें इस युग में नहीं मिलते। सम्भवतः भारत में प्रवेश करने के पूर्व आर्यों में भी सती-प्रथा का प्रचलन था परन्तु ऋग्वेद और अवेस्ता के सामूहिक साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि आर्य हिन्दू ईरानी युग में ही इस प्रथा का त्याग कर चुके थे। वैदिक आर्यों में सती प्रथा के निषेध का कारण नितान्त व्यवहारिक प्रतीत होता

१ तै० ब्रा० ३. ७ १
२ शत० ब्रा० १ ३,१.१३, ५ २.१ १८
३ फ्रेजर, गोल्डेन बाउ १. पृ० २२६–२७, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १३५
४ वही, २, पृ० २४०

प्रक्रिया का परोक्ष प्रभाव था वही कतिपय अनार्य जनों के मातृमूलक-समाज के सम्पर्क से उत्पन्न होने वाली प्रतिक्रिया भी थी।

स्त्रियो को धार्मिक जीवन से वहिष्करण के प्रयास के कारण अधिकाशत परिस्थितिक थे। वर्णव्यवस्था के विकास एव पुरोहित वर्ग के प्रभावक्षेत्र में विस्तार के कारण यज्ञो का स्वरूप वामन के शरीर की भाति बढने लगा। याज्ञिक प्रक्रियाएं उत्तरोत्तर जटिल और आडम्बरपूर्ण होने लगी। यज्ञ की छोटी क्रियाओ के लिए विस्तृत विधिया निर्धारित की जाने लगी। पहले पति पत्नी द्वारा किया जाने वाला साधारण कृत्य अब होता उद्गाता अध्वर्यु ब्रह्मा आदि अनेक पुरोहितों की सहायता से होने लगा। वैदिक मंत्रो के उच्चारण मे लेशमात्र भी त्रुटि अनिष्टकर मानी जाने लगी।[१] फलत कम पढी-लिखी स्त्रियों के लिए यज्ञ में भाग लेना कठिन हो गया। दूसरे पुरोहितो ने पत्नी द्वारा सम्पादित होने वाले अनेक कृत्यों को स्वय करना प्रारम्भ किया जिससे स्त्रियो का यज्ञो में सहयोग क्रमशः कम होने लगा। विशेषत पुरोहितो द्वारा किए गए इस परिवर्तन पर आक्षेप करने में स्त्रिया समर्थ भी नहीं थी। इस नैराश्य से प्रभावित होकर उपनिषद काल तक अनेक स्त्रियो ने ब्रह्मज्ञान को अपनी बौद्धिक एव आध्यात्मिक जिज्ञासा का केन्द्र बनाया।

इसी प्रकार आर्यो का अनार्या स्त्रियों से विवाह भी पत्नी को यज्ञाधिकार से बहिष्कृत करने का एक प्रमुख कारण बना। यद्यपि शूद्रा अथवा अनार्या से विवाह हतोत्साहित किये जाते थे तथापि आर्य परिवारो मे शूद्र स्त्रिया विवाहिता वधू अथवा रखैल के रूप मे आती रही। आर्यों की अनार्य पत्नियो का उल्लेख धर्मसूत्रो के काल तक मिलता है। वशिष्ठ धमसूत्र[२] कृष्णवर्णा स्त्री को धर्म के लिए उपयुक्त न मानकर केवल रमण के लिए उपयुक्त मानता है। वैदिक कर्मकाण्डों से अपरिचित होने के कारण स्वभावत अनार्या पत्निया अनुष्ठानो मे अधिक भूल कर सकती थी। अत यज्ञो की पवित्रता की रक्षा के लिए तथा अभीप्सित फल की प्राप्ति के लिए ऐसी स्त्रियो से याज्ञिक अधिकार छीनना वाछनीय समझा गया। किन्तु कालान्तर में इन शूद्राओं के दुर्भाग्य की छाया उनकी आर्या सपत्नियों पर भी पडने लगी तथा नारी मात्र को धार्मिक दृष्टि से अपवित्र समझा जाने लगा।

---

१ पाणिनि शिक्षा ५२

२. वशिष्ठ धर्मसूत्र' १८, १७

धार्मिक दृष्टि से स्त्रियों को अपवित्र घोषित करने के लिए उनकी दुर्बलताओं का आश्रय लेना आवश्यक था। इसीलिए स्त्रियों की अपवित्रता का प्रमुख कारण मासिक-धर्म बताया गया। रजस्वला नारी की अपवित्रता का संकेत हमे सर्वप्रथम तैत्तिरीय संहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (२ ५ १) के अनुसार 'उस समय स्त्री मलिन वस्त्रो वाली होती है। ऐसी स्त्री के साथ न बोलना चाहिए न बैठना। उनका अन्न भी ग्रहण नहीं करना चाहि। ऐसी स्थिति मे यह स्वभाविक था कि पत्नी को यज्ञ कार्य से भी पृथक् किय जाता। तैत्तिरीय ब्राह्मण उस पुरुष को भाग्यहीन बतलाता है जिसकी पत्नी उसे यज्ञ के समय रजस्वला होने कारण प्राप्त नहीं होती[1] क्योकि पत्नी के अभाव में आधा यज्ञ नष्ट हो जाता है। प्रारम्भ मे केवल रजस्वला स्त्रिया अपवित्र समझी जाती रही होगी किन्तु बाद मे प्रतिमास होने वाले इस दूषण के कारण उन्हें स्थायी रूप से अपवित्र और अमेध्य मान लिया गया। शतपथ ब्राह्मण इसीलिए स्त्री के नाभि के नीचे वाले भाग को स्थायी रूप से अमेध्य बतलाता है[2] मासिक धर्म से उत्पन्न होने वाले अशौच और कुप्रभाव को विश्व की अनेक प्राचीन एवं आधुनिक जातियों ने स्वीकार किया है।[3] फ्रेजर महोदय के अनुसार इस अवस्था में स्त्री की अपवित्रता का कारण आदिम जातियों का यह विश्वास रहा है कि जीवन-शक्ति रक्त मे रहती है[4] इसलिए रजस्वला स्त्रिया रक्तस्राव के कारण दुर्बल हो जाती है। अत उनका स्पर्श करने वाला पुरुष भी दुर्बल और रुग्ण हो जायगा।

वैधव्य

उत्तरवैदिक युग में विधवाएं तिरस्कृत और उपेक्षित नही थी। सती प्रथा के प्रचलन के चिह्न हमें इस युग में नही मिलते। सम्भवत भारत में प्रवेश करने के पूर्व आर्यों में भी सती-प्रथा का प्रचलन था परन्तु ऋग्वेद और अवेस्ता के सामूहिक साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध होता है कि आर्य हिन्दू इरानी युग में ही इस प्रथा का त्याग कर चुके थे। वैदिक आर्यों में सती प्रथा के निषेध का कारण नितान्त व्यवहारिक प्रतीत होता

---

१ तै० ब्रा० ३, ७ १

२ शत० ब्रा० १.३,१.१३, ५ २ १ १८

३ फ्रेजर, गोल्डेन बाउ १. पृ० २२६–२७, हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० १३५

४ वही, २, पृ० २४०

है। अपने को सामरिक दृष्टि से अधिक सशक्त करने के लिए तथा वशविस्तार के लिए उन्होने प्रजनन कार्य मे समर्थ विधवाओ को मृत्यु की विभीषिका से निकाल कर नवजीवन के प्रकाश में खडा किया तथा उन्हे पुन समृद्ध और सन्तानयुक्त जीवन व्यतीत करने को सुविधा दी।[१] तैत्तिरीय आरण्यक मे विधवा स्त्री का अपने पति के हाथो से उसकी धनुष आदि प्रिय वस्तुओ को लेकर गृहप्रत्यागमन तथा उसके आगामी जीवन में सुख समृद्धि की कामना का उल्लेख है।[२] ऋ० १० १८ ८ तथा उत्तरवैदिक साहित्य के प्रस्तुत प्रसग इस बात का सकेत करते हैं कि वैदिक युग मे वे पति के शव के पार्श्व में लेटती थी तत्पश्चात् पुन: उन्हें जीवलोक मे लौट आने का सदेश दिया जाताथा। आपस्तम्ब गृह्यसूत्र के अनुसार विधवा स्त्री को देवर, मृत पति का शिष्य अथवा कोई विश्वस्त वृद्ध दास श्मशान से घर लाता था।[३] समस्त सूत्र साहित्य मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक विभिन्न सस्कारों का वर्णन करता हुआ भी सती प्रथा के विषय में सर्वथा मौन है।

पूर्व वैदिक युग की भांति उत्तरवैदिक युग मे भी विधवा विवाह प्रचलित थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर पंचौदन क्रिया के द्वारा पत्नी और उसके द्वितीय पति मे अपार्थक्य और अभिन्नता उत्पन्न करने की योजना है।[४] तैत्तिरीय सहिता ३ २ ४ ४ में 'दैधिषव्य' अथवा विधवा के पुत्र का उल्लेख है। धर्मशास्त्रो मे पुनर्भू और पौनर्भव शब्द का स्थान-स्थान पर प्रयोग पुन विवाह के सूत्रकालपर्यन्त अक्षुण्ण प्रचलन को सिद्ध करता है। महाभारत मे भी पति के अभाव मे देवर को पति बनाने की व्यवस्था की गई है।[५] गौतम ने देवर के साथ नियोग का प्रतिपादन किया है (गौतम १८ ४-८)।

पुनर्विवाह तथा नियोग

१. अथर्ववेद १८, १ १, इय नारीपतिलोक वृणानानिपद्यते उपत्वा मर्त्यं मेतम् धर्मम् पुराणमनुपालयन्ती तस्मै प्रजाद्रविण चेत धत्त।

२ तै० आर० ६ १

३. आप० गृह्य० सू० ४ २.१८, तामुत्थापयेद्देवर पतिस्थानीयोऽन्तेवासी जरद्दासो वा उदीर्ष्व नारि अभिजीवलोकं इति।

४ अथर्व० ९ ५.२७-२८ या पूर्व पति वित्वा अथान्य विन्दते पतिम्
पञ्चौदन च तौ अज ददतो न वियोजत ।
समान लोको भवति पुनर्भुवा अपर पति:

५. महा० १३.१२.१९ नारी तु पत्यभावे देवर कृणुतेपति।

वैदिक साहित्य के साक्ष्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि विधवा का पुनर्विवाह अथवा नियोग उसके देवर के ही साथ होता था। जब हम ऋग्वेद मे नवपरिणीता वधू को दिए गए आशीर्वाद 'देवृकामा भव', ऋग्वेद (१० ४ २ २) में उल्लिखित शैय्यारूढ विधवा के पास पहुँचते देवर, एव यास्क द्वारा दी गई देवर शब्द की व्युत्पत्ति पर सामूहिक रूप से विचार करते हैं तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य हो जाता है कि विधवाओं का पुनर्विवाह प्राय. पति के भ्राता के साथ ही होता था। महाभारत के अनुसार पाण्डु और धृत-राष्ट्र के जन्म के लिए सत्यवती ने जब अपने पुत्रवधुओं के नियोग की व्यवस्था की थी, उसके लिए उसने अपने ही पुत्र व्यासद्वैपायन को निमंत्रित किया था। देवर से साथ पुनर्विवाह और नियोग की प्रथा विश्व की अन्य जातियों मे भी प्रचलित थी। प्राचीन काल मे यहूदियो में इस प्रथा का प्रचलन था। ओल्ड टेस्टामेण्ट में इसका उल्लेख हुआ है।[1]

१ पोजीशन आव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन पृ० १४३

उत्तर वैदिक युग में आदर्शों के उन्मेष तथा सामाजिक संस्थाओं की व्यवस्था के साथ ही राज्य के संघटन मे भी विकास दृष्टिगोचर होता है। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि उस युग में प्रायः जनराज्यो की ही परम्परा थी। यदु, पुरु, द्रुह्यु, भरत आदि जिन जनो का उल्लेख इस ग्रन्थ मे हुआ है उनका कोई निश्चित भूप्रदेश नही था। भ्रमणशील कबीलो के साथ ही उनके राज्य भी बदलते रहते थे। कबीली जीवन के ये सस्कार उत्तर-वैदिक युग तक भी पूर्णत: समाप्त नही हुए थे। शतपथ ब्राह्मण (४ १ ५ २) से ज्ञात होता है कि एक ग्राम अपने नेता शर्यात मानव के नेतृत्व मे इधर-उधर घूमा करता था। इससे स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग में भी आर्यों के कुछ समूह अस्थायी जीवन व्यतीत कर रहे थे। प्रादेशिक (Territorial) राज्यो की स्थापना के पश्चात् भी जन-राज्यो की परम्परा का प्रभाव पूर्णत: नष्ट नही हो पाया था। राजसूय यज्ञ के 'देवसु-हविषी' नामक अनुष्ठान मे राजा के लिए जान राज्य की भी कामना की गई है।[१] यद्यपि विद्वानो ने जान-राज्य के विविध अर्थ किये हैं[२] तथापि इस शब्द को पूर्व-वैदिक युगीन जन-राज्यों का सकेत मानना ही अधिक युक्तिसगत होगा। सम्भवत जान-राज्य के माध्यम से यह इच्छा व्यक्त की जाती थी कि राजा अपने जन का शासक बने।[३] ब्राह्मण साहित्य मे वर्णित राजसूय यज्ञ के प्रसंग मे ऐसे अनेक अनुष्ठानो का विधान है जिनका स्वरूप पूर्णतया आदिम है।[४] इन्ही को दृष्टि मे रखते हुये घोपाल महोदय ने यहाँ तक कहा है कि उत्तर-वैदिक युग का राज-तन्त्र अंशत कबीली अवस्था में था।[५]

---

१. वाज० स० ९ ४०, मै० स० २ ६ ६, मै० स० १ ८ १०, का० स० १५ ५

२ द्र०, यू० एन० घोपाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३१०

३. रामशरन शर्मा, आस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टी-ट्यूशन्स पृ० १२०

४. वही पुस्तक, पृ० ११९–१२६

५ घोपाल, हिस्टोरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज, पृ० २८९

सामान्यत उत्तर-वैदिक युग तक स्थायी प्रादेशिक-राज्यों की स्थापना हो चुकी थी और पूर्व वैदिक युग के अधिकाश जन जनपदों का रूप ग्रहण कर चुके थे।[१] उनके राजा अब राष्ट्र अर्थात् प्रदेश के भी स्वामी समझे जाने लगे थे।[२] उत्तर-वैदिक साहित्य मे एकराट् का राज्य-क्षेत्र ससागर पृथ्वी बताया गया है जिससे प्रादेशिक राज्यो का पूर्ण विकास प्रमाणित होता है।[३] इस युग के राजा विश के साथ ही राष्ट्र पर भी प्रभुता स्थापित करने के लिए चिन्तित थे, ऐसा सकेत तैत्तिरीय सहिता मे एक अनुष्ठान का महत्व समझाते हुए किया गया है।[४] प्रादेशिक राज्यो की स्थापना के परिणामस्वरूप साम्राज्यवादी मनोवृत्ति मे वृद्धि हुई। सार्वभौम पद की प्राप्ति के लिए तथा सागर वेष्टित वसुधा का एकमात्र स्वामी बनने के लिये राजाओ ने वैदिक कर्मकाण्डो का आश्रय लिया। अश्वमेध, वाजपेय और ऐन्द्रमहाभिषेक जैसे यज्ञों की लोकप्रियता में वृद्धि हुई। ब्राह्मण ग्रन्थो में कुरु पचाल, कोशल और मत्स्य के ऐसे अनेक राजाओ का उल्लेख है जिन्होने अश्वमेध तथा ऐन्द्र महाभिषेक के द्वारा सार्वभौम प्राप्त किया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार जनमेजय, भीम सेन श्रुतसेन तथा भरत व सत्रजित-शतानीक आदि बारह राजाओ ने अश्वमेध द्वारा सार्वभौम पद प्राप्त किया था। सम्राट् पद की प्राप्ति के लिये सम्भवत वाजपेय यज्ञ भी किया जाता था। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार वाजपेय से सम्राट् बनता है। राज्य हीन है और साम्राज्य श्रेष्ठ।[५] सम्राट् की वास्तविक स्थिति का ज्ञान तो हमें नही है किन्तु इतना स्पष्ट है कि वह राजा से श्रेष्ठ समझा जाता था। राजा लोग सम्राट् पद की कामना करते थे। वैदिक राज्य होमर युगीन यूनानी राज्यों की भाति ही आकार में छोटे रहे होंगे किन्तु फिर भी सम्राट् का राज्य-क्षेत्र अवश्य कुछ विस्तृत रहा होगा। ऐतरेय ब्राह्मण (७ ३) के अनुसार प्राच्य देश के शासकों का अभिषेक साम्राज्य पद के लिये होता था।[६] शतपथ ब्राह्मण में विदेह-

स्थायी प्रादेशिक राज्यों की स्थापना

१ ऐत० ब्रा० ८ ३ १४

२ अथर्व० ३ ४ २, वर्ष्मन राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्त तै० स० २ २ ३–४

३ ऐत० ब्रा० ८ १६, हिन्दू सभ्यता, पृ० १००

४ तै० स० २ ३ १,—उभे एव विश चराष्ट्रं चावगच्छति।

५ शत० ब्रा० ५ २ १ १३।

६ ऐत० ब्रा० ७ ३ १४

राज जनक को, जो निश्चय ही प्राच्य-देशीय नरेश थे सम्राट कहा गया है।[१] राजसूय के पर राजा धनुष-बाण लेकर चारो दिशाओं की प्रतीकात्मक विजय के माध्यम से अपने दिग्विजय की कामना की अभिव्यक्त करता था। उत्तर-वैदिक समाज मे यह धारणा प्रबल हो चुकी थी कि यज्ञो के सम्पादक से यजमान को अभीप्सित फल की प्राप्ति होती है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण मे ऐन्द्र महाभिषेक के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति समुद्र-पर्यन्त वसुधा का एकराट् होना चाहे वह ऐन्द्र-महाभिषेक द्वारा अभिषिक्त हो।[३] ऐसी स्थिति मे यह प्रतीत होता है कि बहुधा राजे विशेष राजनैतिक सफलताओ के अभाव में भी इन विशिष्ट यज्ञो के सम्पादन से ही सम्राट, एकराट् तथा सार्वभौम पद के अधिकारी मान लिये जाते थे। इस दृष्टि से जनक जैसे राजाओ का सम्राट होना आपत्तिहीन भी प्रतीत होता होता है, क्योंकि उनके द्वारा किये गये किसी दिग्विजय का उल्लेख परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणो मे नही मिलता।

शासन-पद्धतियाँ

इस युग में विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियो का प्रचलन मिलता है। हम जानते हैं कि पूर्व-वैदिक युग के जन-राज्यो की स्थिति शासन-व्यवस्था की दृष्टि से बहुमुखी प्रयोग के लिये विशेष अनुकूल नहीं थी। सुव्यवस्थित शासन-पद्धतियों का विकास तो स्थायी-प्रादेशिक-राज्यो मे ही सम्भव था। ऋग्वेद और अथर्ववेद के अध्ययन ने शासन व्यवस्था मे राजतन्त्र और जनतन्त्र का मिश्रित स्वरूप दिखाई देता है। किन्तु यजुर्वेद की संहिताओं एवं ब्राह्मणो से इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता है कि उत्तर वैदिक युग मे अनेक प्रकार की शासन-पद्धतियाँ व्यवहृत होने लगी थी। ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, राज्य, स्वाराज्य, भौज्य और वैराज्य नाम की पाँच शासन-प्रणालियों का उल्लेख हुआ है।[४] इनमें से प्रथम दो तो निश्चित रूप से राजतन्त्र के ही विभेद है जिसका प्रचलन क्रमश प्राच्य देश और मध्यदेश में था। उत्तर वैदिक संहिताओ और ब्राह्मणों के अधिकाश की रचना मध्यदेश में हुई।

---

१. शत० ब्रा० ११ ३.१ २–६

२ देखिये पच० ब्रा० २० १२ ४, चित्ररथ कापेय द्विरात्र यज्ञ के द्वारा 'एक क्षत्रपति' हुआ।

३. ऐत० ब्रा० ८.१५

४. ऐत० ब्रा० ७ ३.१४

इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि कुरु पंचाल के शासकों ने ही राजसूय यज्ञ का सम्पादन भी विशेष रूप से किया था।[१] अत ब्राह्मणों में वर्णित राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों के प्रसग मे नृपतन्त्रात्मक राज्यों की व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत अन्य शासन प्रणालियों के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। महाभारत और अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात तथ्यो की पृष्ठभूमि में स्वाराज्य, भोज्य और वैराज्य जनतन्त्रात्मक राज्य प्रतीत होते हैं। इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि उत्तर-वैदिक युगीन सामाजिक वातावरण जनतंत्रात्मक शासन पद्धतियो के विकास के लिये विशेष अनुकूल नही था। यही कारण है कि वैराज्य स्वाराज्य और भोज्य शासन-प्रणालियाँ वैदिक सस्कृति के केन्द्र मध्यदेश से दूर, विशेषत आर्य-प्रभाव से मुक्त प्रदेशों में ही प्रचलित हुईं।[२] यहाँ उत्तर-वैदिक युग में हुये उन सामाजिक परिवर्तनों पर भी न्यूनाधिक रूप से विचार करना आवश्यक है।

वर्ण-व्यवस्था के नवोदित प्रभाव के कारण जनसाधारण राजनीति से पृथक् एव उदासीन हो चले थे। शतपथ ब्राह्मण में यहाँ तक कहा गया है कि ब्राह्मण राजकार्य के लिये व्यर्थ होता है।[३] ऐसी स्थिति मे वैश्यो एव शूद्रो का राजनीति मे विशेष प्रवेश निश्चय ही कठिन रहा होगा। राजनैतिक क्षेत्र मे राजन्यो का प्रभाव क्रमश बढता जा रहा था। परिस्थैतिक साक्ष्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि समिति नामक सस्था, जिसे राष्ट्रीय सभा स्वीकार किया गया है[४], ब्राह्मण युग तक लुप्त हो चली थी। ब्राह्मण साहित्य में राजसूय के विस्तृत विवरण में समिति का कोई उल्लेख नही है। इससे प्रकट होता है कि उत्तर वैदिक समाज में राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति के विकास के साथ ही जनतन्त्रात्मक संस्थाओं का अस्तित्व लुप्तप्राय हो गया।[५] छान्दोग्य उपनिषद में पाचालो की समितिका उल्लेख अवश्य हुआ है, जहाँ विद्वान ब्राह्मणों के साथ उपस्थित उनके राजा प्राव-

---

१ शत० ब्रा० ५ ५ २ ५

२ द्र० इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठों में।

३. शत० ब्रा० ५ १।१ १२, न वै ब्राह्मणो राज्याय अल

४. हिन्दू राजतन्त्र, भाग १, पृ० १२, एन० सी० बन्दोपाध्याय—डेवलपमेण्ट आव हिंदू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरी, पृ० ११८

५. द्र० घोषाल, हिन्दू पब्लिक लाइफ, पृ० ११९

राज जनक को, जो निश्चय ही प्राच्य-देशीय नरेश थे सम्राट कहा गया है।[1] राजसूय के अवसर पर राजा धनुष-बाण लेकर चारो दिशाओ की प्रतीकात्मक विजय के माध्यम से अपने दिग्विजय की कामना को अभिव्यक्त करता था। उत्तर-वैदिक समाज मे यह धारणा प्रबल हो चुकी थी कि यज्ञो के सम्पादक से यजमान को अभीप्सित फल की प्राप्ति होती है।[2] ऐतरेय ब्राह्मण में ऐन्द्र महाभिषेक के महत्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो व्यक्ति समुद्र-पर्यन्त वसुधा का एकराट् होना चाहे वह ऐन्द्र-महाभिषेक द्वारा अभिषिक्त हो।[3] ऐसी स्थिति मे यह प्रतीत होता है कि बहुधा राजे विशेष राजनैतिक सफलताओ के अभाव मे भी इन विशिष्ट यज्ञो के सम्पादन से ही सम्राट, एकराट् तथा सार्वभौम पद के अधिकारी मान लिये जाते थे। इस दृष्टि से जनक जैसे राजाओ का सम्राट होना आपत्तिहीन भी प्रतीत होता होता है, क्योंकि उनके द्वारा किये गये किसी दिग्विजय का उल्लेख परवर्ती सहिताओं और ब्राह्मणो मे नही मिलता।

इस युग मे विभिन्न प्रकार की शासन पद्धतियो का प्रचलन मिलता है। हम जानते हैं कि पूर्व-वैदिक युग के जन-राज्यों की स्थिति शासन-व्यवस्था की दृष्टि से बहुमुखी प्रयोग के लिये विशेष अनुकूल नही थी। सुव्यवस्थित शासन-पद्धतियो का विकास तो स्थायी-प्रादेशिक-राज्यो मे ही सम्भव था।

शासन-पद्धतियाँ

ऋग्वेद और अथर्ववेद के अध्ययन ने शासन-व्यवस्था मे राजतन्त्र और जनतन्त्र का मिश्रित स्वरूप दिखाई देता है। किन्तु यजुर्वेद की सहिताओं एवं ब्राह्मणों से इस बात का स्पष्ट सकेत मिलता है कि उत्तर वैदिक युग मे अनेक प्रकार की शासन-पद्धतियाँ व्यवहृत होने लगी थी। ऐतरेय ब्राह्मण में साम्राज्य, राज्य, स्वाराज्य, भोज्य और वैराज्य नाम की पाँच शासन-प्रणालियों का उल्लेख हुआ है।[4] इनमे से प्रथम दो तो निश्चित रूप से राजतन्त्र के ही विभेद है जिसका प्रचलन क्रमश प्राच्य देश और मध्यदेश मे था। उत्तर वैदिक सहिताओ और ब्राह्मणो के अधिकाश की रचना मध्यदेश में हुई।

---

१. शत० ब्रा० ११ ३.१ २–६

२ देखिये पच० ब्रा० २० १२ ४, चित्ररथ कापेय द्विरात्र यज्ञ के द्वारा 'एक क्षत्रपति' हुआ।

३. ऐत० ब्रा० ८.१५

४ ऐत० ब्रा० ७.३.१४

इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि कुरु पचाल के शासकों ने ही राजसूय यज्ञ का सम्पादन भी विशेष रूप से किया था।[1] अत ब्राह्मणों मे वर्णित राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञों के प्रसग मे नृपतन्त्रात्मक राज्यों की व्यवस्था का विस्तृत उल्लेख मिलता है। इसके विपरीत अन्य शासन प्रणालियो के सम्बन्ध मे प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। महाभारत और अर्थशास्त्र के अध्ययन से ज्ञात तथ्यों की पृष्ठभूमि में स्वाराज्य, भौज्य और वैराज्य जनतन्त्रात्मक राज्य प्रतीत होते हैं। इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि उत्तर वैदिक युगीन सामाजिक वातावरण जनतन्त्रात्मक शासन पद्धतियो के विकास के लिये विशेष अनुकूल नही था। यही कारण है कि वैराज्य स्वाराज्य और भौज्य शासन-प्रणालियाँ वैदिक सस्कृति के केन्द्र मध्यदेश से दूर, विशेषत आर्य-प्रभाव से मुक्त प्रदेशों में ही प्रचलित हुईं।[2] यहाँ उत्तर-वैदिक युग में हुये उन सामाजिक परिवर्तनों पर भी न्यूनाधिक रूप से विचार करना आवश्यक है।

वर्ण-व्यवस्था के नवोदित प्रभाव के कारण जनसाधारण राजनीति से पृथक् एवं उदासीन हो चले थे। शतपथ ब्राह्मण में यहाँ तक कहा गया है कि ब्राह्मण राजकार्य के लिये व्यर्थ होता है।[3] ऐसी स्थिति में वैश्यो एवं शूद्रो का राजनीति मे विशेष प्रवेश निश्चय ही कठिन रहा होगा। राजनैतिक क्षेत्र मे राजन्यो का प्रभाव क्रमश बढता जा रहा था। परिस्थैतिक साक्ष्य इस बात को प्रमाणित करते हैं कि समिति नामक सस्था, जिसे राष्ट्रीय सभा स्वीकार किया गया है[4], ब्राह्मण युग तक लुप्त हो चली थी। ब्राह्मण साहित्य में राजसूय के विस्तृत विवरण में समिति का कोई उल्लेख नही है। इससे प्रकट होता है कि उत्तर वैदिक समाज में राजतन्त्रात्मक शासन पद्धति के विकास के साथ ही जनतन्त्रात्मक सस्थाओं का अस्तित्व लुप्तप्राय हो गया।[5] छान्दोग्य उपनिषद मे पाचालों की समितिका उल्लेख अवश्य हुआ है, जहाँ विद्वान ब्राह्मणों के साथ उपस्थित उनके राजा प्राव-

१ शत० ब्रा० ५ ५ २ ५
२ द्र० इसी अध्याय के अग्रिम पृष्ठों में।
३. शत० ब्रा० ५ १।१ १२ न वै ब्राह्मणो राज्याय अल
४. हिन्दू राजतन्त्र, भाग १, पृ० १२, एन० सी० वन्दोपाध्याय—डेवलपमेण्ट आव हिंदू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरी, पृ० ११८
५. द्र० घोषाल, हिन्दू पब्लिक लाइफ, पृ० ११९

हुए जैवलि ने श्वेतकेतु आरुणेय से पाच प्रश्न पूछे थे।[१] जायसवाल महोदय ने यहाँ भी समिति को ऋग्वेद और अथर्ववेद की समिति की भाँति ही राष्ट्रीय सभा माना है तथा इसमें उपस्थित लोगो को जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि माना है।[२] उनका यह मत पूर्णत पूर्वाग्रह-जन्य कल्पना पर आधारित है। क्योकि इस प्रसग मे समिति शब्द का प्रयोग राज-परिषद के अर्थ मे हुआ प्रतीत होता है। बृहदारण्यक उपनिषद (६ २ १) मे भी श्वेतकेतु सम्बन्धी इस घटना का उल्लेख हुआ है। किन्तु इस प्रसंग में समिति की जगह पाचालो की परिषद का उल्लेख है। इन दोनो प्रसगो की अतिशय समानता को देखते हुये यह प्रतीत होता है कि समिति और परिषद दोनो शब्दों का प्रयोग एक अर्थ मे हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद से यह भी ज्ञात होता है कि वहाँ भृत्य गण राजा की सेवा मे तत्पर थे। इस प्रसंग मे समिति द्वारा होनेवाले किसी सार्वजनिक कार्य का कोई संकेत नही है। उत्तर-वैदिक संस्कृति के केन्द्र कुरु-पचाल मे यदि समिति नामक जन-सभा (Popular assembly) जीवित होती तो ब्राह्मण साहित्य उसके विषय में बिल्कुल मौन कदापि नही होता। सूत्र साहित्य तो समिति के नाम से भी अपरिचित है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार वैराज्य शासन प्रणाली का प्रचलन हिमालय से समीपवर्ती प्रदेश उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र मे था।[३] जिमर महोदयने उत्तर कुरु की एकता कश्मीर से स्थापित की है जो असम्भव नही प्रतीत होता।[४] मैक्डानेल और कीथ ने वैराज्य को राजतन्त्र का ही एक रूप माना है।[५] किन्तु वैराज्य शब्द का सम्बन्ध राजतन्त्र से जोडना असगत प्रतीत होता है। क्योकि इस प्रसंग में वैराज्य शब्द का प्रयोग जनपद के लिये हुआ है न कि राजा के लिये।। काशी प्रसाद जायसवाल और रमेशचन्द्र मजुमदार ने वैराज्य को जनतन्त्र माना है।[६] श्री जायसवाल ये अपने मत को सतर्क प्रस्तुत करने

१. छान्दोग्य ५ ३
२. हिन्दू राजतन्त्र, भाग १, पृ० १३
३. "ये के च परेण हिमवन्त जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्याय-तेऽभिषिच्यन्ते। विराडिति तेनाभिषिक्तानाचक्षते।" ऐत० ब्रा० ७ ३ १४
४. जिमर—कारपोरेट लाइफ, पृ० २१६ पर उद्धृत, वैदिक इण्डेक्स १, ८४
५. वैदिक इण्डेक्स, २ २२१
६. हिन्दू राजतन्त्र १, १२४, कारपोरेट लाइफ, पृ० २१६

का प्रयास किया है किन्तु उनका यह मत अन्य ज्ञात तथ्यों के अविरुद्ध नहीं है। उन्होंने वैराज्य का अर्थ 'राजा-विहीन' शासन प्रणाली किया है किन्तु इसका शाब्दिक अर्थ केवल 'राजा-विहीन' होगा। ऐसी स्थिति में वैराज्य जनतन्त्र का भी बोधक हो सकता है और अराजक स्थिति का भी। अथर्ववेद में स्पष्टतया 'विराड' शब्द का प्रयोग अराजक स्थिति के लिये हुआ है।[१] फिर वैदिक साहित्य के ही एक अंग ऐतरेय ब्राह्मण मे विराड का अर्थ एकमात्र कल्पना के सहारे जनतन्त्र करना युक्तिसगत नही प्रतीत होता। सम्भवत, उत्तर-कुरु जैसे सुदूरस्थ पर्वतीय प्रदेशों मे वैदिक संस्कृति का प्रभाव अपेक्षाकृत देर से पडा। महाभारत इस बात की सूचना देता है कि उत्तर कुरु नामक प्रदेश में दीर्घकाल तक विवाह की मर्यादा नही स्थापित हो सकी थी।[२] इसका तात्पर्य है कि परिवार नामक सस्था, जो वैदिक समाज मे पूर्णत स्थिर हो चुकी थी, यहा बहुत बाद मे व्यवस्थित हुई। हम जानते हैं कि परिवार और व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना का राज्य के विकास मे अनिवार्य योग रहा है।[३] सामाजिक-अव्यवस्था की स्थिति में राजनैतिक व्यवस्था की कल्पना निराधार है। असम्भव नही है कि अथर्ववेद मे वर्णित अराजकता की स्थिति (विराड) उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र मे काफी समय तक बनी रही हो। इस अराजक स्थिति में सार्वजनिक समस्याओ पर जनता ही विचार करती होगी। इसलिये सम्भवत ऐतरेय ब्राह्मण में वैराज्य के लिये सम्पूर्ण जनपद के अभिषेक की बात कही गई है। कौटिल्य ने भी वैराज्य मे जनता के विचारों की प्रधानता (प्रकृति-चित्त-ग्रहणापेक्षि) को स्वीकार किया है किन्तु साथ ही उन्होंने जनता की उदासीनता, अनुत्तरदायित्व और असुरक्षित स्थिति का भी उल्लेख किया है।[४] इससे स्पष्ट है कि वैराज्य एक ऐसी स्थिति थी जिसमे राजशक्ति के अभाव मे जनता के विचारो की प्रधानता

---

१ अथर्व० ८ १० १, विराड वा इदमग्रमासीत तस्या जातायाः सर्वमबिभेदेयमेवेद भविष्यति।

२ यत्र नार्य कामचारा भवन्ति। १२ १०२, २६ (बाम्बे सस्करण)

३ राकहिल—दि लाइफ आफ बुद्ध, पृ० ४-७

४ अर्थशास्त्र ८.२, वैराज्यन्तु प्रकृतिचित्त ग्रहणापेक्षि यथास्थितमन्यैर्भुज्यत इत्याचार्या। नेति कौटिल्य। वैराज्ये तु जीवत परस्याच्छिद्य नेतन्ममेति मन्यमान कर्षयत्यपवाहयति। पण्य वा करोति। विरक्त वा परित्यज्यापगच्छतीति।

रही होगी, किन्तु -साथ ही राजनैतिक संगठन की चेतना का अभाव रहा होगा। ऐसी दशा मे उत्तर-वैदिक युगीन वैराज्य को सुविकसित एवं सगठित प्रजातन्त्र न मानकर अराजक-स्थिति मानना ही अधिक युक्तिसगत एव ज्ञात तथ्यों के अनुकूल होगा।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार स्वाराज्य शासन-प्रणाली का प्रचलन प्रतीची-दिशा (पश्चिम) के नीच्यो और अपाच्यो में था।[१] कुछ विद्वानो ने नीच्यो को सिन्ध नदी के मुहाने के समीप रखने का प्रयास किया है तथा अपाच्यों को उनका पड़ोसी माना है।[२] उत्तर-वैदिक युग की भौगोलिक परिधि इस बात को प्रमाणित करती है कि पंजाब से दक्षिण-पूर्व की ओर बढते हुये वैदिक-जन पश्चिमीय भारत के उपनिवेशीकरण के प्रति उदासीन रहे। इससे स्पष्ट है कि इस युग तक पश्चिमी भारत का अधिकांश वैदिक सस्कृति के प्रभाव क्षेत्र के बाहर था। इसके विपरीत इस क्षेत्र मे अनार्य सैन्धव सस्कृति का अस्तित्व दीर्घ काल तक कायम रहा। रगपुर और लोथल के उत्खनन से प्राप्त अवशेषो से यह प्रमाणित है कि सैन्धव-सस्कृति की परम्परायें पंजाब और सिन्ध में विनष्ट होने के पश्चात् भी पश्चिम में गुजरात और काठिया-वाड तक वैदिक सस्कृत के विकास-काल में भी जीवित रही। परिस्थैतिक साक्ष्यो को ध्यान में रखते हुये पश्चिमीय प्रदेशो में प्रचलित स्वाराज्य शासन-पद्धति को सैन्धव-सास्कृतिक परम्पराओं से सम्बन्धित करना सर्वथा स्वाभाविक होगा। स्वराट वे थे जिनकी स्थिति समानो में ज्येष्ठ की थी। तैत्तिरीय ब्राह्मण में स्वाराज्य का अर्थ समान लोगो का नेता होना या ज्येष्ठ्य प्राप्त करना बतलाया गया है।[३] स्वराट शासक की स्थिति गण या सघ के सभापति की थी। महाभारत से यह ज्ञात होता है कि गणो के शासन में कतिपय कुलीन परिवारो का ही हाथ था जिनकी स्थितिसमान मानी जाती थी।[४] इस प्रकार स्वाराज्य एक कुलीन तन्त्रात्मक शासन-पद्धति प्रतीत होती है। इस प्रकार की शासन-पद्धति बौद्ध युग में लिच्छवियो में प्रचलितथी।

---

१. सायण ने नीच्य और अपाच्य शब्दो का प्रयोग कुत्सित अर्थ में माना है।

२ हिन्दू पालिटी, पृ० ८१।

३ तै० ब्रा० १ ३ २ २२, *य एवं विद्वान वाजपेयेन यजति गच्छति स्वाराज्यम्, अग्र समानानापर्येति, तिष्ठन्ते ऽस्मै ज्येष्ठ्याय*

४. महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १०७, श्लोक ६,
जात्या च सदृशा सर्वे कुले सदृशास्तथा

उत्तर-वैदिक युग में विदेह में राजतंत्र का प्रचलन था किन्तु बौद्ध युग तक हम यहां गणतंत्र का आकस्मिक विकास देखते हैं। सम्भव है कि इस परिवर्तन के पीछे भी सैन्धव संस्कृति का प्रभाव रहा हो। इस अनुमान के लिये कोई प्रबल आधार तो नहीं है। किन्तु पुरातात्विक साक्ष्यों का सांकेतिक समर्थन अवश्य प्राप्त है। एक तरफ जहां स्वाराज्य शासन-प्रणाली और लिच्छवियों की शासन-प्रणाली में समानता मिलती है वहीं दूसरी ओर मोहनजोदड़ों से प्राप्त विशाल भवन एवं स्नानागार वैशाली के सथागार और अभिषेक पुष्करिणी की याद दिलाते हैं। सैन्धव संस्कृति के प्रभाव का सुदूर पूर्व में वैशाली तक पहुँचना असम्भव अवश्य प्रतीत होगा किन्तु उनकी भौतिक परम्पराओं का प्रभाव निश्चित रूप से कौशाम्बी तक दृष्टिगोचर होता है।[1] ऐसी स्थिति में इस प्रभाव का वैशाली तक पहुँचना असम्भाव्य नहीं है। दक्षिण दयों में प्रचलित भोज्य शासन-पद्धति भी स्वाराज्य से मिलती जुलती गणतन्त्रात्मक व्यवस्था थी। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार भोज्य शासन प्रणाली सत्वत (यादवों का ही पुराना नाम) लोगों में प्रचलित थी। जायसवाल महोदय ने गुजरात को भोज्य लोगों का प्राचीनतम निवास स्थान माना है।[2] भोज आज भी काठियावाड़ के एक देशी रियासत का नाम है। इससे प्रतीत होता है कि भोज्य शासन पद्धति का प्रचलन दक्षिण-पश्चिम दिशा में था। ऐतरेय ब्राह्मण के लेखक के लिये गुजरात को दक्षिण मानना अस्वाभाविक नहीं है। सम्भवतः भोज्य वे शासक थे जो वंशानुगत न होकर एक निश्चित काल के लिये शासक होते थे। भोज्य शासन एक परिषद की सहायता से चलता था। महाभारत परिषद में होने वाले उग्र वाद-विवाद एवं सदस्यों की पारस्परिक स्पर्धा की भी सूचना देता है।[3] महाभारत से ज्ञात होता है कि वासुदेव कृष्ण ऐसे ही भोज्य संघ के प्रमुख थे जिसका संगठन अंधक, वृष्णि, यादव, कुकुर और भोज ने स्वयं को मिलाकर किया था।[4] उत्तर-वैदिक युग में सम्भवतः वीतहव्यों में भी भोज्य शासन-प्रणाली का ही प्रचलन था। अथर्ववेद में वीतहव्यों के सहस्त्रों की संख्या में शासन

---

१ जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी, पृ० ६

२ हिन्दू पालिटी, पृ० ८०

३ शान्तिपर्व ८१ ७-११

४ यादवा कुकुरा: भोजा सर्वे चान्धकवृष्णय
स्वय्यायत्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्चये। शान्तिपर्व ८१ २६

करने का उल्लेख है[1] जिससे उनकी गणतंत्रात्मक शासन-प्रणाली प्रमाणित होती है। इन वीतहव्यो का सम्बन्ध हैहयो से था जो यादवो की ही एक शाखा थे।[2] यादवो मे भोज्य शासन प्रणाली का प्रचलन अप्रत्याख्येय है। भोज्य-शासन पद्धति भी अधिकाशत वैदिक संस्कृति से अप्रभावित प्रदेशों में प्रचलित होने के कारण तथा स्वाराज्य से मिलती जुलती होने के कारण अनार्य शासन पद्धति ही प्रतीत होती है। इस प्रसग मे यह बतलाना भी उचित होगा कि सहस्त्रो की सख्या मे शासन करने वाले वीतहव्य घोर ब्राह्मण-विरोधी थे। अथर्ववेद मे ब्राह्मणो के विरोध और शाप के कारण इनके विनाश की बात भी कही गई है।

राजतन्त्र

राजतन्त्रात्मक शासन-पद्धति ही उत्तर-वैदिक युग की सामान्य तथा लोकप्रिय व्यवस्था थी। इस युग के राजाओ ने वैदिक कर्मकाडो मे विशेष अभिरुचि दिखाई। राजनैतिक महत्व के विविध यज्ञो के प्रसग मे राजाओ की महत्वकाक्षा, उनके अधिकार और कर्तव्य आदि का साकेतिक उल्लेख भी हुआ है। ज्ञात तथ्यो के आधार पर यहा तक कहा जा सकता है कि राजतन्त्रात्मकशासन-व्यवस्था के माध्यम से उत्तर-वैदिक काल मे सर्वप्रथम राजा की अपेक्षाकृत अनियंत्रित सत्ता का विकास तथा जनता के शोषण की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है। राजा की शक्ति केवल दैवी विधि-नियम द्वारा सीमित थी।[3]

आनुवशिक राजपद

इस बात को सिद्ध करने के लिये पर्याप्त प्रमाण हैं कि प्रारम्भ मे राजा के निर्वाचन की ही प्रथा सम्मान्य थी। ऋग्वेद मे तो राजा के निर्वाचन का उल्लेख मिलता ही है, अथर्ववेद मे भी विश द्वारा राजा के वरण की कामना की गई है।[4] किन्तु निर्वाचन की यह प्रथा उत्तर-वैदिक युग तक राज-शक्ति मे वृद्धि, राज्य की विशालता तथा जनता की उदासीनता के कारण

---

१ अथर्व० ५.१८ १०, ये सहस्र मराजन्नासन् दश शता उत ते ब्राह्मणस्य गा जग्धा वैतहव्या पराभवन्

२ डा० राजवली पाण्डेय का लेख, 'इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस १९५२, भाग १, पृ० ७९-८५

३ वन्दोपाध्याय, डेवलपमेण्ट आव हिन्दू पालिटी एण्ड पोलिटिकल थियरी, पृ० १२५

४ अथर्ववेद ३ ४ २ 'त्वा विशो वृणुता राज्याय'।

धीरे-धीरे अव्यावहारिक हो चली थी। एतरेय ब्राह्मण (८१२ ५, १७ ५) के अनुसार राजा को राजसूय के अवसर पर राज-पितृ भी कहा जाता था[१] जिसका तात्पर्य है 'भावी राजा के पिता'। इस विरुद से राजपद का आनुवंशिक होना प्रमाणित होता है। शतपथ ब्राह्मण मे दश पीढियो से शासित राज्यों का उल्लेख है।[२] कुरु जनपद मे भी वंशानुगत शासन की परम्परा थी। इससे प्रतीत होता है कि इस युग में नृपतन्त्र सामान्यतः वंशानुगत था। वर्ण व्यवस्था के विकास के कारण विविध वर्ण एव व्यवसाय वंशानुगत हो गये थे। पैत्रिक या वंशानुगत व्यवसाय को ग्रहण करना ही धर्म समझा जाने लगा था। उत्तर-वैदिक युग मे एक भी विश्वामित्र अथवा देवापि न हो सका जो पैत्रिक व्यवसाय का त्यागकर स्वतन्त्रतापूर्वक पौरोहित्य कर सके। ऐसी स्थिति में राजपद का आनुवंशिक होना सामाजिक व्यवस्थापन के अनुकूल भी था। राजा अब विश द्वारा निर्वाचित होने वाला जन का नेता नही था। वह स्वय अब 'विशामत्ता' (विश का भक्षक) बन चुका था।[३] अब राजा को अपनी स्थिति दृढ करने के लिये राजन्यो एव अन्य सजात राजपुत्रों की सहायता अपेक्षित थी। ये सजात राजपुत्र अवसर प्रतिस्पर्धा से युक्त होने के कारण राजा के लिए विपत्ति हो जाते थे। भ्रातृव्य शब्द का शत्रुवाची अर्थ इसका सकेत करता है। हम जानते हैं कि महाभारत युद्ध के पीछे भ्रातृव्यों का सघर्ष ही था। सम्भवत इन्हीं सजात राजपुत्रो को दृष्टि मे रखते हुये राजा के लिए 'असपत्न' होने की कामना की गई है।[४] शतपथ ब्राह्मण मे यह भी कहा गया है कि राजा वही हो सकता है, जिसे राजा लोग स्वीकार करें, दूसरा नही हो सकता।[५] यहाँ राजानः राजन्य का पर्यायवाची प्रतीत होता है जिनका समर्थन राजा को अपनी स्थिति सुरक्षित करने के लिये अनिवार्य था। अथर्ववेद के एक मन्त्र के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि बहुधा कतिपय कारणों से प्रजा ही राजा को निर्वासित भी कर सकती थी तथा यदि जनता उसे पुन. राजपद पर प्रतिष्ठित करना चाहे तो

---

१ ऐत० ब्रा० ८ १२ राजान राजपितर।
२ शत० ब्रा० १२ ९ ३ ३
३ ऐत० ब्रा० ३८ और ३९ ३
४ यजुर्वेद ९ ४०
५. शत० ब्रा० ९ ३ ४ ५ यस्मै वा राजानो राज्यमनुमन्यते स राजा भवति नसयस्मै न।

उसे वापस भी बुलाया जा सकता था।[1] किन्तु इस प्रसग में न तो जनता द्वारा निर्वासन का ही कोई सकेत है और न तो जनता द्वारा उसके पुन राजपद पर प्रतिष्ठित होने का ही। उक्त मन्त्र में यह कहा गया है कि 'वह जो अन्य क्षेत्र में अवरुद्ध है, वह श्येन द्वारा पराये स्थान से पुन यहाँ लाया जायगा। अश्विन उसके लिए मार्ग को सुगम कर देंगे। सब सजात उसके चारो ओर एकत्र होगे'। सायणाचार्य के भाष्य से स्पष्ट है कि इस मन्त्र में शत्रूत्सादित राजा का उल्लेख है न कि जनता द्वारा निर्वासित राजा का। इस सूक्त मे राजा के पुनरागमन तथा राज्यप्राप्ति के पीछे भी सजातो की सहायता का ही सकेत है न कि विश के।

राजशक्ति का विस्तार एव राजा के विशेषाधिकार

इस युग मे राजाओ की शक्ति का चरम उत्कर्ष दिखाई देता है। अथर्ववेद में उसे योद्धाओ मे श्रेष्ठ, धनपति और जनता का स्वामी कहा गया है।[2] राजसूय के एक अनुष्ठान के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य प्रत्येक राजा के लिये एक गाय छोडता है।[3] इसका तात्पय यह है कि राजा का प्रभुत्व प्रत्येक वर्ण पर है। उसके क्रोध का आतक भी क्रमश बढता जा रहा था।[4] शतपथ ब्राह्मण (५ ४ ३ २१) मे अभिषिक्त राजा के सम्बन्ध में कहा गया है कि "जिसका अभिषेक हो गया है वह अब महान हो गया है पृथ्वी अब उससे भय खाती है।" यहाँ पृथ्वी का भय निश्चित रूप से राष्ट्र का भय है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि राजा की सत्ता सर्वकष हो चुकी थी। वह राज्य के सम्पूर्ण क्रिया-चक्र का केन्द्र समझा जाने लगा था।[5] शतपथ ब्राह्मण (५ २ १ २५) मे भी इसी भाव को प्रकट करते हुये कहा गया है कि 'यह तुम्हारा राष्ट्र है, तुम इसके नियामक और धारणकर्ता हो।[6] इस युग मे हम राजाओं के व्यक्तित्व में दैवी गुणो एव विशेषणों का भी आरोप पाते हैं। राजा को

---

१ अथर्व० ३ ३.१

२ अथर्व० ४ २२

३ तै० स० १ ८.२६, तै० ब्रा० १.७ १७

४ अथर्व० ६ ४७ २ अन्यत्र राज्ञामभियातु मन्यु ।

५. क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसि । शुक्ल यजुर्वेद २० १

६ इद ते राट् यन्तासि यमनो ध्रुवोऽसि धरुण. ।

वरुण के समान धर्मपति कहा गया है। इसके साथ ही इन्द्र की उपाधियां भी राजा को लगाई जाने लगी थीं।[१] राज्याभिषेक के अवसर पर पुरोहित कहता है कि भगवान सविता के ही आदेश से अभिषेक किया जाता है तथा यह अभिषेक मनुष्य द्वारा न होकर पूषन और अश्विनी कुमारों द्वारा ही सम्पन्न होता है। ऐसा विश्वास था कि अभिषेक के समय राजा के शरीर मे अग्नि और सविता और बृहस्पति देवता प्रवेश करते हैं। बहु-सख्यक प्रजा द्वारा राजाज्ञा के पालन का एक कारण यह बतलाया गया है कि राजा प्रजापति का प्रत्यक्ष रूप है।[२] इस प्रकार आशिक रूप से राजाओं के देवत्व की कल्पना भी प्रारम्भ हो गयी थी। अथर्ववेद के एक उत्तर-कालीन सूक्त में (२० १२७ ७) राजा परीक्षित को स्पष्ट रूप से मर्त्यों का देवता कहा गया है।

ब्राह्मण युग तक राजा अपने वर्द्धमान प्रभाव के कारण अदण्ड्य भी समझा जाने लगा था। राजसूय के एक कृत्य के अनुसार पुरोहित एक दंड से बहुत कोमलता-पूर्वक राजा के पीठ का स्पर्श करता था। श्री काशी प्रसाद जायसवाल के अनुसार इस प्रतीकात्मक अनुष्ठान द्वारा यह सूचित किया जाता था कि राजा न्याय या दंड के ऊपर नहीं बल्कि उसके अधीन है।[३] किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५.४४७) के अनुसार इसके द्वारा राजा का शरीर दंड-वध से परे हो जाता है।[४] यही आशय कात्यायन श्रौतसूत्र में भी प्रकट किया गया है।[५] इन दोनों उद्धरणों की प्रामाणिकता को दृष्टि मे रखने पर यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि इस अनुष्ठान द्वारा पुरोहित न्याय के समक्ष राजा के अदण्ड्य होने की ही घोषणा करता था।[६] राजा का यह न्याय-विषयक विशेषाधिकार उस वातावरण में असम्भव नहीं प्रतीत होता जिसमें वह ऋत के रक्षक वरुण की भांति साक्षात धर्मपति

---

१ ऐत० ब्रा० ८ २

२ शत० ब्रा० ५ १ ५ १४, एष वै प्रजापतेः प्रत्यक्षतमो यद्राजन्य

३ हिन्दू पालिटी, पृ० २१७

४ शत० ब्रा० ५४४७, अथैन पृष्ठत तूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति दण्डवधमतिनयन्ति तस्मात राजा दण्ड्यो यदेन दण्डवधमतिनयन्ति।

५ का० श्रौत० सू० १५ ७.६, पाप्मान ते पहम्नोति त्वा वधम् न यामिति वा।

६ द्र० यू० एन० घोषाल, हिस्टोरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज, पृ० २६९

समझा जाने लगा था। इस कृत्य को पुरोहित के प्रमुत्व का द्योतक मानना[1] अथवा आदिम परम्परा का अवशेष मानना[2] अनावश्यक कल्पनायें हैं।

इस बढती हुई राजशक्ति का तत्कालीन सामाजिक-व्यवस्था पर प्रबल प्रभाव पडा। राजनैतिक प्रमुत्व के कारण क्षत्रियो के गौरव मे वृद्धि हुई। ऐतरेय ब्राह्मण मे विभिन्न वर्णों तथा राजा के सम्बन्ध का सकेत करते हुए राजा को ब्राह्मण को इच्छानुसार निष्कासित करनेवाला, वैश्य का भक्षक तथा शूद्र का यथाकाम वध करने वाला कहा गया है।[3] विचारणीय है कि इस प्रसग मे राजा का प्रभाव क्षत्रिय वर्ण पर नही दिखालाया गया है क्योंकि वह स्वय क्षत्रियो का ही प्रतिनिधि था। ऐसी स्थिति मे उत्तर वैदिक साहित्य मे क्षत्रियों की सामाजिक श्रेष्ठता का प्रतिपादन सर्वथा स्वाभाविक है। बृहदारण्यक उपनिषद मे कहा गया है कि समाज मे सबसे ऊँचा स्थान क्षत्रीय का है, ब्राह्मण का स्थान उसके नीचे है।[4] इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण मे यह कहा गया है कि राजा जो चाहता है ब्राह्मण को वही करना पडता है।[5] क्षत्रियों की इस वर्धमान प्रभुता तथा समाजिक श्रेष्ठता का विरोध वैश्य और शूद्र तो नही कर सके किन्तु धर्म-प्राण प्रजा के पूज्य धर्माधिकारियों मे इसकी प्रतिक्रिया अवश्य हुई। ब्राह्मणो ने क्षत्रियो की बढती हुई शक्ति के प्रतिरोध का विशेष प्रयास तो नही किया क्योंकि शक्तिशाली राजन्य ब्राह्मण और धर्म दोनो का गोप्ता समझा जाता था[6] किन्तु उन्होने क्षत्रियो के समक्ष अपनी श्रेष्ठता को सुरक्षित रखने का भरपूर प्रयत्न किया। राजसूय के प्रकरण मे देवसुहविषी नामक अनुष्ठान के प्रसग मे पुरोहित एकत्र लोगों से कहता था 'हे मनुष्यो, यह तुम्हारा राजा है। हम ब्राह्मणो का राजा सोम है।[7] शतपथ ब्राह्मण मे इसे स्पष्ट करते हुये कहा

१ वेबर, पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० २ पर उद्धृत
२ आर० एस० शर्मा एस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० १२३
३ ऐत० ब्रा० ७ २९
४ तत्स्मात्क्षत्रात्पर नास्ति तस्माद् ब्राह्मण क्षत्रियमधस्तादुपास्ते, १. ४ १०
५ यदा वै राजा कामयते अथ ब्राह्मण जिजनाति । ३ ९. १४
६ घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३३७
७ सोमोऽस्माक ब्राह्मणाना राजा ।
वाज० स० ९ ४० तै० स० १८, १०, तै० ब्रा० १ ७ ४, आदि

है कि ब्राह्मण को पार्थिव नरेश के प्रभाव क्षेत्र से मुक्त करने का तात्पर्य यह है कि राजा को कर ब्राह्मणोत्तर लोगों से ही लेना चाहिये।[१] उत्तर-वैदिक युगीन ब्राह्मणों की यह मान्यता विरल नहीं है। शतपथ ब्राह्मण (१३ ६ २. १८) में स्पष्ट कहा गया है कि राजा अपनी सम्पूर्ण भूमि पुरोहितो को दान में देता है तब उस दान के अन्तर्गत ब्राह्मण की सम्पत्ति नही आती। वशिष्ठ ने अपने धर्मशास्त्र (१ ४४) में सम्भवत इन्ही वैदिक प्रसगो के आधार पर यह नियम बना डाला कि राजा को ब्राह्मण पर कर नही लगाना चाहिए तथा गौतम धर्मसूत्र मे कहा गया कि राजा का शासन ब्राह्मण वर्ग पर नही चल सकता।[२] शतपथ के निर्देश तथा उत्तर-वैदिक सामाजिक पृष्ठभूमि को देखते हुये यह नही स्वीकार किया जा सकता कि 'राजसूय के अवसर पर पुरोहित द्वारा कहे गये उपर्युक्तवाक्य में राजा को ही सोम (देवता) कहा गया है तथा इस कथन द्वारा राजा की ही श्रेष्ठता व्यक्त की गई है न कि ब्राह्मण की राजसत्ता से मुक्ति'।[३] इतना ही नही ब्राह्मण वर्ग ने अपनी सर्वोच्च सामाजिक स्थिति को सुरक्षित रखने के लिये पर्याप्त मनोवैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करने का प्रयास किया। राजन्य राष्ट्र से प्रभु थे। उनके सम्मुख बिना उनकी सहमति के अपनी श्रेष्ठता को स्थिर रखना कठिन था। इसलिये राजा द्वारा ब्राह्मण के समक्ष अपनी हीनता का प्रदर्शन तथा ब्राह्मण की श्रेष्ठता का स्वीकरण ही राजा और राष्ट्र दोनों के अभ्युदय का कारण बतलाया गया। शतपथ ब्राह्मण मे कहा गया है कि जो राजा ब्राह्मण के प्रति नम्रहोता है वही शत्रु के लिये बलशाली सिद्ध होता है।[४] इसी आशय का एक मन्त्र ऋग्वेद मे भी मिलता है, जिसमें यह कहा गया है कि जो राजा पुरोहित का यथेष्ट सम्मान करता है वह शत्रुओ पर विजय तथा प्रजा से सम्मान प्राप्त करता है। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी राजा का ब्राह्मण के वशीभूत होना राष्ट्र के लिये समृद्धजनक एव श्रेयस्कर कहा गया।[५] राज्याभिषेक के अवसर पर राजा तीन

---

१ शत० ब्रा० ५ ४ २ ३,

२ राजावै सर्वस्येष्टे ब्राह्मणवर्जम्। १. ११

३. हीस्टरमैन—दी ऐन्शयेन्ट इण्डियन रायल कन्साक्रेशन, पृ० ७७-७८
जायसवाल—'हिन्दू राजतन्त्र, खण्ड २, पृ० ५०-५३

४ शत० ब्रा० ५ ४ ४ १५

५. ऐत० ब्रा० ८.९, तद्यत्र वै ब्राह्मण क्षत्र वशमेति तद्राष्ट्र समृद्ध तद्वीरवदाह।

वार ब्राह्मण को नमस्कार करता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जब तक वह ऐसा करता है, तभी तक उसकी समृद्धि होती है।[१] इस युग मे ब्राह्मणों ने कुछ ऐसे भी नियम बनाये जिससे राजनीति में भी उनका प्रवेश अपरिहार्य हो गया। एक तरफ जहां उन्होंने अपनी सामाजिक प्रधानता तथा विशिष्ट स्थिति का प्रतिपादन किया वही अनिवार्य अनुग्रह द्वारा राजाओ को कृतज्ञ तथा नम्र बनाये रखने का व्यावहारिक प्रयास भी किया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह स्थापना मिलती है कि बिना पुरोहित के देवता राजा की बलि स्वीकार नही करते।[२] शतपथ ब्राह्मण मे प्राप्त राजसूय के विवरण से भी स्पष्ट है कि राजा को अपनी स्थिति दृढ करने के लिये समाज के विभिन्न वर्गो के सहयोग की आवश्यकता थी तथा देवताओ की कृपा भी अपेक्षित थी। पुरोहित जनमत को भी राजा के अनुकूल करता था और साथ ही यज्ञो द्वारा राजा को दैवी अनुग्रह का पात्र भी बनाता था। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार जिस राजा के राज्य का गोप्ता ब्राह्मण पुरोहित हो वही अपनी शक्तिसे विजय प्राप्त करता है तथा उसी को विश भी एकमत से स्वीकार करती है।[३] राजनैतिक जीवन मे ब्राह्मणों की यह महत्ता केवल सैद्धान्तिक नहीं थी। व्यावहारिक जीवन मे भी अधिकाशत इसे स्वीकृत किया गया था। शतपथ ब्राह्मण को छोडकर अन्य सभी ग्रन्थो मे रत्नियों की सूची में पुरोहित का ही नाम प्रथम है। राजसूय के अवसर पर यज्ञिय तलवार को क्रमश अनेक उपस्थित लोग धारण करते थे। शुक्ल यजुर्वेद के अनुसार सर्वप्रथम अध्वर्यु ही उसे ग्रहण करता था तथा तत्पश्चात् राजा को देता था। शतपथ ब्राह्मण (४ ४.१५ १६) में इस कृत्य का अभिप्राय बतलाते हुये कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति तलवार को अपने से निम्न स्तर वाले व्यक्ति को देता है। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि उत्तर-वैदिक युग में सामाजिक जीवन की भांति ही राजनैतिक जीवन में भी ब्राह्मण पुरोहित का पर्याप्त प्रभाव था[४] किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं

---

१ ऐत० ब्रा० ८ १, स (नृपः) यन्नमो ब्रह्मणे इति त्रिस्कृत्वो ब्रह्मणे नमस्करोति ब्रह्मण एव तत्क्षत्र वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्ध तद्वीरवदाह।

२ तै० ब्रा० १ ७ १

३ ऐत० ब्रा० ८.२५, यस्यैव विद्वान ब्राह्मणो राष्ट्रगोप पुरोहित तस्मै विश सजानत समुखा एकमनसो।

४ देखिए घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३२२

है कि इस युग में राज्य के ऊपर धर्म का अथवा राजा के समक्ष ब्राह्मण का प्रभाव एक पूर्णत मान्य स्थिति थी। यत्र-तत्र ब्राह्मण ग्रन्थो में ही राजनैतिक महत्व के अवसरों पर पुरोहित का स्थान गौण तथा अन्य पदाधिकारियों का स्थान प्रमुख दिखाई देता है। शतपथ ब्राह्मण रत्नियो की सूची में पुरोहित के पहले सेनानी को स्थान देता है,[१] तथा पचविंश ब्राह्मण में वीरो का उल्लेख करते हुये पुरोहित का नाम राज-भ्राता और राज-पुत्र के बाद रखा गया है। कृष्ण-यजुर्वेद में क्षत्रिय तलवार के क्रमिक हस्तातरण के प्रसग मे शुक्ल यजुर्वेद के विपरीत राजा का नाम प्रथम और पुरोहित से पूर्व है।[२] इससे स्पष्ट है कि वैदिक पुरोहित लेखको के अनुसार भी राज्य पूर्णतया सम्प्रदाय अथवा धर्म द्वारा अनुशासित नहीं था।[३] दूसरे इस युग मे ऐसे शासक भी अज्ञात नही थे जिन्होंने ब्राह्मणो में विरुद्ध आचरण किये। ब्राह्मणो की गाय छीननेवाले राजा के लिए जो भयकर शाप उच्चरित हुए हैं उनके लक्ष्य ऐसे ही राजे रहे होंगे[४] जो धर्मगुरुओ द्वारा राज्य में हस्तक्षेप का विरोध करते थे। ऐसी स्थिति में ही राज्य और धर्म का सघर्ष हुआ होगा। निश्चय ही अपने विशेषाधिकारो का विरोध करनेवाले राजाओ को ब्राह्मणो ने अभिशाप दिया होगा तथा उनके पतन के लिए षड्यन्त्र भी किये होगे। ब्राह्मण ग्रन्थों में ऐसे अनेक उल्लेख है कि ब्राह्मणो के विरोध के कारण राजाओ को राज्य तथा सिंहासन से हाथ धोना पडा। राजा परीक्षित ने ब्राह्मणो के प्रति अनुचित व्यवहार किया जिसके कारण उन्हे राजगद्दी छोडनी पडी। इसी प्रकार दस पीढी से शासनारूढ सृञ्जयों का राज्य नष्ट हो गया। महाभारत में भी ब्राह्मण विरोधी राजाओं के पतन की अनेक कथाये उपलब्ध हैं।[५]

जैसा कि ऊपर भी सकेत किया जा चुका है, उत्तर वैदिक कालीन राजतत्र से समिति जैसी लोकसस्थाओं के लोप के कारण राजसस्था पर बाह्य अकुश का अभाव था। कुछ विद्वानो ने राजसूय के प्रसग में उल्लिखित रत्नियो को समिति का निर्वाचित प्रतिनिधि सिद्ध करने का प्रयास किया

---

१ शत० ब्रा० ५ ३ १
२ पच० ब्रा० १९ १ ४
३ घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०५
४ अथर्ववेद १२ ५, १३.१ १–२५
५ द्र० प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, पृ० ८३

है।[1] किन्तु जैसा कि हम आगे विचार करेंगे, रत्निन केवल राज्य-कर्मचारी थे। प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुये यह नहीं कहा जा सकता कि शासन में महत्वपूर्ण स्थिति रखते हुये भी रत्निन लोग राजशक्ति को मर्यादित करने में समर्थ थे। राजा की प्रभुता सर्वोपरि थी। सम्पूर्ण विश पर उसका प्रभाव था।[2] अपनी स्थिति का लाभ उठा कर कुछ राजे

राजशक्ति की मर्यादा एवं राजा के कर्तव्य

निरकुश और आततायी भी हो जाते थे। वैदिक साहित्य में ऐसे राजाओं की घोर निन्दा की गई है। अथर्ववेद (५.१९.१५) का कथन है कि अधार्मिक राजा के राज्य में वर्षा नहीं होती, और उसे समिति तथा मित्र-वर्ग का सहयोग नहीं प्राप्त होता। शतपथ ब्राह्मण में उस राजा के लिये 'राष्ट्रिय' शब्द का प्रयोग हुआ है जो निरकुशतापूर्वक राष्ट्र के साधनोंका प्रयोग एकमात्र अपने लिये करता है। वहीं पर यह कहा गया है कि जिस प्रकार यव को हरिण खा जाता है उसी प्रकार निरकुश और अत्याचारी राजा प्रजा को खा डालता है। साथ ही, जिस प्रकार शिकारी पुष्ट पशु का वध कर डालता है उसी प्रकार निरकुश राजा प्रजा को नहीं छोड़ता।[3] किन्तु सामान्यत राजा दैवी पुरातन नियमों तथा सामाजिक परम्पराओं के विरुद्ध आचरण नहीं करता था।[4] विधिनियम साक्षात देवदत्त माने जाते थे और यह *अनिवार्य* समझा जाता था कि राजा उनका पालन करे। धर्म से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है अत. धर्म का पालन राजा का नित्य और आवश्यक कर्त्तव्य था।[5] इस धर्म के निरूपक ऋषि थे न कि राजा। आपातत. राजा की शक्ति अनियन्त्रित और अमर्यादित अवश्य थी किन्तु वास्तव में उसका शासन पूर्णतया समाज द्वारा निर्धारित नियमो एवं आदर्शों के अनुरूप होने के कारण पर्याप्त रूप से मर्यादित और लोकमतापेक्षी होता था। जनता के धर्मभीरु होने के कारण राजा समाज द्वारा स्थापित मान्यताओं को नहीं तोड़ सकता था। ससार के सर्वप्रथम राजा वरुण को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ी थी कि श्रुति स्मृतियों में जो धर्म कहा गया है, उसका पूरा पालन करूंगा

---

१ हिन्दू राजतंत्र, भाग २, पृ० ३४
२. अथर्ववेद ४ २२ ७
३ शत० ब्रा० १३ २ ३ ८
४. घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३४६
५ 'तदेतत्क्षत्रस्य क्षत्र यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति.'—बृ० उप० १ ४ १४

और कभी मनमानी नहीं करूंगा।[1] सामाजिक नियम राजा की इच्छा से अधिक महत्वपूर्ण थे। राजा वरुण की भांति धर्मपति समझा जाता था[2] इसका तात्पर्य है कि वरुण की भांति ही राजा द्वारा 'ऋत' की रक्षा की कामना की जाती थी। ऐसी स्थिति में भला राजा स्वयं धर्म की मर्यादाओं का उल्लंघन किस प्रकार कर सकता था। धर्म के विरुद्ध आचरण करने वाले राजाओं के लिये पदभ्रष्ट होने का भय सदैव बना रहता था। इस बात के उदाहरण हम दे चुके हैं कि किस प्रकार धर्माधिकारियों के विरोध के कारण अनेक राजाओं एवं राजवंशों को राज्य च्युत होना पड़ा। शतपथ ब्राह्मण (५ ४ ३ २१) में स्पष्ट कहा गया है कि राजा शक्तिशाली होते हुए भी पृथ्वी से भय खाता है कि कहीं पृथ्वी उसे पद-भ्रष्ट न कर दे। इसीलिये राजा पृथ्वी अर्थात् राष्ट्र के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हुये कहता था 'पृथ्वी तू मेरी माता है। न तू मेरी हत्या कर और न मैं तुम्हारी हत्या करूं'।[3] इस प्रसंग में राज्यारोहण के समय राजा द्वारा की गई एक प्रतिज्ञा विशेष महत्वपूर्ण है। राजा श्रद्धासहित यह प्रतिज्ञा करता था कि 'जिस रात्रि में मैं पैदा हुआ हूं तथा जिस रात्रि में मैं मरूंगा, इन दोनों के बीच जितने भी यज्ञ व अनुष्ठान मैंने किये हैं, उनसे तथा स्वर्ग लोक और अपनी सन्तान से वंचित हो जाऊं, यदि तुमसे द्रोह करूं।[4] वेबर महोदय ने तथा श्री घोषाल ने यह मत प्रतिपादित किया है कि इस प्रसंग में राजा जो प्रतिज्ञा करता था वह ब्राह्मण पुरोहित के प्रति होती थी।[5] उनके अनुसार इससे केवल ब्राह्मणों की उस अहम्मन्यता का बोध होता है जिसके द्वारा वे राजा को अपने प्रति विनीत बनाने की कोशिश करते थे। किन्तु राजसूय के अवसर पर समाज के विविध वर्गों के लोग उपस्थित रहते थे। उन सबके प्रति राजा का उत्तरदायित्व था। राज्य उसे पुरोहित अकेला नहीं प्रदान करता था। ऐसी स्थितिमें राजसूय जैसे सार्वजनिक महत्व के अवसर पर राजा द्वारा केवल पुरोहित के प्रति अपनी श्रद्धा और कर्त्तव्यपरायणता दिखलाना सर्वथा अस्वाभाविक और विचित्र

१ महाभारत १२ ४९ ११६
२ शत० ब्रा० ५ ३ ३-६ और ९
३. पृथिवि मातर्मा हिंसीर्मा हत्वाम् इति।—शत० ब्रा० ५ ४ ३ २०
४ ऐत० ब्रा० ८ ३ १५, या च रात्रिमजायेऽहं या च प्रेतास्मि तदुभयमन्तरेण इष्टापूर्तं मे लोक सुकृतमायु प्रजां वृञ्जीया यदि ते द्रुह्येयामिति।
५. वेबर, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३३० पर उद्धृत

लगता है। जायसवाल तथा रमेशचन्द्र मजुमदार का यह मत अधिक ऐतिहासिक और ग्राह्य प्रतीत होता है कि राजा पुरोहित के माध्यम से सम्पूर्ण जनता के प्रति अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के सूचनार्थ इस प्रतिज्ञा को दुहराता था।[१] प्राचीन जातियो मे प्रजा के प्रति राजा की इस प्रकार की प्रतिज्ञा अन्य देशो मे भी मिलती है। मैक्सिको लोगो मे राजा सिंहासनारोहण के समय यह प्रतिज्ञा करता था कि उसके राज्य-काल में सूर्य में प्रकाश, बादलों मे जल, नदियो मे प्रवाह और धरती में उर्वरा शक्ति की प्रचुरता रहेगी।[२] इस प्रतिज्ञा में प्रजा और राष्ट्र दोनो के प्रति राजा की निष्ठा प्रकट होती है। साथ ही इस बात का भी सकेत मिलता है कि राजा किस प्रकार अपने कर्त्तव्य के बन्धन मे बधा होता था। कर्त्तव्यपरायणता स्वय राजा की निरकुशता को मर्यादित करने में काफी हद तक समर्थ थी। राजा की कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण ही अथर्ववेद मे उसे राष्ट्र-भृत्य माना गया है।[३] एक प्राचीन धर्मसूत्र लेखक के अनुसार राजा वास्तव मे प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठा भाग उसे वेतन के रूप में दिया जाता है।[४]

जब हम राजा के प्रमुख कर्त्तव्यो एव उत्तरदायित्वो पर विचार करते हैं तो स्वभावत राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध मे भी वैदिक दृष्टिकोण का अनुमान इस प्रसग में होता है।

राजा के कर्तव्य

राजा का प्रमुख कर्त्तव्य युद्ध काल में शत्रुओं से रक्षा और शान्तिकाल में प्रजापालन था।[५] स्वहित चिंतन की प्रधानता के कारण पुरोहितों ने खासतौर पर राजा को 'ब्राह्मणो का गोप्ता' ही कहा। धर्मसूत्रकारो ने राजा के सुरक्षा कार्य को विशेष महत्व प्रदान करते हुये कहा है कि राजा का कर्त्तव्य प्रजा का संरक्षण है जिसके लिये उसे प्रजा की आय का छठा भाग वेतन के रूप मे मिलता है।[६] किन्तु राजा का कार्य क्षेत्र यहीं तक सीमित नही था। राजा वरुण की भांति धृत-व्रत,

---

१ जायसवाल—हिन्दू राजतत्र, भाग २,
 मजुमदार—ऐन्शयेन्ट इण्डिया, पृ० ७६
२ फ्रेजर—गोल्डेन बाऊ, पृ० ८७
३ अथर्व० १९ ३७ ३
४. बौ० धर्म० सू० १ १०.
५. ऋ० ३ ४३ ५ गोपा जनस्य
६. बौधायन १.१०.६

नियम और व्यवस्था का संरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक और दुष्टों को दंड देने वाला समझा जाता था।[1] धर्म का सम्वर्धन, सदाचार को प्रोत्साहन तथा ज्ञान का संरक्षण प्रत्येक राज्य के लिये गौरव का विषय था।[2] राज्य और राजा की स्थिति का उद्देश्य प्रजा का सर्वांगीण विकास ही समझा जाता था। अथर्ववेद (१६.८ १-२) का कथन इस बात की पुष्टि करता है। इन मंत्रों में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि इस योग्य पुरुष को चुनने से हमारी विजय होगी, हमारी उन्नति होगी, हमारा आरोग्य बढ़ेगा, हमारा तेज, हमारा ज्ञान और हमारा आत्मिक बल बढ़ेगा, हमारा यज्ञ सफल होगा, हमारे पशु पुष्ट होंगे, हमारी सन्तति ठीक होगी और शूर-वीर पुरुष हमारे पास रहेंगे। राजा का वरुण की भांति धर्मपति होना राजा के न्याय सम्बन्धी अधिकारों का भी संकेत करता है। न्याय-कार्य से वरुण का सम्बन्ध ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे उल्लिखित उनके गुप्तचरों (स्पश) से प्रकट होता है। वरुण के गुणो एवं विशेषणो का राजा पर आरोप इस बात की पुष्टि करता है कि उत्तरवैदिक युग तक राजा का न्याय सम्बन्धी अधिकार भी पर्याप्त विस्तृत हो चुका था।[3] वैदिक शासक प्रजा की भौतिक उन्नति के प्रति भी सजग और सचेष्ट रहता था। राजसूय के अवसर पर जब प्रथम बार राजा सिंहासन पर बैठता था तब पुरोहित उससे कहता था कि कृषि कर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिये और पोषण के लिये यह राज्य तुम्हें दिया जाता है।[4] इससे स्पष्ट है कि प्रजा की समृद्धि और सुख में सम्वर्धन राजा का प्रमुख कर्तव्य था। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण (५ २ १ २५) के अनुसार राजा के सिंहासनारोहण का प्रमुख उद्देश्य जनकल्याण ही है। इस प्रसंग में हमे जनकल्याणकारी राज्य को जन्म देनेवाली धारणाओं का बीज दिखाई देता है। अथर्ववेद (२० ११७ ६ १०) में परीक्षित के सफल शासन में प्रजा के सुख-समृद्धि का उल्लेख है। इसी ग्रंथ (३ ४ ४) में यह आशा प्रकट की गई है कि राजा वैभव की वृद्धि करेगा तथा प्रजा में समान रूप से उसका

---

१ शत० ब्रा० ५ ३ ३.६ और ६

२. छान्दोग्य ५ ११.५, न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निर्वा विद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुत।

३ घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३१८-१६
काठक सं० २८.४, तस्माद्राजन्येनाध्यक्षेण वैश्यं घ्नन्ति।

४ शत० ब्रा० ५ २ १ २५ कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।

लगता है। जायसवाल तथा रमेशचन्द्र मजुमदार का यह मत अधिक ऐतिहासिक और ग्राह्य प्रतीत होता है कि राजा पुरोहित के माध्यम से सम्पूर्ण जनता के प्रति अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा के सूचनार्थ इस प्रतिज्ञा को दुहराता था।[१] प्राचीन जातियो मे प्रजा के प्रति राजा की इस प्रकार की प्रतिज्ञा अन्य देशो में भी मिलती है। मैक्सिको लोगो मे राजा सिंहासनारोहण के समय यह प्रतिज्ञा करता था कि उसके राज्य-काल में सूर्य मे प्रकाश, बादलों में जल, नदियो में प्रवाह और धरती मे उर्वरा शक्ति की प्रचुरता रहेगी।[२] इस प्रतिज्ञा मे प्रजा और राष्ट्र दोनो के प्रति राजा की निष्ठा प्रकट होती है। साथ ही इस बात का भी सकेत मिलता है कि राजा किस प्रकार अपने कर्त्तव्य के बन्धन में बधा होता था। कर्त्तव्यपरायणता स्वय राजा की निरकुशता को मर्यादित करने में काफी हद तक समर्थ थी। राजा की कर्त्तव्यनिष्ठा के कारण ही अथर्ववेद मे उसे राष्ट्र-भृत्य माना गया है।[३] एक प्राचीन धर्मसूत्र लेखक के अनुसार राजा वास्तव मे प्रजा का सेवक है और प्रजा की आय का छठा भाग उसे वेतन के रूप मे दिया जाता है।[४]

जब हम राजा के प्रमुख कर्त्तव्यो एव उत्तरदायित्वो पर विचार करते हैं तो स्वभावत राज्य के उद्देश्य के सम्बन्ध मे भी वैदिक दृष्टिकोण का अनुमान इस प्रसग मे होता है। राजा का प्रमुख कर्त्तव्य युद्ध काल में शत्रुओं से रक्षा और शान्तिकाल में प्रजापालन था।[५] स्वहित चितन की प्रधानता के कारण पुरोहितों ने खासतौर पर राजा को 'ब्राह्मणो का गोप्ता' ही रहा। धर्मसूत्रकारो ने राजा के सुरक्षा कार्य को विशेष महत्व प्रदान करते हुये कहा है कि राजा का कर्त्तव्य प्रजा का संरक्षण है जिसके लिये उसे प्रजा की आय का छठा भाग वेतन के रूप में मिलता है।[६] किन्तु राजा का कार्य क्षेत्र यही तक सीमित नही था। राजा वरुण की भाँति धृत-व्रत,

राजा के कर्त्तव्य

---

१ जायसवाल—हिन्दू राजतन्त्र, भाग २,
मजुमदार—ऐन्शयेन्ट इण्डिया, पृ० ७६
२ फ्रेजर—गोल्डेन वाऊ, पृ० ८७
३ अथर्व० १६ ३७ ३
४. बौ० धर्म० सू० १.१०.
५. ऋ० ३ ४३ ५ गोपा जनस्य
६. बौधायन १.१० ६

नियम और व्यवस्था का सरक्षक, साधुओं का प्रतिपालक और दुष्टों को दड देने वाला समझा जाता था।[1] धर्म का सम्वर्धन, सदाचार को प्रोत्साहन तथा ज्ञान का सरक्षण प्रत्येक राज्य के लिये गौरव का विषय था।[2] राज्य और राजा की स्थिति का उद्देश्य प्रजा का सर्वांगीण विकास ही समझा जाता था। अथर्ववेद (१६.८ १–२) का कथन इस बात की पुष्टि करता है। इन मन्त्रों में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि इस योग्य पुरुष को चुनने से हमारी विजय होगी, हमारी उन्नति होगी, हमारा आरोग्य बढेगा, हमारा तेज, हमारा ज्ञान और हमारा आत्मिक बल बढेगा, हमारा यज्ञ सफल होगा, हमारे पशु पुष्ट होगे, हमारी सन्तति ठीक होगी और शूर-वीर पुरुष हमारे पास रहेगे। राजा का वरुण की भाति धर्मपति होना राजा के न्याय सम्बन्धी अधिकारों का भी सकेत करता है। न्याय-कार्य से वरुण का सम्बन्ध ऋग्वेद तथा अथर्ववेद मे उल्लिखित उनके गुप्तचरो (स्पश) से प्रकट होता है। वरुण के गुणों एव विशेषणो का राजा पर आरोप इस बात की पुष्टि करता है कि उत्तरवैदिक युग तक राजा का न्याय सम्बन्धी अधिकार भी पर्याप्त विस्तृत हो चुका था।[3] वैदिक शासक प्रजा की भौतिक उन्नति के प्रति भी सजग और सचेष्ट रहता था। राजसूय के अवसर पर जब प्रथम बार राजा सिंहासन पर बैठता था तब पुरोहित उससे कहता था कि कृषि कर्म के लिए, कल्याण के लिए, समृद्धि के लिये और पोषण के लिये यह राज्य तुम्हे दिया जाता है।[4] इससे स्पष्ट है कि प्रजा की समृद्धि और सुख में सम्वर्धन राजा का प्रमुख कर्त्तव्य था। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मण (५ २ १ २५) के अनुसार राजा के सिंहासनारोहण का प्रमुख उद्देश्य जनकल्याण ही है। इस प्रसग मे हमे जनकल्याणकारी राज्य की जन्म देनेवाली धारणाओं का बीज दिखाई देता है। अथर्ववेद (२० ११७ ६ १०) में परीक्षित के सफल शासन में प्रजा के सुख-समृद्धि का उल्लेख है। इसी ग्रंथ (३ ४ ४) में यह आशा प्रकट की गई है कि राजा वैभव की वृद्धि करेगा तथा प्रजा में समान रूप से उसका

---

१ शत० ब्रा० ५ ३ ३.६ और ६

२. छान्दोग्य ५ ११-५, न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो
नानाहिताग्निर्वा विद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुत।

३ घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३१८–१६
काठक स० २८.४, तस्माद्राजन्येनाध्यक्षेण वैश्य घ्नन्ति।

४ शत० ब्रा० ५ २ १ २५ कृष्यै त्वाक्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषायत्वा।

वितरण करेगा। सौभाग्य से उत्तर-वैदिक युग धर्मपरायण, विद्वान एवं दार्शनिक राजाओं का युग था जिनकी कर्तव्यनिष्ठा एवं जनकल्याण की भावना में सन्देह नहीं किया जा सकता।

धर्मप्रधान होने के कारण वैदिक वाङ्मय से राज्यों की तत्कालीन आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त होता।

राजकीय आय

राज्यों के विकास की प्रारम्भिक अवस्था में राजकीय आय के साधन अत्यन्त सीमित थे। लोग स्वेच्छापूर्वक जो बलि राजा को उपहारस्वरूप देते थे वही उसे कर के रूप में प्राप्त होता था।[1] ऐसी स्थिति में राजा को अपने कर्मचारियों तथा अनुयायियों का भरण-पोषण अपनी ही भूमि, चरागाहों और गोधन से प्राप्त होने वाली आय से करना पड़ता था। युद्ध में पराजित शत्रुओं की सम्पत्ति अवश्य कभी कभी राजा की आय में वृद्धि का कारण बनती थी। राज्य-भ्रष्ट राजा के पुनः राज्य प्राप्ति के समय प्रार्थना की जाती थी कि इन्द्र उसे प्रजा से बलि प्राप्त करने में सहायता दें[2] तथा उसे प्रजा से प्रचुर उपहार और बलि प्राप्त हो।[3] किन्तु ब्राह्मण साहित्य में राजा द्वारा प्रजा से कर लेने के अधिकार को पूर्ण मान्यता प्रदान की गई। इस युग तक ऐच्छिक बलि का स्थान नियमित भाग ने ले लिया। राज्य के द्वारा नियुक्त भाग धुक नामक अधिकारी राजकीय कर की वसूली करता था। राज्याभिषेक के प्रसंग में राजा को 'विशामत्ता' कहा गया है इससे भी यह सिद्ध होता है कि राजा नियमित रूप से प्रजा से कर लेने लगा था। इस युग में कर का अधिकांश बोझ वैश्यों पर ही था। अनेक स्थलों पर उनका वर्णन विशेष रूप से करदाताओं के रूप में हुआ है।[4] उत्तर-वैदिक युग में पुरोहित वर्ग राज-कर से मुक्ति की दावा करने लगा था। सम्भव है राज्य ने भी पुरोहितों के प्रभाव के कारण इसे स्वीकार किया हो। क्षत्रिय स्वयं शासक वर्ग के थे। शूद्रों के पास विशेष सम्पत्ति नहीं थी। ऐसी स्थिति में वैश्यों पर ही कर का विशेष भार होना सर्वथा स्वाभाविक था।

---

१. द्र० ऐस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूसन्स, पृ० १०९
२. अथ ते इन्द्रः केवली प्रजा बलितहृतस्करत। ऋ० १०. १७३ ६
३. अथर्ववेद ३ ४ ३
४. 'अन्यस्य बलिकृति,' ऐत० ब्रा० ७ २९, शत० ब्रा० १२ २ ६, १४

हापकिन्स ने 'विशामत्ता' शब्द के आधार पर यह मत प्रतिपादित किया है कि वैदिक काल में कर बहुत कठोर थे। किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थो मे अत्ता शब्द का प्रयोग भोक्ता शब्द के ही अर्थ में हुआ है। यथा एक स्थान पर पति को अत्ता और पत्नी को आद्य कहा गया है।[१] वैदिक इण्डेक्स के अनुसार इस उक्ति का सूत्र उस पुरानी प्रथा मे है जिसमे राजा और उसके कर्मचारियों का पोषण प्रजा के उपहारो से चलता था जिसके अनेक उदाहरण अन्य देशो के इतिहास मे भी पाये जाते हैं।[२] सम्भव है कि राज्याभिषेक के अवसर पर राजा की महत्ता के सूचनार्थ विशामत्ता शब्द का लाक्षणिक प्रयोग हुआ हो। फिर भी इतना अवश्य है कि कर का भार मुख्यत वैश्यो पर था। कुछ अत्याचारी राजा ऐसे भी रहे होगे जो अपनी शक्ति का दुरुपयोग करके जनता का शोषण करते हो। यह बात शतपथ ब्राह्मण (१३ २ ३ ८) से स्पष्ट है। इस प्रसग में यह कहा गया है कि जिस प्रकार शिकारी पुष्ट पशु का वध कर देता है उसी प्रकार निरंकुश राजा-प्रजा को नही छोडता। किन्तु निश्चय ही यह सामान्य स्थिति का उल्लेख नही है।

इस युग में भागघुक और समाहर्ता नाम के कर्मचारी सम्भवत कर विभाग से ही सम्बन्धित थे। सम्भवत भागघुक (राजा का भाग वसूलने वाला) का काम अन्न एवं अन्य उत्पादित सामग्रियो में से राजा का राजकीय भाग एकत्र करना था, तथा दूसरे का काम इन्हें भण्डारो और कोषो में सुरक्षित करना था।[३] राज्य की आय के प्रमुख स्रोत कृषि और पशु पालन थे। कृषक राजा को फसल का एक भाग दिया करते थे जिसका परिमाण वैदिक साहित्य में नहीं बतालाया गया है। सम्भव है धर्मसूत्र काल की भांति ही इस काल में भी राजा उत्पादित वस्तु के छठे भाग का अधिकारी रहा हो। उस युग में पशु-धन का विशेष महत्व था। पशुपालक लोग कर में गाय, बैल और घोडे दिया करते थे।[४] राज्य इन सबके एक निश्चित अंश का ही अधिकारी था। वैदिक काल मे वाणिज्य और व्यवसाय अभी विकास की प्रारम्भिक स्थिति में थे इसलिये इस स्रोत से विशेष आय बहुत अधिक नही रही होगी।

१ शत० ब्रा० १ २ ३ ६
२ वैदिक इण्डेक्स २, ६२
३ इस विषय पर आगे रत्नियों के प्रसग में विचार किया गया है।
४ अथर्ववेद ४ २२ २ एम भज ग्रामे अश्वेषु गोषु।

उत्तर-वैदिक युग तक शासन मे राजा की सहायता के हेतु राजपरिषद का विकास सम्भवत हो चुका था। इस परिषद के सदस्यो का स्वरूप अनुवर्ती युगो के मन्त्रियो तथा उच्चाधिकारियो के समान रहा होगा। अथर्ववेद के एक मंत्र में यम के सभासदो के राजसी पद का उल्लेख है जिन्हें यम को प्राप्त होने वाले यज्ञ के १६ वें भाग का अधिकारी कहा गया है।[1] इससे प्रतीत होता है कि मृत्युलोक के राजा के भी सभासद होते थे, जिन्हे राजकीय आय का एक निश्चित भाग प्राप्त होता था। सम्भव है इन सभासदो के माध्यम से ही मन्त्रिमण्डल और राजकर्मचारियो का सकेत हो। इससे अधिक स्पष्ट वर्णन यजुर्वेद की सहिताओ एव ब्राह्मणो मे रत्नियो का मिलता है, जो राज-परिषद के सदस्य प्रतीत होते हैं। शासन के सचालन में इनका महत्वपूर्ण योग रत्नी-सूची के अन्तर्गत परिगणित नामो से ही स्पष्ट है। राजसूय के अवसर पर राजा स्वय रत्न-हवि के माध्यम से विभिन्न रत्नियो के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करता था।[2] यद्यपि घोषाल महोदय ने यह आक्षेप किया है कि ये हविया रत्नियों को न देकर निश्चित देवताओ को दी जाती थीं[3] किन्तु इससे रत्नियो का महत्व नही घटता क्योकि इस विशिष्ट कार्य के लिये रत्नियो के ही घर पर उपस्थित होना पडता था। इसके अतिरिक्त मैत्रायणी संहिता मे रत्नियो को राजशक्ति का अनिवार्य अग कहा गया है जिनकी तेजस्विता से सम्पूर्ण राष्ट्र तेजस्वी होता है।[4] तैत्तिरीय ब्राह्मण (१.७ ३ १) मे रत्नियो को राष्ट्र को प्रदान करने वाला और धारण करने वाला कहा गया है।[5] राजसूय के अवसर पर राजा-प्रत्येक रत्नी से यह कहता था कि वह निश्चित रूप से राजा का एक रत्न है तथा उसी के लिये राजा का अभिषेक होता है।[6] राजसूय के इस कृत्य का

राजकर्मचारी

---

१. अथर्ववेद ३ २९.१, यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासद ।

२ हिन्दू राजतंत्र, भाग २, पृ० २६

३ स्टडीज् इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०४

४. म० स ८.३ ४

५ तै० ब्रा० १ ७ ३ १,

६. शत० ब्रा० ५.३ १ १—१२

लक्ष्य राजा के लिये जनता के इन महत्वपूर्ण व्यक्तियों की स्वामिभक्ति (उपजीव्यता) प्राप्त करना बतलाया गया है।[1]

दुर्भाग्यवश इन रत्नियों की सख्या की जो सूची विभिन्न ग्रन्थो से प्राप्त होती है उसमे कुछ अन्तर है। इन विभिन्न सहिताओ और ब्राह्मणो में मिलने वाली सख्या की सूची घोषाल तथा शर्मा महोदय ने अपने ग्रथो में उद्धृत की है। जायसवाल ने केवल ग्यारह रत्नियो की गणना की है।[2] तैत्तिरीय सहिता मे रत्नियो की सख्या ग्यारह अवश्य बतलाई गई है किन्तु मैत्रायणी सहिता मे चौदह, काठक-सहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण मे बारह रत्नियों का उल्लेख है।[3] विचित्र बात तो यह है कि 'द्वादश-मडल' की परम्परा अन्य भारोपीय जातियो मे भी पाई जाती है।[4] कुछ भारोपीय देवताओं के भी द्वादश मडल का उल्लेख मिलता है।[5] इसके आधार पर चाद्विक महोदय ने 'द्वादश मण्डल' को आर्य जाति की एक अत्यन्त प्राचीन सस्था माना है जिसकी परम्परा आर्यों के विविध शाखाओ मे बिखर जाने के बाद भी जीवित रही।[6] असम्भव नहीं है कि वैदिक राज्य में रत्नी मण्डल की १२ अथवा ११ की सख्या इस प्राचीन परम्परा से परम्परागत और परोक्ष रूप से प्रभावित होने के कारण ही हो। साधारणतया यह कहा जा सकता है कि रत्नियो की सूची मे राजा के सम्बन्धी, मन्त्री, विभागों के अध्यक्ष एवं अन्य राजकर्मचारी सम्मिलित थे। रत्नी-सूची के तक्षन और रथकार का नाम केवल मैत्रायणी सहिता में ही मिलता है। सम्भवत: इन्ही दो नामों के कारण मैत्रायणी सहिता की सूची भी अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कुछ असामान्य हो गई हैं। प्रारम्भ मे ये दोनो व्यवसाय बहुत ही महत्वपूर्ण अतएव आदरणीय समझे जाते थे। आदिम समाज में कारीगरो की सामाजिक स्थिति प्राय सर्वत्र उच्च थी।[7] अथर्ववेद में उन्हें राजा का सहायक बनने के लिए

---

१ मैं० स० ४ ३ ८, इमामेवैन प्रजाम्य उपजीवनीय करोति।
२ हिन्दू पालिटी, पृ० २००
३ मैत्रा० स० ११ ६ ५, का० स० १५ ४, तै० ब्रा० १ ७ ३
४ चादविक—हिरोइक एज, पृ० ३७०
५ वही
६ चादविक, हिरोइक एज, पृ० ३७०
७ अलेक्जेण्डर गोल्डेनवेजर, एन्थ्रोपोलोजी, पृ० ३८६

प्रार्थना की गई है।[1] उत्तर-वैदिक साहित्य मे कालक्रम की दृष्टि से मैत्रायणी सहिता की प्राचीनता भी स्वीकृत है। इससे यह प्रतीत होता है कि प्रारभ मे तक्षन और रथकार अपनी व्यावसायिक विशिष्टता के कारण रत्नी वर्ग के सदस्य थे किन्तु बाद मे जैसे-जैसे व्यावसायिक जीवन मे अनार्यो के प्रवेश के कारण उद्योगधधो के प्रति हीन भाव उत्पन्न होता गया वैसे ही रथकार और तक्षन जैसे व्यवसायियो का सामाजिक और राजनैतिक महत्व भी घटता गया। धर्मसूत्रो मे रथकार को वर्णसंकर (Mixed caste) कहा गया है तथा बौद्ध साहित्य मे उनके व्यवसाय को 'हीन शिप्पम्' के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। दूसरे, बाद के अन्य ग्रथों मे प्राप्त सूचियो में केवल उन्ही लोगो को स्थान दिया गया है जो शासन की दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण थे। इन्ही कारणो से मैत्रायणी सहिता को छोड कर अन्य चार ग्रन्थो मे तक्षन और रथकार का समावेश रत्नी सूची के अन्तर्गत नही किया गया है।

ब्राह्मण अथवा पुरोहित शतपथ ब्राह्मण को छोड कर अन्य सभी ग्रन्थो से प्राप्त रत्नी सूची मे अपना प्रथम स्थान रखता है। इससे शासन-तन्त्र में उसका प्रबल प्रभाव प्रकट होता है। पुरोहित राजा का परामर्शदाता था तथा साथ ही वह यज्ञो और अनुष्ठानों द्वारा राजा को दैवी कृपा का पात्र बनाता था। ऐतरेय ब्राह्मण (८ २४-२८) में उसे राष्ट्रगोप कहा गया है जिससे उसके राजनैतिक महत्व का बोध होता है। रत्नी-सूची के ब्राह्मण अथवा पुरोहित को ब्राह्मण वर्ग का प्रतिनिधि मानना[2] एक पूर्वाग्रह जन्य कल्पना है। वस्तुत राजनैतिक जीवन मे पुरोहित का अस्तित्व एव महत्व शासन कार्य मे धार्मिक एवं बौद्धिक सहयोग के कारण था न कि किसी सामाजिक वर्ग का प्रतिनिधि होने के कारण। इसी प्रकार यह मत भी नही स्वीकार किया जा सकता कि ब्राह्मण वर्ग अनार्य पुरोहितो का था[3] जिन्हे राजनैतिक जीवन मे प्रधानता और श्रेष्ठता प्रदान करके नवागन्तुक विजेताओ ने बहुत बडी सहनशीलता का परिचय दिया।[4] जैसा कि हमने पहले ही स्वीकार किया है, समानधर्मी होने से ब्राह्मण वर्ण मे अनार्य पुरोहितो का

---

१ अथर्ववेद ३.५ ६
२. हिन्दू पालिटी, पृ० २०४
३ पार्जीटर—ऐन्शयेन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, पृ० ३०६
कोशाम्बी-एन इण्ट्रोडक्शन टु दी स्टडी आफ इण्डियन हिस्ट्री, पृ० ९७-९८
४ एस्पेक्ट्स आव पालिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० १०५

प्रवेश असम्भाव्य नहीं है, किन्तु ब्राह्मणो को सामान्यतया अनार्य पुरोहितो का वर्ग मानना अतिशयोक्ति की पराकाष्ठा होगी। वैदिक आर्यों के हृदय मे स्थानीय अनार्यो के प्रति सहिष्णुता और सहनशीलता का भाव नाम मात्र को ही था। यह बात शूद्रों के प्रति वैदिक समाज के दृष्टिकोण से स्पष्ट है।[१] शूद्रों के अन्दर अनार्यत्व की प्रधानता सर्वथा अप्रत्याख्येय है।[२] रत्नी सूची के पुरोहित के विषय मे एक विशेष महत्वपूर्ण बात यह है कि शतपथ ब्राह्मण में उसका स्थान सेनानी के पश्चात् है तथा पचविंश ब्राह्मण के वीरों की सूची में उसका नाम राजभ्राता और राजपुत्र के पश्चात् है।[३] इससे प्रकट होता है कि उत्तर वैदिक युग मे ही काल क्रम से शासन-तन्त्र मे पुरोहितो और धर्माधिकारियों का प्रभाव घट रहा था।

तैत्तिरीय सहिता, मैत्रायणी सहिता, काठक सहिता और तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'राजन्य' को दूसरा स्थान दिया गया है। शतपथ ब्राह्मण मे उसे सेनानी और पुरोहित के पश्चात् रखा गया है। काठक सहिता में राजन्य के स्थान पर राजा और शतपथ ब्राह्मण मे यजमान का उल्लेख है। इससे यह प्रतीत होता है कि तीसरा रत्नी जिसे राजन्य भी कहा गया है राजा स्वय होता था। राजा के यहा इन्द्र देवता को हवि दी जाती थी। इन्द्र को उत्तर-वैदिक साहित्य मे देवताओ का राजा स्वीकार किया गया है।[४] इस बात को स्वीकार करने के लिये प्रमाणो का अभाव है कि राजन्य क्षत्रिय वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था।

शतपथ ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य सभी ग्रन्थो की सूची मे महिषी का नाम तीसरा है। महिषी शब्द, जिसका तात्पर्य राजा की प्रधान रानी से है, राजाओ की बहुपत्नीकता की पुष्टि करता है। इससे यह भी प्रकट होता है कि वैदिक काल में रानी की हैसियत राजा की पत्नी की ही नहीं थी बल्कि शासन-व्यवस्था में भी उसका महत्वपूर्ण स्थान था।[५] जायसवाल

१ ऐत० ब्रा० ७ २९, यथाकाम वध्य।

२ वैदिक इण्डेक्स, वाल्यूम २, पृ० ३८८-८९, कैम्ब्रिज हिस्ट्री, ब्रा० १, पृ० ८६,१२८-९

३ शत० ब्रा० ५ ३ १ पचविंश ब्रा० १९, १ ४

४. अथर्व० ४ ६. ११, ६. ९८ १, तै० स० २ २. ११ ६, तै० ब्रा० २ २ १०

५ घोषाल—स्टडीज् इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०६

महोदय महिषी के इस महत्व का कारण राजा द्वारा धार्मिक अनुष्ठानों के सम्पादन मे पत्नी के सहयोगकी आवश्यकता को मानते हैं।[1] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ही अपत्नीक व्यक्ति-यज्ञ-कर्म का अधिकारी नही होता।[2] ऐसी स्थिति मे राजसूय के अवसर पर पत्नी की उपस्थिति निश्चय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण रही होगी। किन्तु रत्नी-सूची में महिषी की महत्वपूर्ण स्थिति उसके शासन-सम्बन्धी उत्तरदायित्वो की ओर भी सकेत करती है, क्योंकि रत्नी सूची के सभी सदस्य प्राय राजनैनिक एवं प्रशासकीय महत्व के व्यक्ति हैं। महिषी के यहा, माता की भाति भरण-पोषण करने वाली अदिति को हवि प्रदान की जाती थी[3] जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि महिषी की स्थिति सर्वसाधारण के लिये राजमाता की थी जो न केवल पारिवारिक जीवन मे राजा की पत्नी होती थी बल्कि राष्ट्रीय जीवन मे राजा के साथ प्रजा पालन के गुरुतर उत्तरदायित्व का वहन करती थी। महिषी के अतिरिक्त रत्नी-सूची मे वावाता और परिवृत्ति का उल्लेख उत्तर-वैदिक राजनैतिक जीवन मे मातृसत्तात्मक परम्पराओंके अवशिष्ट प्रभाव का संकेत करता है।[4] वावाता के नाम का उल्लेख केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण मे हुआ है किन्तु परिवृत्ति का नाम शतपथ को छोड कर शेष चारो ग्रन्थों मे हुआ है। तीन ग्रन्थ परिवृत्ति को चौथा स्थान देते हैं। केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण मे वावाता मे समावेश के कारण उसे पाचवा स्थान मिला है। राजा की इन दोनो पत्नियो के राजनैतिक महत्व का कारण प्राय अज्ञात है। सम्भव है कि इन राजपत्नियो को सम्मानित करने के लिये तथा इन्हें विरोध का अवसर न प्रदान करने के लिये ही रत्नी-वर्ग का सदस्य माना गया हो।[5] कुछ भी हो, महिषी, वावाता और परिवृत्ति का रत्नी-वर्ग का सदस्य होना इस बात का प्रबल प्रमाण है कि उत्तर-वैदिक समाज मे स्त्रियो की दशा इतनी उच्च थी कि राजनैतिक कार्यों में भी सहयोग करती थीं। सम्भव है कि सामान्य स्त्रिया राजनैतिक जीवन से अलग रही हों जैसा कि मैत्रायणी

---

१. हिन्दू पालिटी, पृ० २०१

२ शत० ब्रा० ५ १. ६, १०,

३ शत० ब्रा० ५. ३ १. ४

४. रामशरन शर्मा—पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० १०६

५. वही, पृ० १०६

संहिता में स्त्रियों के सभा गमन के विरोध से प्रकट होता है।[१] किन्तु इसके विपरीत पंचविंश ब्राह्मण में वीरों की सूची में महिषी की गणना तथा राजपत्नियों की रत्नी-मण्डल की सदस्यता इस बात को प्रमाणित करती है कि स्त्रियां नियमत राजनैतिक जीवन से पृथक् नहीं थी।

तैत्तिरीय संहिता, मैत्रायणी संहिता, और काठक संहिता के अनुसार सेनानी का स्थान रत्नियों में पाचवा है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे इसे छठवा और शतपथ ब्राह्मण मे प्रथम स्थान दिया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजाओ की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति के विकास के कारण ब्राह्मण युग के अन्त तक सेनानी का पद काफी महत्वपूर्ण हो गया था। अधिकाश ग्रथो में इसके पाचवें स्थान के कारण तथा पंचविंश ब्राह्मण के वीरों की सूची में इसके अनुल्लेख के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि शासन विभाग की तुलना मे सेना विभाग का महत्व कम था।[२] सायण का यह मत कि सेनानी शूद्र होता था, पूर्णत कल्पनाप्रसूत प्रतीत होता है क्योंकि सेनानी के घर पर पवित्र वैदिक देवता अग्नि को हवि प्रदान किया जाता था। सेनानी अग्नि देवता का पार्थिव प्रतिनिधि प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य मे अग्नि का उल्लेख सेना के अग्रणी नेता के रूप मे भी हुआ है।[३] सेनानी का कार्य भी युद्धो मे सेना का नेतृत्व करना ही था।

उपर्युक्त पांच रत्नियों के अतिरिक्त सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ संग्रहीतृ, भागधुक, और अक्षावाप का नाम सभी सूचियों में मिलता है। विभिन्न ग्रथों में इनकी गणना के सम्बन्ध में क्रम-भेद अवश्य है। ये पाचो शासन-कार्य में सहायता देने वाले राजकर्मचारी थे। सूत के वास्तविक कार्य के सम्बन्ध मे बहुत मतभेद है। अल्तेकर महोदय के अनुसार वह रथसेना का प्रधान था जो सम्मान के लिये राजा को सारथी का पद वहन करता था।[४] घोषाल महोदय ने उसे वन्दी या आख्यायक माना है[५] जो महाकाव्यो में वर्णित सूत के काफी निकट प्रतीत होता है। वैदिक साहित्य से उपलब्ध

१ मै० स० ४ ७ ४
२ घोषाल—स्टडीज एन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०७
३ अथर्ववेद ३ १ १, डा० वी० डब्ल्यू० करम्बेल्कर, दी अथर्ववैदिक सिविलाइजेशन, पृ० ११५
४ अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ११०
५. घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०३

प्रमाणों की पृष्ठभूमि में यह अधिक ग्राह्य है। एक स्थान पर सूत को जनता का मुख कहा गया है।[1] बहुत सम्भव है कि सूत के कुछ प्रशासकीय उत्तरदायित्व भी रहे हों। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उसकी गणना पौराणिक आदि साधारण पदाधिकारियों में की गई है जिन्हें एक सहस्र रजत मुद्रायें प्रति वर्ष वेतन में मिलती थीं।[2]

ग्रामणी को मैत्रायणी संहिता और काठक संहिता में वैश्य-ग्रामणी कहा गया है। इससे इसके वर्ण का ज्ञान होता है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट प्रतीत होता है वह गाँव का मुखिया या प्रधान था। निश्चय ही वैदिक राज्यों के आकार में लघु होने पर भी एक राज्य में बहुत से ग्राम रहे होंगे किन्तु रत्नहविषी के प्रसंग में केवल एक ही ग्रामणी का उल्लेख है। इस समस्या के समाधान की दृष्टि से अल्तेकर महोदय ने ग्रामणी को गाँवों के मुखियों का प्रधान माना है।[3] किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नहविषी अनुष्ठान में भाग लेने वाला ग्रामणी राजधानी का ही प्रमुख वैश्य नागरिक होता था। सम्भव है युद्ध के अवसर पर छोटे समूहों का का नेतृत्व करने के अतिरिक्त वह ग्राम्य शासन में राजा के प्रतिनिधि के रूप में योग देता हो। जायसवाल महोदय उसे पौर का प्रधान भी मानते हैं (Head of the township)।[4] किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक पूर्ण विकसित नागरिक जीवन सन्दिग्ध है। इसी प्रकार यह कल्पना कि राजकीय कर को वसूल करने का कार्य ग्रामणी का था[5] निराधार प्रतीत होती है क्योंकि यह कार्य भागदुघ द्वारा किया जाता था।

डा० यू० एन० घोषाल के अनुसार क्षत्तृ भोजन बाँटने वाले को कहते थे।[6] *किन्तु इस प्रकार का कोई विभाग उस युग में था, यह बहुत सन्दिग्ध* है। क्षत्तृ शब्द का एक अर्थ प्रतिहार (Chamberlain) भी है जो

---

१ मैत्रा० सं० ४ ३ ८

२ अर्थशास्त्र ५ ३-६१, द्र०, हिन्दू पालिटी पृ० २०२

३ अल्तेकर—प्राचीन भारतीय शासनपद्धति, पृ० १११

४ जायसवाल—हिन्दू पालिटी, पृ० २०४

५ कैम्ब्रिज हिस्ट्री आव इण्डिया, १,११७

६ घोषाल पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, पृ० ३०३

इस प्रसग में अधिक युक्तिसगत प्रतीत होता है।[१] सम्भव है वह राजा का परिपार्श्वक भी रहा हो।[२]

सग्रहीतृ की वास्तविक स्थिति एवं कार्य के सम्बन्ध मे विद्वानों मे बडा मत वैभिन्य है। किन्तु टीकाकारों के मत को दृष्टि मे रखते हुए तथा अर्थशास्त्र के सन्निधाता नामक अधिकारी से इसकी समानता स्थापित करते हुए यह कहा जा सकता है कि वह कोषाध्यक्ष था।[३] अधिकाश ग्रन्थों में भागधुक के साथ इसके उल्लेख से भी इस बात की पुष्टि होती है। अनेक विद्वानों ने सग्रहीतृ का अर्थ वल्गा धारण करने वाला (Holder of the reins) या रथचालक स्वीकार किया है,[४] तथा इस आधार पर उसे प्रमुख योद्धा का सारथी मान है। किन्तु यह एक सम्भावना मात्र है। वस्तुत भागधुक, जिसका काम कर वसूलना था, कोषाध्यक्ष के अस्तित्व एव महत्व को अपरिहार्य बना देता है। ऐसी स्थिति मे सग्रहीतृ को कोषाध्यक्ष मानना ही परिस्थैतिक साक्ष्यों के अनुकूल होगा क्योंकि भागधुक द्वारा एकत्रित राजकर की सुरक्षा की दृष्टि से भी कोषाध्यक्ष की स्थिति अनिवार्य थी।

भागधुक और सग्रहीतृ का उल्लेख ऋग्वेद और अथर्ववेद मे नही मिलता। इनका उल्लेख यजुर्वेद की सहिताओं और ब्राह्मणो मे है इससे स्पष्ट है कि नियमित राजकर वसूलने की परम्परा तथा राजकोष की व्यवस्था उत्तर-वैदिक युग मे ही हो सकी। भागधुक राजा का भाग वसूलने वाला अधिकारी

---

१ वाज० स० ३० १३ पर टीका करते हुये महीधर ने क्षत्तृ का अर्थ प्रतिहार किया है तथा सायण ने शतपथ ब्राह्मण ५ २.१ ७ पर टीका करते हुये इसका अर्थ अन्तः-पुराध्यक्ष किया है।

२ प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ० ११०

३ जायसवाल—हिन्दू पालिटी, पृ० २०२

४ द्र०, शत० ब्रा० ५ ३.१ ८ पर ईगलिंग की टीका, तै० स० १ ८ ९ पर कीथ की टीका,
शर्मा—ऐस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूसन्स, पृ० १०

५ सायण महोदय ने तै० स० १ ८.९ पर टीका करते हुए सग्रहीतृ को 'धन सग्रहकर्ता कोषाध्यक्ष.' कहा है तथा तै० ब्रा० ३.४ ७ पर टीका करते हुये इसका अर्थ 'भाण्डागाराध्यक्ष' माना है।

था। उसका पद राज्य के विकास की उस स्थिति का संकेत करता है जब राज-कर ऐच्छिक न रहकर अनिवार्य हो चला था। ऋग्वेद में राजा को प्राप्त होनेवाले ऐच्छिक उपहारों को वलि कहा गया है।[१] किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक राजा प्रजा की आय के एक निश्चित भाग का अधिकारी समझा जाने लगा था। सम्भव है भाग का तात्पर्य यहा धर्मसूत्रो में उल्लिखित षष्ठाश से हो। भाग सम्भवत अन्न के रूप मे ही ग्रहण किया जाता था। भागधुक के घर पर पशुओं के देवता पूषन को वलि दी जाती थी[२] अतः पशुओ के रूप मे भी राजकीय भाग एकत्रित करने की बात सम्भव प्रतीत होती है।

अक्षावाप नामक ग्यारहवें रत्नी का कार्य भी सन्दिग्ध है। इसका शाब्दिक अर्थ होगा (द्यूतक्रीडा मे) पासा फेंकनेवाला।[३] इस प्रकार कुछ विद्वानो ने इसे द्यूतक्रीडा मे राजा का साथी तथा कुछ ने इसे द्यूतक्रीडा से सम्बन्धित अधिकारी माना है। अक्षावाप की समानता अर्थशास्त्र के अक्ष-पटलाध्यक्ष से स्थापित करते हुए जायसवाल महोदय ने उसे आय-व्यय के लेखे के प्रधान अधिकारी माना है।[४] किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५ ३ १ १०) में अक्षावाप के साथ अक्ष (पासा) और जुआ खेलनेवाली पटरी का भी उल्लेख है जिससे द्यूतक्रीडा से इसका सम्बन्ध स्थापित करना दुर्निवार्य हो जाता है। सम्भव है कि वह द्यूतक्रीडा तथा अन्य सामाजिक आनन्दोत्सवो का प्रबन्धक रहा हो।

गोविकर्तन नामक रत्नी का उल्लेख तीन सूचियों में मिलता है किन्तु तीनो सूचियो मे इसके नाम में कुछ अन्तर है। मैत्रायणी सहिता में इसे गोविकर्त, काठक सहिता में गोव्यच्छ और शतपथ ब्राह्मण में गोनिकर्तन कहा गया है। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ होगा गोवध करनेवाला या, जायसवाल महोदय ने इसे जगलों का प्रधान अधिकारी माना घोषाल ने इसे शिकारियों का प्रधान माना है।[५] इसके घर पर -

दी जाती थी इससे पशुओं के प्रति इसकी भयकरता का सकेत मिलता है। जैसा कि जायसवाल महोदय ने कहा है, असम्भव नहीं प्रतीत होता कि वह मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित उस मौर्य कालीन अधिकारी के समान रहा हो जो शिकारियों का प्रधान होता था तथा बीज खानेवाले पशुओं एव पक्षियों का नाश करता था।[१] सम्भव है यह अधिकारी राजकीय भोजनालय के लिए भी पशुओं का शिकार करता हो।

पालागल का उल्लेख केवल शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है जिसकी गणना प्राचीनतम ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत नही है। इससे स्पष्ट है कि इसे ब्राह्मण युग के अन्तर्गत मे रत्नी सूची में स्थान मिला जो इसके नवोदित महत्व की सूचना देता है। अल्तेकर महोदय उसे परवर्ती युगो के विदूषक की भाति राजा का अन्तरग मित्र मानते हैं। किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५.३ १ ११) से यह प्रकट होता है कि वह सदेशवाहक का काम या दौत्य कर्म करता था। यह शूद्र वर्ण का होता था।[२] फिर भी उसका राजनैतिक जीवन मे महत्व-पूर्ण स्थान था। राज्य की आन्तरिक एव बाह्य घटनाओं, कुचक्रो एव विचारधाराओ की सूचना वह राजा को देता था। साथ ही राजकीय सन्देश दूसरे राज्यो में पहुँचाता था। इस प्रकार राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध, युद्ध और विग्रह की स्थिति में सदैव उसका महत्व था। आस्ट्रेलिया की आदिम जातियो में भी इस प्रकार के सन्देशवाहकों का राजनैतिक जीवन मे महत्वपूर्ण स्थान होता है।[३] वे जातीय भोज, प्रतिकार सम्बन्धी युद्ध की तैयारी, अथवा जातीय सभा की सूचना को प्रसारित करने के लिये विशेषत महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। पचविश ब्राह्मण (१६.१.४) मे राजा के सहायक आठ वीरो का उल्लेख है जिसमे रत्नी-सूची को पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षतृ और सग्रहीतृ के अतिरिक्त राज-भ्राता और राजपुत्र को भी सम्मिलित किया गया है। यद्यपि अन्तिम दो को रत्नी-सूची के अन्तगत स्थान नही दिया गया है किन्तु पचविश ब्राह्मण के इस अश से सिद्ध है कि शासन-कार्य मे इन दोनों का भी पर्याप्त योग था।

हौस्टरमैन ने यह विचार प्रकट किया है कि रत्नियो के नाम से तत्का-लीन शासन-व्यवस्था पर कोई प्रकाश नही पडता।[४] उनके अनुसार रत्नी-

१ मिक्रिण्डिल—मेगस्थनीज, पृ० ८४

२ शत० ब्रा० १३ ५ ५ ८

३. अलेक्जेण्डर गोल्डेनवेइजर, एन्थ्रोपोलोजी, पृ० ३८०

४ दी ऐन्शयेन्ट इण्डियन रायल कन्सेक्रेशन, पृ० ५३

था। इसका पद राज्य के विकास की उस स्थिति का संकेत करता है जब राज-कर ऐच्छिक न रहकर अनिवार्य हो चला था। ऋग्वेद मे राजा को प्राप्त होनेवाले ऐच्छिक उपहारों को बलि कहा गया है।[1] किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक राजा प्रजा की आय के एक निश्चित भाग का अधिकारी समझा जाने लगा था। सम्भव है भाग का तात्पर्य यहा धर्मसूत्रो मे उल्लिखित षष्ठांश से हो। भाग सम्भवत अन्न के रूप में ही ग्रहण किया जाता था। भागधुक के घर पर पशुओं के देवता पूषन को बलि दी जाती थी[2] अतः पशुओ के रूप मे भी राजकीय भाग एकत्रित करने की बात सम्भव प्रतीत होती है।

अक्षावाप नामक ग्यारहवें रत्नी का कार्य भी सन्दिग्ध है। इसका शाब्दिक अर्थ होगा (द्यूतक्रीडा मे) पासा फेंकनेवाला।[3] इस प्रकार कुछ विद्वानो ने इसे द्यूतक्रीडा मे राजा का साथी तथा कुछ ने इसे द्यूतक्रीडा से सम्बन्धित अधिकारी माना है। अक्षावाप की समानता अर्थशास्त्र के अक्ष-पटलाध्यक्ष से स्थापित करते हुए जायसवाल महोदय ने उसे आय-व्यय के लेखे के प्रधान अधिकारी माना है।[4] किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५ ३.१ १०) में अक्षावाप के साथ अक्ष (पासा) और जुआ खेलनेवाली पटरी का भी उल्लेख है जिससे द्यूतक्रीडा से इसका सम्बन्ध स्थापित करना दुर्निवार्य हो जाता है। सम्भव है कि वह द्यूतक्रीडा तथा अन्य सामाजिक आनन्दोत्सवो का प्रबन्धक रहा हो।

गोविकर्तन नामक रत्नी का उल्लेख तीन सूचियो में मिलता है किन्तु तीनो सूचियो में इसके नाम में कुछ अन्तर है। मैत्रायणी संहिता मे इसे गोविकर्त, काठक संहिता में गोव्यच्छ और शतपथ ब्राह्मण में गोनिकर्तन कहा गया है। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ होगा गोवध करनेवाला या कसाई। जायसवाल महोदय ने इसे जगलों का प्रधान अधिकारी माना है[4] तथा घोषाल ने इसे शिकारियो का प्रधान माना है।[5] इसके घर पर रुद्र को बलि -

१ घोषाल—हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम पृ० २२१–३२
२ शत० ब्रा० ५ ३ १ ६
३. द्रष्टव्य घोषाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०३
४ जायसवाल—हिन्दू पालिटी, पृ० २०२
५ जायसवाल—हिंदू पालिटी, पृ० २०२
६ हिस्टोरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज, पृ० २४९

दी जाती थी इससे पशुओ के प्रति इसकी भयकरता का सकेत मिलता है। जैसा कि जायसवाल महोदय ने कहा है, असम्भव नही प्रतीत होता कि वह मेगस्थनीज द्वारा उल्लिखित उस मौर्य कालीन अधिकारी के समान रहा हो जो शिकारियो का प्रधान होता था तथा बीज खानेवाले पशुओं एव पक्षियों का नाश करता था।[1] सम्भव है यह अधिकारी राजकीय भोजनालय के लिए भी पशुओ का शिकार करता हो।

पालागल का उल्लेख केवल शतपथ ब्राह्मण मे मिलता है जिसकी गणना प्राचीनतम ब्राह्मण साहित्य के अन्तर्गत नही है। इससे स्पष्ट है कि इसे ब्राह्मण युग के अन्तगति मे रत्नी सूची में स्थान मिला जो इसके नवोदित महत्व की सूचना देता है। अल्तेकर महोदय इसे परवर्ती युगों के विदूषक की भाति राजा का अन्तरग मित्र मानते हैं। किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५.३ १ ११) से यह प्रकट होता है कि वह सदेशवाहक का काम या दौत्य कर्म करता था। यह शूद्र वर्ण का होता था।[2] फिर भी उसका राजनैतिक जीवन मे महत्व-पूर्ण स्थान था। राज्य की आन्तरिक एव बाह्य घटनाओं, कुचक्रो एव विचारधाराओ की सूचना वह राजा को देता था। साथ ही राजकीय सन्देश दूसरे राज्यो में पहुँचाता था। इस प्रकार राज्यो के पारस्परिक सम्बन्ध, युद्ध और विग्रह की स्थिति में सदैव उसका महत्व था। आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में भी इस प्रकार के सन्देशवाहकों का राजनैतिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान होता है।[3] वे जातीय भोज, प्रतिकार सम्बन्धी युद्ध की तैयारी, अथवा जातीय सभा की सूचना को प्रसारित करने के लिये विशेषत महत्वपूर्ण समझे जाते हैं। पचविंश ब्राह्मण (१९.१ ४) मे राजा के सहायक आठ वीरो का उल्लेख है जिसमे रत्नी-सूची को पुरोहित, महिषी, सूत, ग्रामणी, क्षत्तृ और सग्रहीतृ के अतिरिक्त राज-भ्राता और राजपुत्र को भी सम्मिलित किया गया है। यद्यपि अन्तिम दो को रत्नी-सूची के अन्तर्गत स्थान नही दिया गया है किन्तु पचविंश ब्राह्मण के इस अश से सिद्ध है कि शासन-कार्य मे इन दोनो का भी पर्याप्त योग था।

हीस्टरमैन ने यह विचार प्रकट किया है कि रत्नियो के नाम से तत्का-लीन शासन-व्यवस्था पर कोई प्रकाश नही पडता।[4] उनके अनुसार रत्नी-

१ मिक्रिण्डिल—मेगस्थनीज, पृ० ८४

२ शत० ब्रा० १३ ९ ५ ८

३ अलेक्जेण्डर गोल्डेनवेइजर, एन्थ्रोपोलोजी, पृ० ३८०

४ दी ऐन्श्येन्ट इण्डियन रायल कन्सेक्रेशन, पृ० ५३

था। उसका पद राज्य के विकास की उस स्थिति का संकेत करता है जब राज-कर ऐच्छिक न रहकर अनिवार्य हो चला था। ऋग्वेद मे राजा को प्राप्त होनेवाले ऐच्छिक उपहारों को वलि कहा गया है।[1] किन्तु उत्तर-वैदिक युग तक राजा प्रजा की आय के एक निश्चित भाग का अधिकारी समझा जाने लगा था। सम्भव है भाग का तात्पर्य यहा धर्मसूत्रो मे उल्लिखित षष्ठाश से हो। भाग सम्भवत अन्न के रूप मे ही ग्रहण किया जाता था। भागधुक के घर पर पशुओ के देवता पूषन को वलि दी जाती थी[2] अतः पशुओ के रूप मे भी राजकीय भाग एकत्रित करने की बात सम्भव प्रतीत होती है।

अक्षावाप नामक ग्यारहवें रत्नी का कार्य भी सन्दिग्ध है। इसका शाब्दिक अर्थ होगा (द्यूतक्रीडा मे) पासा फेंकनेवाला।[3] इस प्रकार कुछ विद्वानो ने इसे द्यूतक्रीडा मे राजा का साथी तथा कुछ ने इसे द्यूतक्रीडा से सम्बन्धित अधिकारी माना है। अक्षावाप की समानता अर्थशास्त्र के अक्ष-पटलाध्यक्ष से स्थापित करते हुए जायसवाल महोदय ने उसे आय-व्यय के लेखे के प्रधान अधिकारी माना है।[4] किन्तु शतपथ ब्राह्मण (५ ३ १ १०) में अक्षावाप के साथ अक्ष (पासा) और जुआ खेलनेवाली पटरी का भी उल्लेख है जिससे द्यूतक्रीडा से इसका सम्बन्ध स्थापित करना दुनिवार्य हो जाता है। सम्भव है कि वह द्यूतक्रीडा तथा अन्य सामाजिक आनन्दोत्सवों का प्रबन्धक रहा हो।

गोविकर्तन नामक रत्नी का उल्लेख तीन सूचियो मे मिलता है किन्तु तीनो सूचियो मे इसके नाम में कुछ अन्तर है। मैत्रायणी संहिता मे इसे गोविकर्त, काठक सहिता में गोव्यच्छ और शतपथ ब्राह्मण मे गोनिकर्तन कहा गया है। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ होगा गोवध करनेवाला या कसाई। जायसवाल महादय ने इसे जगलों का प्रधान अधिकारी माना है[5] तथा घोपाल ने इसे शिकारियो का प्रधान माना है।[6] इसके घर पर रुद्र को वलि-

१. घोपाल—हिन्दू रेवैन्यू सिस्टम पृ० २२१–३२
२ शत० ब्रा० ५ ३ १ ९
३. द्रष्टव्य घोपाल—स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३०३
४ जायसवाल—हिन्दू पालिटी, पृ० २०३
५ जायसवाल—हिंदू पालिटी, पृ० २०३
६ हिस्टोरियोग्रफी एण्ड अदर एसेज, पृ० २४९

का यह मत पूर्णतः निर्विवाद है कि ये रत्नी राज्य के उच्च-अधिकारी थे। विभिन्न रत्नियों में उनके पद और महत्व की दृष्टि से कुछ अन्तर और संस्तरण (Official hierarchy) अवश्य रहा होगा किन्तु उनके पद और प्रतिष्ठा मे बहुत अन्तर नही था।[१] क्योकि राजा के लिए सभी रत्नियो की सहायता समान रूप से महत्वपूर्ण एवस्पृहणीय मानी गई है।

उत्तर-वैदिक साहित्य तथा धर्मसूत्रों में राज्य की परिभाषा अथवा उसके सात अगो का कही भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है।[२] सर्वप्रथम कौटिल्य ने राज्य के सात अग स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र का उल्लेख किया है।[३] कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य प्राचीन ग्रन्थो में भी

राज्य के सात अग

राज्य के सप्तागो का उल्लेख हुआ है।[४] किसी भी सुविकसित राज्य मे इन सात तत्वो का समावेश अनिवार्य समझा जाता था। कुछ विद्वानों ने वैदिक एव सूत्र साहित्य में इन सप्तागों का उल्लेख न मिलने का कारण इस सस्था के पूर्ण विकास की स्थिति का अभाव माना है।[५] किन्तु उत्तर-वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता हैं कि इस युग में राज्य के ये सातो तत्व अस्तित्व में आ चुके थे। उनका सैद्धान्तिक व्यवस्थापन बाद में सम्पन्न हुआ जिसका श्रेय सर्वप्रथम कौटिल्य को दिया जा सकता है। राजनीतिशास्त्र के आधुनिक
। राज्य के चार आवश्यक तत्व माने हैं--सम्प्रभुता, सरकार, भूमि
जब हम सप्ताग सिद्धान्त से इसकी तुलना करते हैं तो ज्ञात
ये चारो तत्व क्रमशः स्वामी, अमात्य और जनपद के अन्तर्गत

सूची मे राज-पत्नियो, राज्याधिकारियो एवं कर्मचारियो तथा कारीगर वर्ग के लोगों के नाम अस्त-व्यस्त रूप मे मिश्रित है। किन्तु वे भूल जाते है कि उत्तर-वैदिक भारतीय समाज, जो अभी लौह-युग मे प्रवेश कर रहा था, इतना विकसित नही था कि राजनैतिक, धार्मिक एव सामाजिक जीवन को पूर्णत पृथक् किया जा सके। शासन-व्यवस्था के क्षेत्र में पुरोहित, राजपत्नियो तथा रथकार और तक्षन जैसे कारीगरो का प्रवेश हमे इस लिये आश्चर्यजनक लगता है कि हम पुरा-ऐतिहासिक शासन-पद्धति को वर्तमान सरकारो की पृष्ठभूमि में देखने का प्रयास करते हैं। वैदिक समाज धर्म प्रधान था अत उस युग के राजनैतिक जीवन मे पुरोहित का प्रवेश सर्वथा स्वाभाविक है। जहाँ तक राजपत्नियो का सम्बन्ध है, हम जानते हैं कि उनका भी राजनैतिक महत्व मूलत' धार्मिक एवं सामाजिक कारणो से ही था। मैत्रायणी संहिता की रत्नी-सूची मे व्यवसायों की विशिष्टता एवं अत्यधिक उपयोगिता के कारण तक्षन और रथकार को रत्नी सूची में स्थान अवश्य दिया गया है किन्तु अन्य सूचियों से उनके नाम का बहिष्कार इस बात की सूचना देता है कि क्रमश रत्नियों की सूची में वही लोग रह गये थे जो राजनैतिक दृष्टिसे महत्वपूर्ण थे। पीछे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार प्राय प्रत्येक रत्नी अपने ढग से शासन कार्य मे सहायक था।

काशी प्रसाद जायसवाल रत्नियो को मूलत समिति का सदस्य मानते हैं[१] किन्तु इस अनुमान के लिए कोई आधार नही है। इसके विपरीत स्थिति इस सम्भावना के प्रतिकूल दिखाई देती है। प्रथमत, समिति नामक सस्था का पूरे ब्राह्मण साहित्य में कही उल्लेख नही है जिससे इसका अस्तित्व ही सर्वथा संदिग्ध प्रतीत होता है। दूसरे, रत्नी-मण्डल की रानिया समिति जैसी किसी लोकसभा की प्रतिनिधि नही हो सकती। यही बात सेनानी, भागदुघ, सग्रहीतृ आदि-अन्य अधिकारियों के सम्बन्ध मे भी कही जा सकती है। पुरोहित, राजा, ग्रामणी और पालागल चार वर्णों का प्रतिनिधित्व करते थे, यह बात भी पूर्णत संदिग्ध है।[२] वस्तुत पुरोहित, ग्रामणी और पालागल भी राजनैतिकमहत्व के कारण ही रत्नी-सूची के सदस्य थे। समाज के विभिन्न वर्गों से इनका सम्बन्धित होना पूर्णत आकस्मिक है। जायसवाल

---

१ हिन्दू राजतत्र, भाग २, पृ० ३४

२ वही

का यह मत पूर्णतः निर्विवाद है कि ये रत्नी राज्य के उच्च-अधिकारी थे। विभिन्न रत्नियो में उनके पद और महत्व की दृष्टि से कुछ अन्तर और सस्तरण (Official hierarchy) अवश्य रहा होगा किन्तु उनके पद और प्रतिष्ठा में बहुत अन्तर नही था।[१] क्योकि राजा के लिए सभी रत्नियो की सहायता समान रूप से महत्वपूर्ण एवस्पृहणीय मानी गई है।

उत्तर-वैदिक साहित्य तथा धर्मसूत्रों में राज्य की परिभाषा अथवा उसके सात अगो का कही भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है।[२] सर्वप्रथम कौटिल्य ने राज्य

राज्य के सात अग

के सात अग स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोष, दण्ड और मित्र का उल्लेख किया है।[३] कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अतिरिक्त अन्य प्राचीन ग्रन्थो में भी राज्य के सप्तागों का उल्लेख हुआ है।[४] किसी भी सुविकसित राज्य मे इन सात तत्वो का समावेश अनिवार्य समझा जाता था। कुछ विद्वानों ने वैदिक एव सूत्र साहित्य में इन सप्तागों का उल्लेख न मिलने का कारण इस सस्था के पूर्ण विकास की स्थिति का अभाव माना है।[५] किन्तु उत्तर-वैदिक साहित्य के अध्ययन से प्रकट होता हैं कि इस युग में राज्य के ये सातो तत्व अस्तित्व में आ चुके थे। उनका सैद्धान्तिक व्यवस्थापन बाद में सम्पन्न हुआ जिसका श्रेय सर्वप्रथम कौटिल्य को दिया जा सकता है। राजनीतिशास्त्र के आधुनिक विचारको ने राज्य के चार आवश्यक तत्व माने हैं--सम्प्रभुता, सरकार, भूमि और जनता। जब हम सप्ताग सिद्धान्त से इसकी तुलना करते हैं तो ज्ञात होता हैं कि ये चारो तत्व क्रमशः स्वामी, अमात्य और जनपद के अन्तर्गत

---

१ घोषाल-हिस्टोरियोग्रैफी एण्ड अदर एसेज, पृ० २५५, पादटिप्पणी

२ सरस्वती विलास नामक पुस्तक मे, जिसकी तिथि १६वीं सदी मानी गई है (काणे, हिस्ट्री आव धर्मशास्त्र. १, ४१३) एक श्लोक में राज्य के सप्तागो का उल्लेख है, जिसे गौतम धर्म सूत्र से उद्धृत बतलाया गया है किन्तु गौतमधर्मसूत्र में नहीं मिलता।

३ अर्थशास्त्र ६ १

४. मनु० ९.२९४, शान्तिपर्व ६९ ६२--३, विष्णु० ३.३३, याज्ञवल्क्य १ ३५३ आदि।

५ घोषाल-ऐस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० १४

आ जाते हैं। स्वामी अथवा राजा मे सम्प्रभुता निहित थी[1] तथा अमात्य मडल द्वारा शासन संचालन होता था। जनपद एक ऐसा तत्व था जिसके अन्तर्गत जनता और उसके द्वारा अधिकृति भूमि दोनो का समावेश है। इस प्रकार आधुनिक राज्य का निर्माण करने वाले तत्वों को दृष्टि में रखने पर निश्चय ही प्राचीन भारतीयों की राज्य-विषयक धारणा नितान्त अर्वाचीन लगती है।[2]

जब हम वैदिक साहित्य मे राज्य के इन सातो तत्वो को ढूढते हैं तो अप्रत्यक्ष प्रमाणों का ही आश्रय लेना पडता है। सप्ताग का स्वामी वैदिक युग मे राजा ही था क्योंकि वह निश्चित रूप से राष्ट्र रूपी शरीर के सर्वोच्च स्थान पर आसीन माना जाता था।[3] वह राज्य का केन्द्रविन्दु तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्यक्ति था।[4] उसकी प्रभुता सर्वव्यापी थी।[5]

यजुर्वेद मे उल्लिखित रत्नी-सूची के विविध अधिकारी एवं कर्मचारी अमात्यमण्डल के सदस्य माने जा सकते हैं यद्यपि उनके लिये अमात्य शब्द का प्रयोग नही हुआ है किन्तु उनका स्वरूप बहुत कुछ प्राग्-मौर्य साहित्य मे वर्णित अमात्यो के समान था।[6] प्राग् मौर्य युग मे शासन में भाग लेने वाले विभिन्न अधिकारी एव कर्मचारी अमात्य नाम से अभिहित किये जाते थे।[7] इन-अमात्यो में ग्राम-प्रधान अथवा ग्रामणी से लेकर न्यायाधीश और धर्माधिकारी तक सम्मिलित थे। इस प्रकार रत्नी सूची के पुरोहित, सेनानी, सूत, ग्रामणी, सग्रहीतृ, भागधुक आदि को परवर्ती युग के अमात्यो का पूर्वरूप माना जा सकता है। अर्थशास्त्र मे भी प्रधान पुरोहित, मन्त्री, कर वसूलने वाले अधिकारी, तथा कोषाध्यक्ष आदि अधिकारियो को आमात्य-मण्डल का सदस्य माना गया है।[8]

---

१ स्वामी शब्द से ही राजा के सर्वव्यापी प्रभुता का अनुमान किया जा सकता है।
२. पुसाल्कर—एज आव इम्पीरियल यूनिटी, पृ० ३०७
३ अथर्ववेद ३ ४ २
४ शुक्ल यजुर्वेद, २० १
५ अथर्ववेद ४. २२ ७
६ मेहता आर० एन०, प्री-बुद्धिस्ट इण्डिया, पृ० १३६
७ फिक, सोसल आर्गनाइजेशन आव नार्थ-ईस्टर्न इण्डिया, पृ० १४५-९
८ १ ९-१०, १६, ८ १

अर्थशास्त्र में तीसरी प्रकृति को जनपद कहा गया है तथा मनु और विष्णु ने इसे राष्ट्र कहा है।[1] यह तत्व भूमियुक्त-राज्य की स्थिति का संकेत करता है। जैसा-कि पहले ही बतलाया गया है,-उत्तर वैदिक युग तक भूमियुक्त राज्यों की स्थापना हो चुकी थी। उत्तर वैदिक साहित्य में राष्ट्र और जनपद इन दोनों शब्दों का राजा और शासन के प्रसंग में अनेक बार उल्लेख हुआ है। चौथा तत्व कौटिल्य ने दुर्ग माना है किन्तु मनु ने इसे पुर नाम दिया है। महाभारत के एक अंश से प्रकट होता है कि पुर राजधानी को कहते थे।[1] उत्तर-वैदिक युग से ही इन राजधानियों को सुरक्षा की दृष्टि से प्राचीरों तथा परिखा से परिवेष्टित करने की परम्परा चल पड़ी थी[2] इसलिए पुर को दुर्ग भी कहा जाने लगा। उत्तर-वैदिक युग में आसंदीवन्त तथा कौशाम्बी आदि पुरों का अस्तित्व अप्रत्याख्येय है। उत्तर-वैदिक साहित्य में भागदुक और संग्रहीतृ के के उल्लेख से स्पष्ट है कि राजकीय कोष की उचित व्यवस्था भी होती थी। कौटिल्य ने सैन्य शक्ति को ही राज्य का छठा तत्व—दंड माना है। यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों में सेनानीका अनेकशः उल्लेख राज्य द्वारा समुचित सैन्य-संगठन की पुष्टि करता है। कौटिल्य के अनुसार राज्य का अन्तिम अंग मित्र है। मित्र अथवा सुहृद का स्पष्ट उल्लेख तो वैदिक साहित्य में नहीं मिलता किन्तु सम्भव है राज्याभिषेक के अभिषेचनीय नामक कृत्य में भाग लेने वाला जन्य या जन्यमित्र अर्थशास्त्र और स्मृतियों का मित्र या सुहृद हो।[3]

---

१ मनु० ९ २९, विष्णु० ३, ३३
२. शर्मा, एक्सकेवेन्स एट कौशाम्बी, पृ० ६
३ घोषाल, स्टडीज इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ३१८

पूर्व-वैदिक धर्म के तीन प्रमुख पक्ष हैं—देव-तत्व, यज्ञ-तत्व तथा दार्शनिक चिन्तन। इनमे देव-तत्व का ही प्राधान्य है। ऋक्संहिता के अधिकाश सूक्तों में देवताओ को प्रसन्न करने के लिये स्तुतिपरक ऋचायें ही सग्रहीत हैं। इन्ही देवताओ को प्रसन्न करने के लिये यज्ञ भी किये जाते थे। यज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल एव साधारण था। यद्यपि दार्शनिक चिन्तन की झलक भी ऋग्वेद मे यत्र तत्र उपलब्ध है[1] तथापि सम्पूर्ण ऋक्संहिता मे विस्तृत दार्शनिक चर्चा का अभाव ही है। उत्तर-वैदिक युग मे हम देव-तत्व का ह्रास तथा यज्ञ एव दार्शनिक चिन्तन की दिशा मे झुकाव पाते हैं। तत्कालीन धर्म के अन्तर्गत स्थूल यज्ञीय कर्मकाण्डो का विस्तार तथा सूक्ष्म तत्व-चिन्तन की गरिमा—दोनो समान रूप से दृश्य हैं। यजुर्वेद तथा ब्राह्मणो मे यज्ञ सस्था का साम्राज्य है। उस युग के धार्मिक विश्वासो के अनुसार यज्ञ ही वह परम शक्तिमान साधन है जिसके द्वारा देवता भी वशीभूत किये जा सकते हैं।[2] इसी के द्वारा लौकिक सुख और पारलौकिक शान्ति भी सम्भव है। उत्तर-वैदिक युग मे यज्ञमूलक धर्म का जो अतिशय विकास एव विस्तार हुआ उसके परिणामस्वरूप मूल धार्मिक भावना लुप्त-प्राय हो गई तथा धर्म का प्रतीकात्मक एव आडम्बरपूर्ण कलेवर ही अधिक महत्वपूर्ण हो गया।[3] इस प्रकार पूर्ववैदिक धर्म की सादगी और सरलता इस युग में नष्ट हो गई तथा उसका स्थान भावहीन कृत्रिम उपचारो ने ले लिया। धर्म, साहित्य एव कला के क्षेत्रमे जटिलता एव दुरूहता बहुधा भाव-शून्यता का परिचायक हुआ करती है। कर्मकाण्डो के इस विस्तार के स्वाभाविक प्रतिक्रियास्वरूप उपनिषत्काल मे दार्शनिक चिन्तन की वह प्रबल धारा प्रवाहित हुई जिसका उद्गमन ऋक्संहिता से हुआ था तथा जिसकी गति परवर्ती संहिताओं एव ब्राह्मणो के युग मे प्रायः अवरुद्ध हो गई थी।

---

१ ऋ० १ १६४, १०. १२६, १०. ६०, १०. १२१,

२ तै० स० २ ३ १ ५, पच० ब्रा० ६. २. २२

३ राधाकृष्णन, इण्डियन फिलोसोफी, पृ० १२३

यद्यपि उत्तर वैदिक समाज पर धर्म का अतिशय प्रभाव अप्रत्याख्येय है तथापि नवोदित सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों ने भी धर्म के विकास एवं धार्मिक दृष्टिकोण में न्यूनाधिक परिवर्तन को प्रभावित एवं प्रोत्साहित किया। वर्ण व्यवस्था के विकास के साथ ही वंशानुगत ब्राह्मण वर्ग अस्तित्व मे आया। पौरोहित्य ब्राह्मणों का व्यवसाय था। ऋक्संहिता मे ही ब्राह्मणों (पुरोहितों) की श्रेष्ठता को स्थिर करने का प्रयास प्रतिध्वनित है। एक प्रसग में यह स्पष्ट कहा गया है कि राजा की समृद्धि तभी होती है जब राजा ब्राह्मण का आदर करता है।[1] उत्तर-वैदिक युग तक यज्ञ-कार्य पुरोहित की सहायता के बिना असम्भव माना गया।[2] पौरोहित्य अब एक मात्र ब्राह्मणो का वर्ण-धर्म बन गया। ऐसी परिस्थिति मे उन्होने अपने व्यवसाय को अधिक लाभप्रद और स्थायी बनाने का स्वभावत प्रयास किया। उत्तर वैदिक यज्ञ-संस्था के आशातीत विस्तृत, विपुलकाय एव जटिल होने का एक प्रमुख कारण ब्राह्मण-परोहितो का वर्गगत स्वार्थ भी था, जिसके परिणाम स्वरूप धर्म के उदात्त आदर्श निष्प्रभ हो गये। यज्ञों को रहस्यात्मक एव दुरूह बनाने के लिए अधिकतर प्रतीको का सहारा लिया गया तथा भाषा का प्रयोग भी इस प्रकार किया गया मानो उसका उद्देश्य विचारो को प्रकट न करके अवगुंठित करना हो।[3] इन विविध प्रतीको एवं निर्देशो को समझने मे पुरोहित ही समर्थ थे। एकान्त रूप से पौरोहित्य में प्रवृत्त होने के कारण जहाँ ब्राह्मणों ने यज्ञ संस्था को विकसित किया वही जन-साधारण मे भय-मिश्रित श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये यज्ञों का स्वरूप रहस्यमूलक भी बनाया। समाज को यज्ञ संस्था की ओर प्रेरित करने के लिए ब्राह्मण-साहित्य मे यज्ञ की महत्ता तथा विविध अनुष्ठानों से उत्पन्न सुपरिणामो का विशद उल्लेख भी हुआ। विशाल श्रौत यज्ञ जो महीनों तक चलते थे पुरोहितो की आय में वृद्धि के महत्वपूर्ण साधन बने। अश्वमेध जैसे यज्ञ में तो यदाकदा पुरोहित (अध्वर्यु) राजा की चतुर्थ पत्नी को भी दक्षिणा मे प्राप्त कर लेता था।[4] इस नवीन धार्मिक

सामाजिक और आर्थिक परिवेश तथा धर्म पर उसका प्रभाव

---

१ ऋ० ४ ५० ८

२ ऐत० ब्रा० ४०.१

३ राधाकृष्णन, इण्डियन फिलोसोफी, पृ० १२६

४ द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, पृ० ३४५

दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप देव तत्व की महत्ता में भी ह्रास हुआ। पूर्व-वैदिक काल में देवताओं को प्रार्थना द्वारा प्रसन्न किया जाता था। इसके लिए पुरोहित की सहायता अपेक्षित नहीं थी। इसके विपरीत उत्तर-वैदिक काल में यज्ञ को देवताओं को तुष्ट करने का सर्वोत्तम साधन माना गया। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि पुरोहितों की अर्थदृष्टि तथा सामाजिक प्रभुत्व के नियन्त्रण की भावना ने क्रमश साधन को साध्य बना दिया और इस प्रकार देवताओं की तुलना में यज्ञ की प्रधानता घोषित हुई। यज्ञ को सृष्टि का मूल माना गया तथा यह कहा गया कि देवता भी यज्ञ से ही शक्ति धारण करते हैं।[1] अनेक प्रमुख देवताओं का तादात्म्य भी यज्ञ के साथ स्थापित किया गया। वर्ण-व्यवस्था के विकास तथा राजनैतिक संगठन के स्थैर्य के साथ-साथ प्रभुत्व-सम्पन्न राजन्य वर्ग शक्ति एवं साम्राज्य के विस्तार हेतु सचेष्ट हुआ। इन राजन्यों के राजनैतिक जीवन में पुरोहित सर्वश्रेष्ठ सहायक था।[2] इन धर्म-प्राण राजाओं ने आन्तरिक शान्ति, शत्रु-विनाश एवं दिग्विजय की कामना से तथा सम्राट, एकराट् आदि पदों की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े सोमयज्ञों का सम्पादन किया। इन यज्ञों से उन्हें यश भी प्राप्त हुआ और मानसिक शान्ति भी। ब्राह्मणों में कुरु-पंचाल के अनेक राजाओं का सादर उल्लेख है जिन्होंने अश्वमेध के सम्पादन से सार्वभौम पद की प्राप्ति की।

यज्ञमूलक धर्म के पीछे बढ़ती हुई भौतिक समृद्धि तथा नवीन आर्थिक परिस्थितियों का भी विशिष्ट योग था। उत्तर-वैदिक युग में मध्यदेश के उर्वर शस्य-श्यामल प्रदेश में कृषि और पशुपालन के क्षेत्र में प्रगति तो हुई ही, साथ ही नागरिक जीवन के प्रारम्भ तथा वाणिज्य, व्यापार एवं विविध उद्योगों के विकास के कारण आर्थिक प्रगति के नये द्वार खुले जिनके परिणामस्वरूप छठी सदी ई० पू० तक श्रावस्ती और कौशाम्बी प्रभृति नगरों में अनाथपिण्डक और घोषक जैसे धनपति अस्तित्व में आये जिन्होंने अपनी आर्थिक समृद्धि से बौद्ध धर्म के सम्वर्धन का प्रयत्न किया। उत्तर-वैदिक

१. पंच० ब्रा० १.८.४ १

२. राजसूय के रत्नहविषी नामक अनुष्ठान में शतपथ ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थ पुरोहित को सर्वश्रेष्ठ रत्नी मानते हैं।
द्रष्टव्य, घोषाल, हिन्दू पब्लिक लाइफ, पृ० ७९।

युग मे भी आर्थिक दृष्टि से समृद्ध एव सम्पन्न वैश्यों का अभाव नही रहा होगा। यह बात उन वैदिक प्रसगो से सूचित होती है जिनमे स्पष्टतः यह कहा गया है कि वैश्य की सहायता के अभाव मे यज्ञ सफल नही होते।[1] यज्ञमूलक धर्म शूद्रों के लिये दुष्कर था किन्तु उन्हे तो सास्कृतिक पार्थक्य एवं आर्थिक हीनता के कारण नियमत॰ यज्ञ कर्म से वहिष्कृत कर दिया गया था।[2]

उपनिषत्कालीन दार्शनिक चिन्तन-धारा के विकास के पीछे कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञ सस्था के विरुद्ध होने वाली सामाजिक प्रतिक्रिया थी जिसका मुखर रूप आरण्यकों में द्रष्टव्य है। जिज्ञासु एव बुद्धिजीवी जनो ने कर्मकाण्डो की स्थूलता एव वाह्याडम्बर मे अन्तर्निहित सत्य को ढू ढने का प्रयास किया। फलत कालक्रमेण देवयजन के समक्ष आत्मयजन की श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई। कर्म से विद्या का अधिक महत्व शीघ्र ही समझा और घोषित किया गया।[3]

यज्ञों का विकास एव विस्तार

यज्ञ उत्तर-वैदिक धर्म का मेरुदड है। अग्नि में नाना देवताओ को उद्दिष्ट कर हविष्य अथवा सोमरस का हवन यज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है। नृतत्ववेत्ताओ ने यज्ञो के विकास के पीछे अनेक मूलभूत कारणो का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ बलिदान (Gift offering) पितृ-पूजा (Ancestor-Worship) उर्वरतामूलक अनुष्ठान (fertility rite) देवता से सामीप्य स्थापन (Commun-ion with deity) तथा पापों से मुक्ति आदि यज्ञ के प्रमुख प्रेरक तत्व माने गये हैं।[4] इनमे से प्राय प्रत्येक के समर्थक प्रमाण ब्राह्मणो में उपलब्ध होते हैं।[5] यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों में यज्ञ-सस्था का साम्राज्य है तथा उसके

---

१ ऐत० ब्रा० १ ६

२, शत० ब्रा० ३ १ १.१०

३ स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० २७९-८०

४ द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० ३५३-३७८

५. द्रष्टव्य—रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० २५७ और उसके आगे। अश्वमेध उर्वरतामूलक यज्ञ है। पिण्ड-पितृयज्ञ में पितृपूजा स्पष्ट है। इसी प्रकार 'इडाभक्षण' अनुष्ठान देवता से सामीप्य की भावना का सकेत करता है। बलिदान तथा पाप से मुक्ति का भाव तो विविध यज्ञों में प्रकट रूप से विद्यमान है।

दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप देव तत्व की महत्ता मे भी ह्रास हुआ। पूर्व-वैदिक काल में देवताओं को प्रार्थना द्वारा प्रसन्न किया जाता था। इसके लिए पुरोहित की सहायता अपेक्षित नही थी। इसके विपरीत उत्तर-वैदिक काल मे यज्ञ को देवताओ को तुष्ट करने का सर्वोत्तम साधन माना गया। यह कहना अनुचित नही होगा कि पुरोहितो की अर्थदृष्टि तथा सामाजिक प्रभुत्व के नियंत्रण की भावना ने क्रमश साधन को साध्य बना दिया और इस प्रकार देवताओं की तुलना में यज्ञ की प्रधानता घोषित हुई। यज्ञ को सृष्टि का मूल माना गया तथा यह कहा गया कि देवता भी यज्ञ से ही शक्ति धारण करते हैं।[१] अनेक प्रमुख देवताओ का तादात्म्य भी यज्ञ के साथ स्थापित किया गया। वर्ण-व्यवस्था के विकास तथा राजनैतिक संगठन के स्थैर्य के साथ-साथ प्रभुत्व-सम्पन्न राजन्य वर्ग शक्ति एवं साम्राज्य के विस्तार हेतु सचेष्ट हुआ। इन राजन्यो के राजनैतिक जीवन मे पुरोहित सर्वश्रेष्ठ सहायक था।[२] इन धर्म-प्राण राजाओ ने आन्तरिक शान्ति, शत्रु-विनाश एवं दिग्विजय की कामना से तथा सम्राट, एकराट् आदि पदो की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े सोमयज्ञो का सम्पादन किया। इन यज्ञों से उन्हें यश भी प्राप्त हुआ और मानसिक शान्ति भी। ब्राह्मणो मे कुरु-पंचाल के अनेक राजाओ का सादर उल्लेख है जिन्होंने अश्वमेघ के सम्पादन से सार्वभौम पद की प्राप्ति की।

यज्ञमूलक धर्म के पीछे बढ़ती हुई भौतिक समृद्धि तथा नवीन आर्थिक परिस्थितियों का भी विशिष्ट योग था। उत्तर-वैदिक युग मे मध्यदेश के उर्वर शस्य-श्यामल प्रदेश में कृषि और पशुपालन के क्षेत्र मे प्रगति तो हुई ही, साथ ही नागरिक जीवन के प्रारम्भ तथा वाणिज्य, व्यापार एवं विविध उद्योगों के विकास के कारण आर्थिक प्रगति के नये द्वार खुले जिनके परिणामस्वरूप छठीं सदी ई० पू० तक श्रावस्ती और कौशाम्बी प्रभृति नगरो में अनाथपिण्डक और घोषक जैसे धनपति अस्तित्व मे आये जिन्होंने अपनी आर्थिक समृद्धि से बौद्ध धर्म के सम्वर्धन का प्रयत्न किया। उत्तर-वैदिक

---

१. पंच० ब्रा० १.८.४.१

२ राजसूय के रत्नहविषी नामक अनुष्ठान मे शतपथ ब्राह्मण को छोड़कर अन्य सभी ग्रन्थ पुरोहित को सर्वश्रेष्ठ रत्नी मानते हैं।
द्रष्टव्य, घोषाल, हिन्दू पब्लिक लाइफ, पृ० ७९।

युग में भी आर्थिक दृष्टि से समृद्ध एवं सम्पन्न वैश्यो का अभाव नही रहा होगा। यह बात उन वैदिक प्रसगो से सूचित होती है जिनमे स्पष्टत' यह कहा गया है कि वैश्य की सहायता के अभाव मे यज्ञ सफल नही होते।[१] यज्ञमूलक धर्म शूद्रो के लिये दुष्कर था किन्तु उन्हे तो सास्कृतिक पार्थक्य एवं आर्थिक हीनता के कारण नियमत यज्ञ कर्म से वहिष्कृत कर दिया गया था।[२]

उपनिषत्कालीन दार्शनिक चिन्तन-धारा के विकास के पीछे कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञ सस्था के विरुद्ध होने वाली सामाजिक प्रतिक्रिया थी जिसका मुखर रूप आरण्यकों में द्रष्टव्य है। जिज्ञासु एव बुद्धिजीवी जनो ने कर्मकाण्डो की स्थूलता एव बाह्याडम्बर में अन्तर्निहित सत्य को ढूढने का प्रयास किया। फलत कालक्रमेण देवयजन के समक्ष आत्मयजन की श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई। कर्म से विद्या का अधिक महत्त्व शीघ्र ही समझा और घोषित किया गया।[३]

यज्ञों का विकास एव विस्तार

यज्ञ उत्तर-वैदिक धर्म का मेरुदड है। अग्नि में नाना देवताओं को उद्दिष्ट कर हविष्य अथवा सोमरस का हवन यज्ञ के नाम से अभिहित किया जाता है। नृतत्त्ववेत्ताओ ने यज्ञों के विकास के पीछे अनेक मूलभूत कारणों का उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ वलिदान (Gift offering) पितृ-पूजा (Ancestor-Worship) उर्वरतामूलक अनुष्ठान (fertility rite) देवता से सामीप्य स्थापन (Communion with deity) तथा पापो से मुक्ति आदि यज्ञ के प्रमुख प्रेरक तत्त्व माने गये हैं।[४] इनमे से प्राय प्रत्येक के समर्थक प्रमाण ब्राह्मणो मे उपलब्ध होते हैं।[५] यजुर्वेद तथा ब्राह्मणों मे यज्ञ-सस्था का साम्राज्य है तथा उसके

---

१ ऐत० ब्रा० १ ६

२, शत० ब्रा० ३ १ १.१०

३ स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० २७६-८०

४ द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० ३५३-२७८

५. द्रष्टव्य—रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० २५७ और उसके आगे। अश्वमेध उर्वरतामूलक यज्ञ है। पिण्ड-पितृयज्ञ में पितृपूजा स्पष्ट है। इसी प्रकार 'इडाभक्षण' अनुष्ठान देवता से सामीप्य की भावना का सकेत करता है। वलिदान तथा पाप से मुक्ति का भाव तो विविध यज्ञों मे प्रकट रूप से विद्यमान है।

नाना अनुष्ठानो का इतना सूक्ष्म वर्णन है कि पाठक को आश्चर्यचकित हो जाना पडता है। इस संस्था के सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन के लिए श्रौत एवं गृह्य सूत्रो की सहायता भी अपेक्षित है। उत्तर वैदिक युग में यज्ञ बहुत ही व्ययसाध्य, विस्तृत एवं रहस्यात्मक हो गये थे। कुछ यज्ञ महीनो तथा वर्षों तक चलते थे। इनका सम्पादन अधिकाशत सासारिक सुख एवं ऐश्वर्य के लिये होता था। इनमे अन्तर्निहित वणिक-वृत्ति (लेन-देन का भाव) यजुर्वेद तथा ब्राह्मणो मे अनेकत्र मुखरित है।[1] इस युग मे सब कर्मों मे यज्ञ को श्रेष्ठ माना गया।[2] यज्ञ से सृष्टि के निर्माण की बात ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त मे ही मिलती है जिसे प्रकारान्तर से ब्राह्मणो में अनेकश दुहराया गया है।[3] यज्ञ को पाप से मुक्ति के सर्वश्रेष्ठ साधन के रूप मे भी प्रतिष्ठित किया गया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार अग्निहोत्र अनुष्ठान से प्राणी अपने सब पापो से मुक्त हो जाता है।[4] इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र कहा गया है कि अश्वमेध करने वाला अपने समस्त पापो को तथा ब्रह्महत्या को दूर भगा देता है।[5] गोपथ ब्राह्मण मे एक सुन्दर उपमा द्वारा इस पापमोचन के तत्व को समझाया गया है। इसके अनुसार जिस प्रकार साप अपनी पुरानी केंचुल से छूट जाता है तथा 'इषीका' मूज से छूट जाती है उसी प्रकार शाकला का हवन करने वाला समस्त पापो से छूट जाता है।[6] उत्तर-वैदिक साहित्य में इस बात का प्रचुर सकेत है कि यज्ञ देवताओ से भी अधिक महत्वपूर्ण मानेजाते थे। इस युग के प्रमुख देवताओ को यज्ञ का आध्यात्मिक प्रतीक माना गया। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यज्ञ प्रजापति का ही प्रत्यक्ष रूप है।[7] इसी प्रकार विष्णु तथा आकाश मे देदीप्यमान आदित्यो का भी तादात्म्य यज्ञ से स्थापित किया गया।[8] पचविश ब्राह्मण के एक प्रसग मे तो यह भी कहा गया है कि

---

१. वाज० सं० ३ ५०, शत० ब्रा० ३ ५ ३ १६
२ शत० ब्रा० १.७ ३.५, यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म।
३ ताण्डय ब्रा० ६ १
४ शत ब्रा० २ ३. १. ६
५. शत० ब्रा० १३ ५. ४. १
६ गो० ब्रा० ४ ६
७. शत० ब्रा० ४. ३ ४ ३, एपवै प्रत्यक्ष यज्ञो यत् प्रजापति।
८ शत० ब्रा० ५ २ ३ ६, ५. ४ ५. १, १४. १. १ १६

यज्ञ द्वारा ही देवता तेज एवं शक्ति प्राप्त करते हैं।[1] उत्तर वैदिक साहित्य मे यज्ञ द्वारा देवताओं को वाध्य एवं वशीभूत करके इच्छानुकूल फल के प्राप्ति की बात अनेकत्र कही गई है।[2]

इस युग में अनेक यज्ञो में ऋत्विक् के कर्मों का चतुर्धा विभाजन दृष्ट होता है। होता नामक ऋत्विक् ऋक्संहिता के ऋचाओं का पाठ करता था। अध्वर्यु कर्म का भार सम्हालता था तथा यजुर्वेद से सम्बद्ध होता था। उद्गाता सामगान करता था और ब्रह्मा समस्त यज्ञ कर्म का अध्यक्ष होता था। उसका सम्बन्ध अथर्ववेद से था। सोम यज्ञों मे पुरोहितो की सख्या सोलह तक होती थी जो विविध कर्मों को सम्पादित करते थे। इनमे मुख्य ऋत्विजों के तीन-तीन सहायक हुआ करते थे।

उत्तर-वैदिक काल में यज्ञों की सख्या मे अतिशय विस्तार हुआ तथा स्थूलरूपेण उनके वर्गीकरण का भी प्रयास किया गया। अग्नि प्रमुखतया दो प्रकार की मानी गई--स्मार्ताग्नि और श्रौताग्नि।

यज्ञों का वर्गीकरण

इनमें प्रथम अग्नि कीस्थापना प्रत्येक विवाहित व्यक्ति के लिये कर्तव्य है। इस गृह्याग्नि मे क्रियमाण यज्ञ पाक-यज्ञ कहलाता है, जिसके अन्तर्गत औपासन होम, वैश्वदेव, पार्णव, अष्टका मासिक, श्राद्ध, श्रवण, शूलगव आदि सात यज्ञों की गणना हुई है। ये यज्ञ साधारण और सरल हैं। श्रौत यज्ञों को हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ इन दो भागो में विभाजित किया गया है।[3] हविर्यज्ञ के अतर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रयण, निरुढ-पशु बन्ध, सौत्रामणी और पिण्ड-पितृयज्ञ माने गये हैं। इसी प्रकार सोमयाग के अन्तर्गत अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम का उल्लेख है। पुनश्च यज्ञों का विभाजन एकाह, अहीन और सत्र में हुआ है। ब्राह्मण युग में राजसूय और अश्वमेध सर्वाधिक महत्वपूर्ण सोम-यज्ञ माने गये। राजाओ की शक्ति एवं प्रभुत्व में वृद्धि के साथ-साथ राजनैतिक महत्व के इन यज्ञो की महत्ता में वृद्धि स्वाभाविक थी। ब्राह्मण युग तक सोम-यज्ञो के लिये विस्तृत चितियों के निर्माण पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

---

१ पच० ब्रा० १. ८ ४१

२ तै० सं० २ ३, १ ५, प० ब्रा० ६ २ २२

३ काणे, हिस्टरी आव धर्मशास्त्र, जिल्द २, भाग २, पृ० ९७६
कीथ, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २
विन्टरनित्स, हिस्टरी आव इण्डियन लिटरेचर, भाग १, पृ० २७१

अग्निहोत्र प्रतिदिन प्रातःकाल और सन्ध्याकाल में अग्नि की उपासना है जिसमें मुख्यतः दूध की तथा गौणतः यवागू, तण्डुल, दधि और घृत की आहुति दी जाती थी। ब्राह्मण-साहित्य में अग्निहोत्र के उद्देश्य एवं महत्व पर नैमत्य है। यह प्रायः स्वीकृत है कि इसका उद्देश्य अंशतः उदीयमान सूर्य की सहायता करना है।[१] इसे पापों से मुक्त करने वाला तथा स्वर्ग ले जाने के लिये उत्तम नाव माना गया।[२] सूर्य के विषय मे यह विश्वास था कि वह शाम की अग्नि में समाहित हो जाता है।[३] इस आधार पर अनेक कल्पनायें की गईं। अग्निहोत्र के अनेक तत्वो की प्रतीकात्मक व्याख्या भी हुई।[४] जनक को इस बात का श्रेय दिया गया है कि उन्होंने अग्निहोत्र की प्रक्रिया को द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी, पुरुष एवं स्त्री मे ढूढने का प्रयास किया।[५] इस प्रसग मे अग्निहोत्र की दार्शनिक व्याख्या का प्रयास दिखाई देता है।

अग्निहोत्र

दर्श और पूर्णमास यज्ञ को अन्य सभी इष्टियों की प्रकृति माना गया है। दर्श पूर्णमास याग क्रमशः अमावस और पूर्णिमा को किये जाते थे। दर्श मे आग्नेय पुरोडाश याग, इन्द्र देवताक दधिद्रव्यक याग तथा इन्द्रदेवताक पयोद्रव्यक याग, ये तीन भाग होते हैं। पौर्णमास में अग्नि देवताक अष्टाकपाल पुरोडाश याग, अग्निषोमीय आज्यद्रव्यक उपांशुयाग, तथा अग्निषोमीय एकादश कपाल पुरोडाश याग, ये तीन भाग होते हैं। इस प्रकार छः यागों की समष्टि दर्शपूर्णमास के नाम से प्रसिद्ध है। दर्श में अग्नि और इन्द्र प्रमुख देवता हैं और पूर्णमास मे अग्नि और सोम। सोम और अग्नि के इस विचित्र सम्पर्क ने विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया है।[६] सम्भवतः

दर्श और पूर्णमास

१ द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, पृ० ३१८

२. शत० ब्रा० १, पृ० १९१ (अच्युत ग्रन्थमाला)

३ शत० ब्रा० १ पृ० १७८ (,,)

४. शत० ब्रा० २, पृ० ११७४ (,,)

५ शत ब्रा० १, पृ० २५० (,,)

६. ओल्डेनबर्ग का मत, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३२१ पर उद्धृत

लोगों का ऐसा विश्वास था कि दर्श यज्ञ के सम्पादन से चन्द्रमा के पुनरोदय एवं वृद्धि में सहायता मिलती है।[१]

चातुर्मास्य

चार-चार मासों में अनुष्ठेय होने के कारण इसका यह नामकरण है। इसका सम्बन्ध स्पष्टतः ऋतुओं से है। इसमे चार पर्व होते हैं। वैश्वदेव का फाल्गुनी पूर्णिमा को तथा वरुण-प्रघास का सम्पादन आषाढ़ी पूर्णिमा को होता था। साकमेध चार मासो के अनन्तर कार्तिकी पूर्णिमा को तथा शुनासीरीय फाल्गुन शुक्ल प्रतिपदा को अनुष्ठेय थे। वरुण-प्रघास का सम्बन्ध स्पष्टतः पापमोचन से है।[२] शुनासीरीय कृषि कर्म से सबंधित अनुष्ठान है।[३] यह भी कहा गया है कि वैश्वदेव अग्नि से सायुज्य प्राप्त कराता है, वरुण-प्रघास वरुण से तथा साकमेध इन्द्र से। साकमेध अनुष्ठान मे त्र्यम्बक को बलि चढ़ाने की महत्वपूर्ण बात कही गयी है। उन्हे बलि चौराहे पर दी जाती थी। इस अवसर पर एक पिण्ड उत्तर की दिशा में चींटियो के कुण्ड पर फेंक दिया जाता था तथा कहा जाता था 'हे रुद्र यह तुम्हारा भाग है'। इस प्रसग मे आगे रुद्र से मूजवन्त के उस पार जाने को कहा जाता है।[४] साकमेध का यह प्रसग दो बातों को सूचित करता है। प्रथम यह कि उत्तर-वैदिक ऋत्विज समाज की दृष्टि मे रुद्र की स्थिति अन्य देवताओं से पृथक् थी। दूसरे उनको बलि भी आदिम-विधि से प्रदत्त की जाती थी तथा यजमान-बलि द्वारा उन्हें दूर करने का प्रयास करता था।

आग्रयण

आग्रयण इष्टि का प्रयोजन स्पष्ट है। नवीन उत्पन्न द्रव्य (धान तथा यव) से शरद तथा वसन्त में यह इष्टि विहित है। यह नित्य इष्टि है। इसकेअनुष्ठान के पश्चात् ही आहिताग्नि नये अन्न को खाता है।

---

१ शत० ब्रा० २, पृ० ११२६ ६७ (अच्युत ग्रंथमाला)

२ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३२२

३. कीथ, पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, भाग २, पृ० ३२३

४. द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आफ दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३२२

पशु-यज्ञ प्रति वत्सर वर्षाऋतु में करने का विधान था। कही-कही उत्तरायण के तथा दक्षिणायन के आरम्भ में दो बार भी विकल्प से अनुष्ठान विहित है। द्रव्य है छाग और वह भी प्रत्यक्ष नही, प्रत्युत उसके वपा, हृदय, वक्ष यकृत आदि नाना अंगो का होम इन्द्राग्नि, सूर्य, अथवा प्रजापति के उद्देश्य से अग्नि मे विहित है। खदिर अथवा बिल्व के वृक्ष में छाग को बाँध कर सज्ञपन करते हैं। तदनन्तर अगविशेषो को निकाल कर यज्ञ मे हवन करते हैं। क्रमश पशुवध में होने वाली हिंसा की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट हुआ।[1] अत पुरोहितों ने पशु-यज्ञ को रहस्यात्मक (Mystical) और मिथ्याभिचारिक (Quasi-Magical) स्वरूप प्रदान करने का प्रयास भी किया।[2]

निरुढ पशु बन्ध

यद्यपि सूत्र-साहित्य मे सौत्रामणी को हविर्यज्ञ के अन्तर्गत स्थान दिया गया है किन्तु यह याग सोम-यज्ञ के अधिक निकट प्रतीत होता है।[3] इसमें पशु और सुरा की बलि दी जाती थी। हिलेब्रान्त इसे ब्रह्मणेतर अनुष्ठान मानते हैं जिसे सोम-यज्ञ के अनुसार परिष्कृत एव सज्जित किया गया किन्तु कीथ महोदय ने इस मत की सतर्क आलोचना की है। वे इसका मूल इन्द्र सबधी पुराकथा मे आधारित मानते हैं।[4] स्वतत्र और अगभूत होने से यह इष्टि दो प्रकार की होती है। स्वतत्र याग में ब्राह्मण का ही तथा अगभूत मे क्षत्रिय एव वैश्य का अधिकार माना गया है। पशु तीन होते हैं—अज, मेष और ऋषभ तथा देवता भी यथाक्रम अश्विनी, सरस्वती और इन्द्र होते हैं। प्रारम्भ में 'सौत्रामण्या सुराग्रह' सम्भवत एकान्त नियम था किन्तु आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में 'पयोग्रहा वा स्यु' 'नियम भी विकल्पतः मिलता है।[5]

सौत्रामणी

---

१ शाखायन ब्राह्मण ११ १३ में कहा गया है कि यज्ञ में हिंसित पशु दूसरे लोक में जाकर यज्ञकर्ता को खाते हैं।

२ शत० ब्रा० १ ३७९, ३८४ (अच्युत ग्रथमाला)

३ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३५२।

४. कीथ, पूर्वनिर्दिष्ट पुस्तक, भाग २, पृ० ३५३-५४, अतिशय सोम-पान से इन्द्र रुग्ण हुये तथा अश्विनी और सरस्वती के प्रयत्न से स्वस्थ हुये।

५. आप० श्रौ० सू० १९ २ २३

पितृ यज्ञ के अन्तर्गत बलि द्वारा पितरो को सन्तुष्ट किया जाता था। इस यज्ञ के प्रसग में पारिवारिक तथा श्रौत अनुष्ठानों मे नितान्त साम्य है।

पिण्डपितृयज्ञ

पितृ यज्ञ के स्वरूप के अध्ययन से यह बात प्रकट होती है कि पितरो तथा देवताओं के प्रति लोगो के भाव में पर्याप्त अन्तर था।[१] देवताओ के प्रति किये गये यज्ञ में जहाँ फल-प्राप्ति की कामना प्रमुख थी वहीं पितृयज्ञ के मूल में पूर्वजो के प्रति श्रद्धा-भाव ही मुख्य प्रेरक तत्व था।

सोम यज्ञ

सोम यज्ञों की विशालता एव जटिलता विशेष उल्लेखनीय है जो विशेषत वाजपेय, अश्वमेघ तथा राजसूय इत्यादि राजनैतिक महत्व के यज्ञो में पराकाष्ठा पर पहुँच गई है। सोम रस की आहुति देने से इन यज्ञों को सोम-याग के अन्तर्गत माना गया है। वाजपेय प्रारम्भ में एक क्षत्रिय अनुष्ठान था जिसका लक्ष्य विजय प्राप्त करना था।[२] वैसे ब्राह्मण साहित्य में इसका सम्पादन ब्राह्मणो के लिये भी विहित है। इंगुप्रासन, अजिधावन, दुन्दुभिवादन, आदि इसके प्रमुख तत्व हैं। यूपारोहण जैसे अनुष्ठानों को सम्भवत बाद में जोडा गया।[३] अश्वमेध यज्ञ के सौर और उर्वरतामूलक अनुष्ठान होने के चिन्ह स्पष्ट हैं। इस दृष्टि से मेध्य अश्व तथा राजमहिषी का समागम उल्लेखनीय है।[४] मूलत अश्वमेध यज्ञ का उद्देश्य उर्वरता के कारणभूत वसन्त के सूर्य के आगमन पर उत्सव मनाना था।[५] कालक्रमेण यह यज्ञ राजाओं के दिग्विजय से सम्बन्धित किया गया। राजसूय के अन्तर्गत राजा के अभिषेक तथा उससे सम्बन्धित अनेक अनुष्ठानों का सकलन है। अभिषेचन, द्यूतक्रीडा, रथ-धावन, तथा रत्नहविषी आदि इसके प्रमुख तत्व हैं। इस यज्ञ के प्रसग में प्रयुक्त प्रतीक, प्रतिज्ञा तथा

---

१ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, भाग, २, पृ० ४३१

२ गो० ब्रा० ५ ८

३. द्रष्टव्य, स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, पृ० २७०

४ शत० ब्रा० १३ ५ २ २

५ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० २४६

आशीष राजनैतिक संगठन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। साथ ही उनसे तत्कालीन सामाजिक संगठन, विशेषतः 'वर्णों' के पारस्परिक सम्बन्ध एवं उनकी तुलनात्मक स्थिति पर भी प्रकाश पडता है।

अग्निष्टोम

'यज्ञा यज्ञा वो अग्नये' (ऋ० ४८ १) ऋचा पर सामगान अग्निष्टोम कहलाता है। इस साम के अन्तिम होने से यह याग कहलाता है 'अग्निष्टोम संस्था' और लघुता की दृष्टि से केवल 'अग्निष्टोम'। यह याग पाच दिनो तक चलता है। ऐष्टिक वेदि मे आनुषंगिक इष्टियो का तथा सौमिक वेदि मे प्रधान इष्टियो का अनुष्ठान किया जाता है। प्रकृति याग होने से इसका विशेष महत्व है। बारह शस्त्रो का प्रयोग इसकी विशेषता है। हिलेब्रान्त महोदय इस अनुष्ठान को वसन्तोत्सव से सम्बन्धित मानते हैं किन्तु इस मत के पक्ष मे प्रमाणो का अभाव है।[1]

उक्थ्य

इसका स्वरूप भी बहुत कुछ अग्निष्टोम के समान ही है। इसमे पूर्व याग से तीन शस्त्र अधिक होते हैं। शस्त्रों एव स्तोत्रो की सख्या पन्द्रह होती है। दो पशुओ की बलि दी जाती है।

षोडशी

इस दृष्टि मे उक्थ्य के अनन्तर एक षोडशी नामक स्तोत्र और विद्यमान रहता है। पन्द्रह स्तोत्रों को गर्भित कर एक और स्तोत्र की सत्ता इसकी विशिष्टता है। यह स्वतन्त्र क्रतु नहीं है इसलिये अग्निष्टोम की भाति इसका अनुष्ठान पृथक् रूप से नहीं होता है। इसमे मेध्य पशुओ में तीसरे पशु (मेष) भेडा का भी उल्लेख है।

अतिरात्र

षोडशिस्तोत्र के अनन्तर अतिरात्र सञ्ज्ञक सामों का गायन इस याग के अन्त मे होता है। इसमे उन्तीस स्तोत्र और शस्त्र होते हैं। इसका सम्पादन रात्रिकाल मे होता है तथा इसमें मेध्य पशुओ की सख्या चार होती है।

उपर्युक्त चारों यागो का सामूहिक अभिधान ज्योतिष्टोम है।[2] प्राचीनतर संहिताओं में अत्यग्निष्टोम, आप्तोर्याम और वाजपेय की गणना ज्योतिष्टोम

---

1. रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३२७
2. तै० ब्रा० १ ५ ११

के अन्तर्गत नही हुई है। सम्भवत बाद मे संख्या को सात करने के लिए इन्हें जोड दिया गया[1] क्योंकि सात की सख्या परम्परागत रूप से शुभ एव पवित्र मानी जाती थी।

अत्यग्निष्टोम — इसमें अग्निष्टोम के अन्तर्गत बिना उक्थ्य किये ह षोडशी का विधान किया जाता है। इसमें तेरह शस्त्र एव स्तोत्र होते हैं। अग्निष्टोम तथा अत्यग्निष्टोम में कोई विशेष अन्तर नही है।

आप्तोर्याम — आप्तोर्याम को यत्र-तत्र अतिरात्र के साथ अहीन यज्ञों के अन्तर्गत माना गया है तथा अन्यत्र इसकी गणना एकाह यज्ञों मे हुई है। अतिरात्र के सन्धि स्तोत्र तथा आश्विन शस्त्र के बाद इसमें क्रमश चार स्तोत्र और शस्त्र अधिक जोडे गये हैं।[2]

पुरुषमेध — सोम यज्ञों में सर्वाधिक जटिल, विकृत एवं वीभत्स पुरुषमेध तथा अग्नि-चयन के प्रसग में चिति-निर्माण से सम्बन्धित पच-पशु यज्ञ है। पुरुषमेध के अन्तर्गत तो मनुष्य की बलि का विधान है ही,[3] साथ ही चिति-निर्माण में मेध्य पाच पशुओं के अन्तर्गत भी मनुष्य की गणना हुई है।[4] शुक्ल यजुर्वेद तथा कृष्ण यजुर्वेद के ब्राह्मणो एव सूत्रों मे पुरुषमेध तथा अग्निचयन का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उससे प्रकट होता है कि उत्तर-वैदिक युग मे नरमेध सैद्धान्तिक रूप से स्वीकृत था। इस प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वान नरमेध यज्ञ को पूर्णतः प्रतीकात्मक मानते हैं।[5] किन्तु इसके विपरीत विद्वानो का दूसरा पक्ष म शत वास्तविक नर-बलि की प्रथा का प्रचलन

---

१ आप० श्रौ० सू० १४.१४, का० श्रौ० सू० १०.९ २८

२ द्रष्टव्य, कीथ पूर्व निर्दिष्ट पुस्तक, भाग २, पृ० ३२६

३ शत० ब्रा० १३ ६ २ १, यदस्मिन मेध्यान्पुरुषानालभते तस्मादेव पुरुषमेध।

४. शत० ब्रा० ६ २ १ १८

५ ईग्लिग, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, भाग ४४, पृ० ३४,
कीथ, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३६२

स्वीकार करता है।[1] मित्र महोदय (R.L. Mitra) के मतानुसार तैत्तिरीय शाखा के अन्तर्गत पुरुषमेध का स्वरूप कथमपि प्रतीकात्मक नही था जब कि शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण शतपथ के अनुसार सभी मेध्य मनुष्य प्रतीकात्मक अनुष्ठान के पश्चात् मुक्त कर दिये जाते थे।[2] किन्तु उनका यह मत भी पूर्णत निरापद नही है। ब्राह्मण एव सूत्र साहित्य के अध्ययन से जो स्थिति स्पष्ट होती है उससे सूचित है कि कृष्ण यजुर्वेदीय एव शुक्ल यजुर्वेदीय दोनो शाखाओ के अनुसार पर्यग्निकरण के पश्चात् कुछ मनुष्य मुक्त कर दिये जाते थे तथा बाकी का बलिदान होता था। कात्यायन श्रौत सूत्र मे मेध्य मनुष्यो की मुक्ति के प्रति विशेष उदारता प्रदर्शित की गई है तथा विकल्पतः उनके स्थान पर हिरण्य पुरुष तथा मृण्मय पुरुष को भी ग्राह्य बताया गया है।[3] असम्भव नही है कि यह श्रौतसूत्र नवोदित अहिंसा के सिद्धात से प्रभावित होने के कारण अग्निचयन की परम्परागत प्रक्रिया मे कुछ शिथिलता का आरोप करता हो। हिलेब्रान्त महोदय पुरुषमेध के प्रचलन को स्वीकार करते हुए भी इतने बडे मानव-समूह का वध सन्दिग्ध मानते हैं जिसका वर्णन वाजसनेयी सहिता, शतपथ ब्राह्मण तथा अन्य ग्रन्थो में हुआ है।[4] सैकडो की सख्या मे मनुष्यो की बलि आश्चर्यजनक एवं असम्भाव्य होते हुये भी असम्भव नही है। यूरोपीय आर्यजातियो मे 'ओथिन सम्प्रदाय' (कल्ट आफ ओथिन) के अन्तर्गत भी बहुसख्यक मनुष्यो की बलि दी जाती थी। इस प्रसग मे निन्यानवे मनुष्यो और अश्वो के बध का उल्लेख मिलता है।[5] इस सख्या को देखते हुये वाजसनेयी सहिता मे उल्लिखित एक सौ चौरासी तथा शतपथ ब्राह्मण में उल्लिखित एक सौ छाछठ मेध्य मनुष्यों की सख्या भी स्वीकार की जा सकती है, विशेषत इसलिये कि पुरुषमेध के प्रसग में उल्लिखित सभी मनुष्यो का वध नही होता था। उनमें से बहुसख्यक पर्यग्निकरण के पश्चात् उसी प्रकार छोड दिये जाते थे जिस प्रकार अश्वमेध मे बनैले पशु।[6] प्राचीन आर्य

---

१. वेबर और हिलेब्रान्त का मत, जी० आर० शर्मा, एक्सकेवेशन्स एट कौशाम्बी, पृ० ११७ पर उद्धत

२. जे० ए० एस० बी०, १८७६, पृ० १०३

३ कात्या० श्रौ० सू० १६ ३२,

४. वाजसनेयी सहिता मे मेध्य मनुष्यो की सख्या १८४ तथा शत० ब्रा० में १६६ बताई गई है।

५ चादविक, दि कल्ट आॅव ओथिन, पृ० २४

६ शत० ब्रा० १३.६ २.१, तुलनीय आप० श्रौ० सू० २० १७ ५

जातियों में पुरुषमेध का प्रचलन सुविदित है।[१] किन्तु यह आदिम एवं बर्बर परम्परा ऋग्वैदिक संस्कृति में मृतप्राय है। यह बात शुनःशेप की मुक्ति तथा उसकी कथा में अन्तर्निहित करुणोत्पादन के उद्देश्य द्वारा सूचित होती है। सम्पूर्ण ऋग्वेद में पुरुष-सूक्त के अतिमानवीय पुरुषमेध को छोड़कर वास्तविक पुरुषमेध का उल्लेख कहीं नहीं है।[२] उत्तर वैदिक काल में इस प्राचीन एवं आदिम परम्परा का उन्मज्जन बहुत ही आश्चर्यजनक है।[३] पुरुषमेध यज्ञ के स्वरूप, उद्देश्य तथा इसकी सामाजिक मान्यता के ज्ञान-हेतु उत्तर-वैदिक साहित्य में उपलब्ध इसके विधि विधानों का संक्षिप्त अध्ययन और विवेचन भी कर्तव्य है।

सामान्यतः पुरुषमेध यज्ञ पांच दिन तक चलता था।[४] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार यह चालीस दिनों तक भी चल सकता है।[५] जिस प्रकार अश्वमेध में अश्व प्रधान मेध्य पशु है उसी प्रकार पुरुषमेध में मनुष्य। इस यज्ञ की सम्पादन-पद्धति भी अश्वमेध पर ही आधारित है।[६] सत्याषाढ श्रौतसूत्र में कहा गया है कि पुरुषमेध के अधिकारी ब्राह्मण और राजा ही होते हैं।[७] इसी प्रकार कात्यायन श्रौत सूत्र में भी पुरुषमेध के अधिकारी ब्राह्मण और क्षत्रिय माने गये हैं।[८] पुरुषमेध के लिये एक ब्राह्मण या क्षत्रिय को सहस्र गायें और सौ घोड़े देकर खरीदने का विधान था।[८अ] यदि क्रय के माध्यम से कोई व्यक्ति उपलब्ध न हो तो किसी शत्रु को जीत कर उसकी बलि देनी

---

१ श्रोदर, प्रिहिस्टारिक एण्टिक्विटीज आव दि आर्यन पिपुल्स, यफ० बी० जेवन्स का अनुवाद, पृ० ४२२

२ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३४७

३ अथर्ववेद ११ २ ६ में रुद्र को पुरुष-बलि देने का प्रारम्भिक उल्लेख मिलता है।

४ शत० ब्रा० १३.६ १ १, पञ्चाह पुरुषमेध।

५. शत० ब्रा० १३ ६ १ २

६ शाखा० श्रौ० सू० १६ १० २, सर्वमाश्वमेधिकम्

७ सत्या० श्रौ० सू० १४ ६ १, राजा ब्राह्मणों वा

८ आप० श्रौ० सू० २० २४ २, ब्राह्मणो राजन्यो वा यजेत। का० श्रौ० सू० २५ २

८अ शाखा० श्रौ० सू० १६ १० ६, ब्राह्मण क्षत्रियं वा सहस्रेण शताश्वेनावक्रीय

चाहिये।[1] यदि उसकी पत्नी अवरोध करे तो उसकी सम्पत्ति छीन लेने तथा अब्राह्मणी होने पर उसकी हत्या करने की बात भी कही गई है।[2] इस प्रकार प्राप्त पुरुष को स्नानादि द्वारा पवित्र करके एक वर्ष तक स्वतत्र छोड देने की व्यवस्था थी। उस काल मे वह ब्रह्मचर्य का भग नही कर सकता था।[3] वर्ष के पूरा होने पर इन्द्र और पूषन को पशु-बलि दी जाती थी।[4] शुन शेप काक्षीवन्त आदि से सम्बन्धित नाराशसी का पाठ होता था।[5] शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन श्रौत सूत्र तथा आपस्तम्ब श्रौत सूत्र मे पुरुष मेध के लिये ग्यारह यूपो का विधान है।[6] किन्तु शाखायन श्रौत सूत्र मे पच्चीस यूपो के निर्माण का उल्लेख है।[7] पुरुष मेध का सर्वाधिक महत्वपूर्ण अनुष्ठान तीसरे दिन होता था। इस अवसर पर मेध्य पुरुषो को त्रिविध-यूपो मे बाधा जाता था।[8] पुरोहित यूपबद्ध मनुष्यो की ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के मत्रो के माध्यम से प्रशसा करता था। इससे पुरुषमेध एव पुरुष सूक्त का सम्बन्ध प्रकट होता है। इसके पश्चात् मेध्य मनुष्यो का पर्यग्निकरण होता था।[9] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार पर्यग्निकृत मनुष्य मुक्त कर दिये जाते थे तथा केवल ग्यारह मनुष्यो का वध होता था जो पर्यग्निकृत नही होते थे।[10] अश्वमेध यज्ञ मे भी पर्यग्निकृत पशुओं को मुक्त करके ही अश्व वध होता था।[11] ब्राह्मणों तथा सूत्रो के अध्ययन मे इतना सुनिश्चित है कि कर्मकाडीय साहित्य में वास्तविक पुरुषमेध का विधान था किन्तु यह कहना निश्चित ही कठिन है कि समाज द्वारा इस प्रकार के अमानुषिक यज्ञों को कितनी मान्यता प्राप्त थी। यह यज्ञ अवश्य ही जनसाधारण के घृणा एवं भयमिश्रित

---

१ वैतान श्रौ० सू० ७ ३७ १६, सपत्न विजित्य तेन यजेत
२ शाखा० श्रौ० सू० १६ १० ९ सवत्सरायोत्सृजन्ति
३ शा० श्रौ० सू० १६.१० ९ सर्वकामिनमन्यत्रा ब्रह्मचर्यात
४ वैतान श्रौ० सू० ७ ३७ २१
५ शाखा० श्रौ० सू० १६ ११
६. शत० ब्रा० १३.६ १.६, कात्या० श्रौ० सू० २१.४, यूपैकादशिनी भवति
७ शाखा० श्रौ० सू० १६ १२ ६
८. कात्या० श्रौ० सू० २१ ७-९
९ शत० ब्रा० १३ ६-२ १२
१०. शत० ब्रा० १३.६ २ १३ १५, एकादशिनं सस्थापयति
११. आप० श्रौ० सू० २० १७.५

अश्रद्धा का विषय रहा होगा। ब्राह्मणसाहित्य मे किसी राजा द्वारा पुरुषमेध के सम्पादन का उल्लेख नहीं मिलता। प्राय सर्वत्र इसका सैद्धान्तिक विवरण ही उपलब्ध होता है। सम्भव है कि पुरोहितो के प्रभाव से आक्रान्त किसी राजा ने पुरुषमेध को व्यावहारिक रूप भी दिया हो, किन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में निश्चायक साहित्यिक प्रमाण उपलब्ध नही हैं। कतिपय पुरातात्विक प्रमाण अवश्य उपलब्ध हैं जिनसे यह सूचित होता है कि पुरुषमेध की प्रथा व्यावहारिक जीवन मे भी सर्वथा अज्ञात नहीं थी।[१] पुरातात्विक साक्ष्यो का विवेचन अग्रिम पृष्ठों पर अग्निचयनके प्रसग मे किया जायगा। इसके पूर्व पुरुषमेध के उद्देश्य तथा इसके पीछे उपस्थितमूल भावना का अध्ययन आवश्यक है।

शतपथ ब्राह्मण मे पुरुषमेध के महत्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि इसके सम्पादन से 'पुरुष-नारायण' की स्थिति सर्वश्रेष्ठ हो गई। इसी प्रकार इसका यजमान भी सभी प्राणियो में श्रेष्ठ हो जाता है तथा सब कुछ प्राप्त करने में समर्थ हो जाता है।[२] सत्याषाढ श्रौत सूत्र में यह भी कहा गया है कि सभी प्राणियों मे ज्येष्ठ्य, तथा श्रेष्ठ्य तथा स्वाराज्य एव आधिपत्य का इच्छुक व्यक्ति पुरुषमेध करे।[३] शाखायन श्रौत सूत्र में कहा गया है कि प्रजापति को जो अश्वमेध से नही प्राप्त हो सका उसे पुरुषमेध द्वारा प्राप्त किया।[४] गोपथ ब्राह्मण में राजनैतिक महत्व के यज्ञों का उल्लेख करते हुये राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध द्वारा प्रजापति के क्रमश राजा, सम्राट, स्वराट, विराट, और सर्वराट होने की बात कही गई है।[५] इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि पुरुषमेध के सम्पादन का उद्देश्य इच्छानुकुल फल प्राप्त करना था किन्तु यज्ञ की मूल धार्मिक प्रेरणा ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त (१० ९०) में उल्लिखित विराट-पुरुष की बलि से ली गई है। यह बात अग्निचयन के प्रसग में अधिक स्पष्ट है। ब्राह्मणो एव सूत्रों में ऐसे अनेक सकेत हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि अग्निचयन का उद्देश्य जैस प्रजापति

---

१ शर्मा, जी० आर० एक्सकेवेसन्स एट कोशाम्बी, अध्याय ८, पृ० ८७-१२६

२ शत० ब्रा० १३ ६, १. १

३ सत्या० श्रौ० सू० १४ ६. १

४ शाखा० श्रौ० सू० १६ १०. १, प्रजापतिरश्वमेधेनेष्ट्वा पुरुषमेधमपश्यत्। तस्य यदनाप्तमश्वमेधेनासीत्तत्सर्वं पुरुषमेधेनाप्नोत।

५. गो० ब्रा० ५. ८

का उद्धार एव पुनर्निमाण करना था, को पुरुष के रूप मे बलिदान होकर सृष्टि के निर्माण के कारण बना।[१] इसीलिये प्रजापति का तादात्म्य यज्ञ वेदी से भी स्थापित किया गया है।[२]

पुरुषमेध का सकेत अग्निचयन के प्रसग मे भी हुआ है। अग्निचयन में चितिनिर्माण के समय जो पचपशु वध होता था उसमें घोडा, बकरा, भेंडा तथा सांड़ के साथ मनुष्य भी विद्यमान है। अग्निचयन को सोम याग का एक अग माना गया है।[३] अग्निचयन महाव्रत यज्ञ के लिये अनिवार्य तथा अन्य सोम यज्ञो के लिये ऐच्छिक था।[४] अग्निचयन के लिये एक वर्ष की अवधि निर्धारित है।[५] उत्तर-वैदिक साहित्य मे अनेक प्रकार की चितियो का उल्लेख हुआ है। तैत्तरीय ब्राह्मणमे चन्दश्चिति, श्येनचिति, अलजाचिति आदि दस चितियों का उल्लेख है जिनका उद्देश्य क्रमश पशुप्राप्ति, स्वर्ग प्राप्ति, प्रतीष्ठा-प्राप्ति आदि बताया गया है।[६]

चिति-निर्माण के प्रसंग में पन्च पशुवध का जो विधान है उसके यथा-विधि पालन पर शतपथ ब्राह्मण बल देता है।[७] किन्तु अन्यत्र इसी ग्रथ मे विकल्पत यह भी कहा गया है कि केवल अज की बलि से ही पाचो पशुओं का प्रतिनिधित्व हो जाता है।[८] बौधायन श्रौत सूत्र के अनुसार मनुष्य का सिर वेदी मे रखने के लिये बिना उसकी हत्या किये भी युद्ध मे मृत व्यक्ति के शव से प्राप्त किया जा सकता है।[९] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र मे भी यह कहा गया है कि यह सिर विद्युत से मरे व्यक्ति अथवा तीर से मरे व्यक्ति का भी हो सकता है।[१०] कात्यायन ने तो हिरण्यमय या मृण्मय कपाल को विकल्पत-

---

१. शत० ब्रा० ५ १ २ १३
२ शत० ब्रा० ८. २, १, १८,
३. कात्या० श्रौ० सू० १६ १, हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, ग्रथ २, भाग २, पृ० १२४७
४. कात्या० श्रौ० सू० १६ २
५. शत० ब्रा० ६ १ २ २०
६. तै० ब्रा० ५ ४.११
७ शत० ब्रा० ६ २.१.३९
८. शत० ब्रा० ६.२ २.१५
९. बौ० श्रौ० सू० १० ९
१०. आप० श्रौ० सू० १६ ६.२, वैश्यस्य राजन्यस्य वेपुह्वतस्याशनिहतम्य वा ।

ग्राह्य बतलाया है।[1] ऐसी स्थिति में चितिनिर्माण के लिये मनुष्य-वध का प्रचलन प्राय अज्ञात अथवा अल्पज्ञात रहा होगा। अग्निचयन के प्रसंग मे यह भी उल्लेखनीय है कि इसका स्वरूप विशेषत तान्त्रिक, अभिचारपूर्ण तथा जटिल था। विविध आकार एव बनावट वाली दस हजार आठ सौ ईंटो का प्रयोग, कूर्म, सर्प, कमल-पत्र, हिरण्मय पुरुष तथा पञ्च पशुओ के कपाल की वेदी मे स्थापना, अग्निचयन के तान्त्रिक स्वरूप को व्यक्त करता है।

अग्निचयन और पुरुषमेध का सूचक विरल पुरातात्विक साक्ष्य कोशाम्बी के उत्खनन से प्राप्त हुआ है। श्री गोवर्धन राय शर्मा कोशाम्बी के पूर्वी द्वार पर स्थित पक्षी के आकार वाली वेदिका को पुरुषमेध से सम्बन्धित श्येन-चिति मानते हैं।[2] इस वेदी के उत्खनन में जो सामग्रिया उपलब्ध हुई हैं उनके आधार पर उनका कहना है कि इस वेदी का सम्बन्ध पुरुषमेध से था तथा इसका निर्माण याज्ञिक साहित्य में विहित नियमों के अनुसार हुआ था। इस वेदी पर न केवल अनेक मानव-कपाल और पशुओ की अस्थियां मिली हैं बल्कि उखा, सर्प की लोहाकृति, कूर्म, और अषाढा आदि इष्टिकायें भी उन्हें प्राप्त हैं। ये सभी वस्तुयें यजुर्वेदीय ब्राह्मणो तथा श्रौतसूत्रो के अनुकूल है। सर्वाधिक उल्लेखनीय अषाढा नामक इष्टिका पर उत्कीर्ण 'देवलक्ष्म' (पुरुमेध यज्ञ के चिन्ह स्वरूप यूपबद्ध मनुष्य का इष्टिका पर अकन) है। कोशाम्बी की इस वेदिका मे प्राप्त अषाढा नामक इष्टिका पर यूप से बधे मनुष्य का चित्र है जिसके झुकी हुई गर्दन पर कोई हथियार गिरता हुआ दिखाई देता है।[3] यह प्रतीक सम्भवत पुरुष मेध से इस चिति का सम्बन्ध-सूचित करता है। ऐसी स्थिति में यह प्रतीत होता है कि पुरुषमेध का प्रचलन-वास्तविक जीवन में भी सर्वथा अज्ञात नही था। शक्तिशाली राजाओ के स्वार्थ-साधन के लिये किसी निरीह मनुष्य की हत्या उस युग में सर्वथा सम्भव थी। इस विकृति के कारण ही यज्ञमूलक धर्म की लोकप्रियता भी सहसा लुप्त हो गई। उपनिषत्काल तक यज्ञों के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ तथा अहिंसा के सिद्धान्त पर बल दिया गया उसके पीछे पशु-यज्ञ तथा विशेषत पुरुषमेध की अमानुषिक परम्परा की प्रबल प्रतिक्रिया रही होगी।

---

१. कात्या० श्रौ० सू० १६.३२, अन्यानि वा हिरण्मयानि वा मृन्मयानि वानालाम्यैतान्।

२ द्रष्टव्य, एक्सकेवेसन्स एट कोशाम्बी, अध्याय ८,९

३. एक्सकेवेसन्स एट कोशाम्बी, पृ० ९३, प्लेट १८ बी

का उद्धार एव पुनर्निमाण करना था, को पुरुष के रूप मे बलिदान होकर सृष्टि के निर्माण के कारण बना।[१] इसीलिये प्रजापति का तादात्म्य यज्ञ वेदी से भी स्थापित किया गया है।[२]

पुरुषमेध का सकेत अग्निचयन के प्रसग मे भी हुआ है। अग्निचयन में चितिनिर्माण के समय जो पचपशु वध होता था उसमे घोडा, बकरा, भेंडा तथा सांड के साथ मनुष्य भी विद्यमान है। अग्निचयन को सोम याग का एक अग माना गया है।[३] अग्निचयन महाव्रत यज्ञ के लिये अनिवार्य तथा अन्य सोम यज्ञो के लिये ऐच्छिक था।[४] अग्निचयन के लिये एक वर्ष की अवधि निर्धारित है।[५] उत्तर-वैदिक साहित्य मे अनेक प्रकार की चितियो का उल्लेख हुआ है। तैत्तरीय ब्राह्मणमे चन्दश्चिति, श्येनचिति, अलजाचिति आदि दस चितियों का उल्लेख है जिनका उद्देश्य क्रमश पशुप्राप्ति, स्वर्ग प्राप्ति, प्रतीष्ठा-प्राप्ति आदि बताया गया है।[६]

चिति-निर्माण के प्रसग में पन्च पशुवध का जो विधान है उसके यथा विधि पालन पर शतपथ ब्राह्मण बल देता है।[७] किन्तु अन्यत्र इसी ग्रथ मे विकल्पत. यह भी कहा गया है कि केवल अज की बलि से ही पाचो पशुओं का प्रतिनिधित्व हो जाता है।[८] बौधायन श्रौत सूत्र के अनुसार मनुष्य का सिर वेदी मे रखने के लिये बिना उसकी हत्या किये भी युद्ध मे मृत व्यक्ति के शव से प्राप्त किया जा सकता है।[९] आपस्तम्ब श्रौत सूत्र मे भी यह कहा गया है कि यह सिर विद्युत से मरे व्यक्ति अथवा तीर से मरे व्यक्ति का भी हो सकता है।[१०] कात्यायन ने तो हिरण्यमय या मृण्मय कपाल को विकल्पत

---

१. शत० ब्रा० ५ १ २ ११
२. शत० ब्रा० ८. २, १. १८,
३. कात्या० श्रौ० सू० १६ १, हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, ग्रथ २, भाग २, पृ० १२४७
४. कात्या० श्रौ० सू० १६ २
५. शत० ब्रा० ६ १ २ २०
६. तै० ब्रा० ५.४.११
७ शत० ब्रा० ६ २.१.३९
८. शत० ब्रा० ६ २ २.१५
९ बौ० श्रौ० सू० १० ९
१०. आप० श्रौ० सू० १६.६.२, वैश्यस्य राजन्यस्य वेषुहतस्याशनिहतस्य वा।

ग्राह्य बतलाया है।[1] ऐसी स्थिति में चितिनिर्माण के लिये मनुष्य-वध का प्रचलन प्राय अज्ञात अथवा अल्पज्ञात रहा होगा। अग्निचयन के प्रसग में यह भी उल्लेखनीय है कि इसका स्वरूप विशेषत तान्त्रिक, अभिचारपूर्ण तथा जटिल था। विविध आकार एव बनावट वाली दस हजार आठ सौ ईंटो का प्रयोग, कूर्म, सर्प, कमल पत्र, हिरण्मय पुरुष तथा पञ्च-पशुओ के कपाल की वेदी मे स्थापना, अग्निचयन के तान्त्रिक स्वरूप को व्यक्त करता है।

अग्निचयन और पुरुषमेध का सूचक विरल पुरातात्विक साक्ष्य कोशाम्बी के उत्खनन से प्राप्त हुआ है। श्री गोवर्धन राय शर्मा कोशाम्बी के पूर्वी द्वार पर स्थित पक्षी के आकार वाली वेदिका को पुरुषमेध से सम्बन्धित श्येन-चिति मानते हैं।[2] इस वेदी के उत्खनन में जो सामग्रिया उपलब्ध हुई हैं उनके आधार पर उनका कहना है कि इस वेदी का सम्बन्ध पुरुषमेध से था तथा इसका निर्माण याज्ञिक साहित्य में विहित नियमों के अनुसार हुआ था। इस वेदी पर न केवल अनेक मानव-कपाल और पशुओं की अस्थिया मिली हैं बल्कि उखा, सर्प की लोहाकृति, कूर्म, और अषाढा आदि इष्टिकायें भी उन्हें प्राप्त हैं। ये सभी वस्तुयें यजुर्वेदीय ब्राह्मणो तथा श्रौतसूत्रो के अनुकूल है। सर्वाधिक उल्लेखनीय अषाढा नामक इष्टिका पर उत्कीर्ण 'देवलक्ष्म' (पुरुमेध यज्ञ के चिन्ह स्वरूप यूपबद्ध मनुष्य का इष्टिका पर अकन) है। कोशाम्बी की इस वेदिका मे प्राप्त अषाढा नामक इष्टिका पर यूप से बधे मनुष्य का चित्र है जिसके झुकी हुई गर्दन पर कोई हथियार गिरता हुआ दिखाई देता है।[3] यह प्रतीक सम्भवत पुरुष मेध से इस चिति का सम्बन्ध-सूचित करता है। ऐसी स्थिति मे यह प्रतीत होता है कि पुरुषमेध का प्रचलन-वास्तविक जीवन में भी सर्वथा अज्ञात नही था। शक्तिशाली राजाओं के स्वार्थ-साधन के लिये किसी निरीह मनुष्य की हत्या उस युग में सर्वथा सम्भव थी। इस विकृति के कारण ही यज्ञमूलक धर्म की लोकप्रियता भी सहसा लुप्त हो गई। उपनिषत्काल तक यज्ञों के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ तथा अहिंसा के सिद्धान्त पर बल दिया गया उसके पीछे पशु-यज्ञ तथा विशेषत पुरुषमेध की अमानुषिक परम्परा की प्रबल प्रतिक्रिया रही होगी।

---

१. कात्या० श्रौ० सू० १६.३२, अन्यानि वा हिरण्मयानि वा मृन्मयानि वानालाभ्यैतान्।

२ द्रष्टव्य, एक्सकेवेसन्स एट कोशाम्बी, अध्याय ८,९

३ एक्सकेवेसन्स एट कोशाम्बी, पृ० ९३, प्लेट १८ बी

ओदर के अनुसार पुरुषमेध की परम्परा आर्य जाति मे अति प्राचीन काल में प्रचलित थी ।[1] किन्तु ऋग्वैदिक आर्यों के धार्मिक अनुष्ठानो में इसका कोई स्थान नहीं है । ऋग्वेद सहिता में इस पुरातन परम्परा की प्रतिध्वनि अवश्य मिलती है । पुरुषमेध के माध्यम से सृष्टि के उद्भव की कल्पना ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में है । हिलेब्रान्त महोदय का यह मत कि ऋग्वैदिक समाज मे पुरुषमेध के प्रचलन के चिन्ह हैं, निराधार है ।[2] उत्तर वैदिक युग मे पुरुषमेध का उन्मज्जन तथा इसका तान्त्रिक स्वरूप सम्भवत इस बात का सकेत करता है कि यह मृतप्राय परम्परा कतिपय नवीन सास्कृतिक धाराओ के योग से पुन बलवती हुई तथा इसके स्वरूप मे भी परिवर्तन हुआ । पुरुषमेध की परम्परा पर आशिक आर्येतरीय प्रभाव को सूचित करने वाले साक्ष्य निश्चायक न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण तथा अनुपेक्षणीय हैं । सुविदित है कि वैदिक आर्यों की ग्राम्य सस्कृति नगर निर्माण से उदासीन तथा भवन निर्माण मे ईंटो के प्रयोग से अपरिचित थी । ऐसी स्थिति में चिति-निर्माण के लिए ईंटो का प्रयोग विस्मय जनज है । इष्टिकामय चिति निर्माण नागरिक सम्यता की देन प्रतीत होती है न कि वास्तुकला मे ईंटो के प्रयोग से अपरिचित समाज की । हस्तिनापुर के उत्खनन से ज्ञात है कि उत्तर-वैदिक आर्यो का परिचय इष्टि का निर्माण से अत्यन्त अल्प और सम्भवत एकदम नया था । असम्भव नहीं है कि इष्टिकामय चितिनिर्माण की प्रथा नागरिक सैन्धव सस्कृति से ग्रहण की गई हो । आधार-बलि होने के कारण अग्निचयन के प्रसग मे चिति-निर्माण से सम्बन्धित 'पचपशुबलि' भी प्रकृत्या उसी स्रोत से सम्बद्ध होनी चाहिये । सैन्धव सस्कृति के अन्तर्गत धर्म का स्वरूप अत्यन्त उदात्त था किन्तु इसका यह तात्पर्य नही है कि वहाँ धर्म का हीनतर पक्ष सर्वथा अज्ञात था । वहाँ से प्राप्त बहुसख्यक तावीज तान्त्रिक क्रियाओं के प्रचलन के सूचक तो है ही, साथ ही कतिपय मुद्राओ पर उत्कीर्ण चित्र सैन्धव समाज में नरमेध के प्रचलन को प्रमाणित करते हैं ।[3] इस प्रसंग मे यह उल्लेखनीय

आर्येतरीय प्रभाव

१. उनका यह मत ऋग्वेद १० १८ ८ और १० ८५ २१-२२ पर आधारित है । उनके मत की आलोचना के लिये द्रष्टव्य— रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३४७

२ ओदर, प्रिहिस्टरिक एण्टिक्विटीज आव दि आर्यन पिपुल्स, पृ० ४२२

३. मार्शल, मोएनजोदडो एण्ड इण्डस सिविलिजेशन, भाग १, पृ० ५२, चित्र स० २२

है कि अथर्ववेद में केवल रुद्र को पच-पशु प्रदान करने का उल्लेख हुआ है।[1] अग्निचयन के प्रसग में भी रुद्र सबसे महत्वपूर्ण देवता है।[2] चिति-निर्माण के पश्चात् सर्वप्रथम रुद्र को प्रसन्न करने के लिये शतरुद्रिय के पाठ का विधान है। अग्निचयन तथा पचपशु वध से रुद्र का यह सम्बन्ध महत्वपूर्ण है। अथर्ववेद एव यजुर्वेद का रुद्र ही पचपशु यज्ञ तथा नरमेध से सम्बन्धित किया गया है जो सैन्धव शिव को आत्मसात करने के कारण प्रधानत एक अनार्य देवता प्रतीत होता है। उनका अनार्यत्व इस बात से भी स्पष्ट होता है कि उन्हें यज्ञ की बलि चौराहे पर चीटियो के समूह पर हवि फेंक कर दी जाती थी तथा उनसे मूजवन्त से भी उस पार चले जाने की प्रार्थना की जाती थी। इस प्रसग मे यह भी उल्लेखनीय है कि अग्निचयन की प्रथा का प्रारम्भ पश्चिमोत्तर लोगो में माना गया है।[3] कौशाम्बी में अग्निचयन तथा पुरुषमेध के सूचक जो प्रमाण मिले हैं वे भी इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कहे जा सकते हैं। श्री शर्मा ने कौशाम्बी के नगर-निर्माण-पद्धति पर भी आर्येतरीय सैन्धव परम्पराओं का प्रभाव माना है।[4] उपर्युक्त सूत्रो को परस्पर जोडने पर अग्निचयन एव पुरुषमेध के प्रचलन पर आर्येतर प्रभाव की सम्भावना दृढ होती है। इसमें सन्देह नही कि यज्ञ मूलक धर्म वैदिक आर्यों की अपनी विशेषता थी किन्तु सास्कृतिक सामजस्य के साथ यज्ञों के अन्तर्गत आर्येतर तत्व भी ग्रहण किये गये। उनका जो मिश्रित स्वरूप आज उपलब्ध है उससे आर्य एव आर्येतर परम्पराओं का पृथक्करण अत्यन्त दुष्कर है।

पचमहायज्ञ

यद्यपि पच महायज्ञों का स्वरूप अत्यन्त सरल एव साधारण था तथापि उनके अन्तर्गत यज्ञ-धर्म का उदात्त स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। ये यज्ञ प्रत्येक गृहस्थ के लिये कर्तव्य थे तथा साथ ही इनमे निहितत्याग, श्रद्धा एव सर्वभूतानुकम्पा की भावना धार्मिक उच्चादर्शो का सकेत करती है। पचमहायज्ञों का स्थान सामाजिक एव सास्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

---

१ अथर्ववेद ११ २ ९, चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दशकृत्व पशुपते नमस्ते तमेवे पञ्च-पशवो विभक्ता गावो अश्वा पुरुषाअजावयः।
यहाँ पशुपति का उल्लेख सैन्धव शिव का स्मरण दिलाता है।

२ द्रष्टव्य, रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग २, पृ० ३५५

३ कीथ, पूर्व उद्धृत पुस्तक, भाग २, पृ० ३५४

४ एक्सकेवेसन्स ऐट कौशाम्बी

प्रत्येक गृहस्थ के लिये पचमहायज्ञो के सम्पादन के पश्चात् ही भोजन ग्रहण करने का विधान था। शतपथ ब्राह्मण मे भूत-यज्ञ, मनुष्य-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देवयज्ञ और ब्राह्मयज्ञ 'पच महायज्ञ' के रूप मे उल्लिखित हैं।[१] देवयज्ञ के अन्तर्गत प्रात और सायकाल भोजन तैयार होने पर देवताओ को हवि प्रदान किया जाता था। 'यदन्ना पुरुष तदन्ना तस्य देवता' मे विश्वास करने वाले वैदिक समाज मे भोजन के पूर्व देवताओ को सन्तुष्ट करना सर्वथा स्वाभाविक था। दूसरा भूत-यज्ञ है जिसका उद्देश्य विभिन्न प्राणियो को सन्तुष्ट करना था। गोभिल गृह्य सूत्र के अनुसार इसका प्रदान विविध देवताओ सर्पो और राक्षसो के लिये भी होता था।[२] पितृ-यज्ञ के अन्तगत बलि जल के साथ पितरो को समर्पित की जाती थी। वैदिक समाज मे यह विश्वास था कि पितर परलोक मे अपने वशजो द्वारा प्रदत्त अन्न से ही पलते हैं। साथ ही परिवार के सुख एव समृद्धि के लिये भी पितरो की प्रसन्नता एव सन्तुष्टि आवश्यक मानी जाती थी। ब्रह्मयज्ञ के अन्तर्गत स्वाध्याय अर्थात् वेदाध्ययन का विधान था। शतपथ ब्राह्मण मे ब्रह्म यज्ञ की भूयसी प्रशसा बडी ही आलकारिक शैली मे की गई है।[३] इस ग्रन्थ के अनुसार ऋक् का अध्ययन देवताओं के लिये पयकी आहुति है। यजुष का आज्याहुति, साम का सोमाहुति, अथर्वांगिरस का मेद-आहुति तथा अनुशासन, विद्या, वाकोवाक, इतिहास, पुराण, नाराशसी गाथाओ का अध्ययन देवो के लिये मधु की आहुति है। इस प्रकार वैदिक ज्ञान की परम्परा को अमरत्व प्रदान करने के लिये ही ब्राह्मण साहित्य मे वेद वेदागो का अनुशीलन एक पुनीत महायज्ञ माना गया। पाचवाँ महायज्ञ मनुष्य यज्ञ है जिसके अनुसार ब्राह्मण, अतिथि तथा भिक्षुओ को भोजन दिया जाता था। अतिथि सत्कार की महत्ता का वर्णन उत्तर-वैदिक साहित्य मे अनेक स्थानों पर मिलता है।[४] इसके विपरीत देवयज्ञ मनुष्ययज्ञ तथा पितृयज्ञ से विमुख अपने शरीर मात्र के पोषण मे सलग्न व्यक्ति की निन्दा की गई है।[५]

---

१. शत० ब्रा० ११ ५. ६

२. गो० गृ० सू० १. ४

३. शत० ब्रा० ११. ५. ७

४. ऐत० ब्रा० १ १७, १.२५, शिरो वा एतद् यज्ञस्य यद् आतिथ्यम्

५. ऐत० ब्रा० ७ ९.

ब्राह्मण युग के अन्त तक वैदिक समाज विपुलकाय, औपचारिक एवं आडम्बरपूर्ण यज्ञों के प्रति उदासीन होने लगा था। यज्ञो मे व्याप्त वाह्याडम्बर से मूल धार्मिक भावना प्रायः ग्रस्त हो चुकी थी। उसके त्राण हेतु प्रतीकों से आच्छन्न यज्ञों मे अन्तर्निहित ज्ञान की सर्वोपरि महत्ता घोषित हुई। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ज्ञान के अभाव मे परलोक की प्राप्ति न तो यज्ञ से सम्भव है और न तप से। इसकी प्राप्ति केवल उसे हो सकती है जो यज्ञ के मूल में निहित धार्मिक भावना को जानता है।[१] इसी ग्रन्थ मे अन्यत्र वाणी के समक्ष मन अर्थात् ज्ञान की श्रेष्ठता प्रजापति द्वारा स्वीकृत बताई गई है।[२] आरण्यको मे तो स्पष्टतः यज्ञो के भीतर विद्यमान आध्यात्मिक तथ्यों की मीमासा की गई। यज्ञ से सम्बन्धित अनुष्ठान नहीं बल्कि तदन्तर्गत दार्शनिक विचार ही आरण्यकों के मुख्य विषय हैं। आरुणकेतुक तथा सावित्रचयन सदृश अग्निचयनो मे यज्ञविधि का भौतिक पक्ष प्रतीकात्मकता मे विलीन-प्राय हो गया। इस प्रकार क्रमशः कर्मकाण्ड के समक्ष ज्ञान की श्रेष्ठता तथा देव यजन के समक्ष आत्मयजन की महत्ता स्वीकृत हुई। उपनिषत्काल तक ज्ञान की सर्वोच्च स्थिति सम्मान्य एवं अप्रत्याख्येय है। मुण्डक उपनिषद के अनुसार यज्ञीय अनुष्ठान अदृढरूप प्लव है जिनके द्वारा ससार का सन्तरण कभी नही हो सकता। यज्ञादि अनुष्ठान को ही श्रेष्ठ मानने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक पाकर भी अन्ततः इस भूतल पर आते हैं।[३] इस प्रकार कर्मकाण्ड की हीनता तथा दोषों के वर्णन के अनन्तर ब्रह्मज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई तथा ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म मे लय होने की तुलना नाम रूप को छोडकर नदियो के समुद्र में मिल जाने से की गई है। यज्ञों के विरोध का एक प्रबल कारण यज्ञ में होने वाली हिंसा थी। यज्ञ में हिंसित पशुओं के विषय में कहा गया है कि वे दूसरे लोक में जाकर यज्ञकर्ता को खाते हैं।[४] इससे प्रकट है कि लोगों में हिंसात्मक यज्ञों के प्रति घृणा का भाव जग रहा था तथा लोग उनसे पराङ्मुख होने के लिए सचेष्ट थे।

---

१. शत० ब्रा० १०.५.४.१५
२. शत० ब्रा० १.४.५ ८-१२
३ मुण्डक उप० १ २ १०
४ शांख्या० ब्रा० ११.१३

देव तत्व

उत्तर-वैदिक युग में देव समाज प्राय ऋग्वेदिक देव समाज के ही समान है किन्तु परवर्ती संहिताओ तथा ब्राह्मणो द्वारा सम्वर्धित धर्म के अन्तर्गत देवताओ की श्रेष्ठता स्वीकृत नही है। अथर्ववेद मुख्यत गृह्य एवं आभिचारिक संस्कारो का ही निरूपण करता है। कौशिक सूत्र के सांस्कारिक-विषयो सहित अथर्ववेद के बाद के अंश प्रेतात्मा और दैत्य विषयक अत्यन्त-रोचक विवरण प्रस्तुत करते हैं। अथर्ववेद मे निर्दिष्ट देव-मण्डल ऋग्वेद से अवान्तरकालीन विकास का सूचक और पोषक है। अथर्ववेद में इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि ऋग्वेदीय देवो की सत्ता है किन्तु उनका प्राकृतिक दृश्यो का प्रतीकात्मक रूप विस्मृत-प्राय बन गया है। अब वे केवल देव विशेष के रूप मे ही उपस्थित होते हैं जिनका काम मुख्यत राक्षसो का संहार, रोगो का विनाश एवं शत्रुओ का विध्वंसन है। अथर्ववेद मे देवताओं के लिये अलग-अलग प्रशस्ति के सूक्त अपेक्षाकृत कम हैं जबकि अनेक देवताओ का एक साथ आवाहन इसकी विशेषता है। यजुर्वेद तथा ब्राह्मणो में देवगण छायात्मक व्यक्तित्व मात्र हैं। उनका उल्लेख यज्ञो के प्रसंग में हुआ है। उनके व्यक्तिगत गुण प्राय विलीन हो गये हैं। कुछप्रमुख देवताओ का महत्व घट गया है तथा ऋग्वेद के कतिपय साधारण देवता अधिक श्रद्धेय हो गये हैं। इस युग मे ऋग्वेदिक युग के प्रमुख देवता इन्द्र और वरुण का स्थान गौण हो गया तथा उनका स्थान रुद्र शिव, विष्णु और सूर्य आदि लेने लगे। ब्राह्मण युग का प्रधान देवता प्रजापति है। उनका तादात्म्य यज्ञ से स्थापित किया गया है।[१] साथ ही उन्हे देवताओ तथा सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा माना गया है। इस युग में निर्जीव पदार्थो तथा पशुओं एवं वृक्षो में भी देवत्व की कल्पना मिलती है।[२] काल, काम और स्कम्भ आदि अमूर्त भावात्मक देवताओ का उल्लेख अथर्ववेद में प्रथम बार हुआ है। इनमे विशेष महत्ता स्कम्भ को दी गई है। उसका तादात्म्य ब्रह्मन और प्रजापति के साथ स्थापित किया गया है। देश और काल, देवता, वेद एवं समस्त नैतिक शक्तिया उसी मे अन्तर्निहित मानी गई हैं।[३] अम्बिका आदि देवियो का यजुर्वेद में उल्लेख सम्भवत मातृदेवी की वर्धमान लोकप्रियता का संकेतक है।

१. शत० ब्रा० ४ ३ ४ ३

२. द्रष्टव्य—रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड दि उपनिषद्स, भाग १, पृ० १८४-१९७।

३. अथर्ववेद १०.७ ७, १३, १७

उत्तर वैदिक युग में एक ओर जहा वैदिक धर्म का अन्त -विकास हुआ वही इस पर आर्येतर धर्म धाराओं का प्रचुर प्रभाव भी पडा। पीछे हम देख चुके हैं कि किस प्रकार नवोदित वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आर्यों एवं अनार्यों का सम्मिश्रण हुआ।[१] ऐसी स्थिति में आर्य एव आर्येतर सस्कृतियों मे सामजस्य एव समन्वय भी अवश्यम्भावी हो गया। वैदिक यज्ञ सस्थाके अन्तर्गत भी आर्येतर धार्मिक तत्व आत्मसात हुये।[२] यह प्रभाव वैदिक देवतत्व पर भी परिलक्षित होता है जिसके परिणामस्वरूप कतिपय देवताओ के स्वरूप मे परिवर्तन हुआ तथा उनकी महत्ता मे भी वृद्धि हुई। अनार्य प्रभाव के कारण ही उत्तर-वैदिक युग मे पूर्ववैदिक काल के गौण देवता रुद्र और विष्णु अतिशय लोकप्रिय हुये। इस युग में ऋग्वेदिक रुद्र ने प्रकृत्या समान होने के कारण सैन्धव शिव को आत्मसात किया। यजुर्वेद मे अनेक ऐसे सकेत हैं जिनसे शिव का आंशिक अनार्यत्व पुष्ट होता है।[३] उभय सास्कृतिक परम्पराओं से सम्बद्ध होने के कारण यह देवता जनसाधारण मे अधिक श्रद्धेय हो गया। इसी प्रकार विष्णु की लोकप्रियता के पीछे भी आर्येतर धार्मिक परम्पराओ का प्रभाव प्रतीत होता है। ऊपर, प्रथम अध्याय मे यह बताया गया है कि विष्णु आर्यों के सौर देवता होते हुये भी प्रशात द्रविडो के आकाश देवता हैं।[४] इसी प्रकार उत्तर वैदिक युग मे क्रमश: मातृदेवी की उपासना भी लोकप्रियता प्राप्त करती है। यजुर्वेद में सर्वप्रथम अम्बिका नामक देवी का उल्लेख हुआ है तथा अम्बिका का सम्बन्ध रुद्र से बताया गया है।[५] बहुत सभव है कि सैन्धव शिव के साथ ही उनसे सम्बन्धित अम्बिका की अवधारणा भी सैन्धव सस्कृति से ग्रहण की गई हो।[६] यह विकल्प यजुर्वेद में इस देवी के आकस्मिक उल्लेख, शिव के साथ उनके सम्बन्ध तथा सैन्धव समाज में प्रचलित मातृदेवी की उपासना की लोकप्रियता को देखते हुए सहज कल्पनीय है। अथर्ववेद से उपलब्ध धार्मिक विश्वासो मे विरोधी एवं

---

१. द्रष्टव्य—ऊपर, अध्याय ३-
२ द्रष्टव्य—इसी अध्याय का पृ० २१६
३ वाज० म० १ ६०, तै० स० ४ ४
४. विस्तृत अध्ययन के लिये द्र०—द्रविडिक स्टडीज, पृ० ६१-६२
५ वाज० स० ३ ५७
६ यह सुझाव श्री श्रीराम गोयल का है।

विचित्र तत्वो का सम्मिश्रण आर्य एव आर्येतर सास्कृतिक सम्पर्क का परिणाम माना गया है।[१] सम्भवत पिप्पल जैसे वृक्षो मे देवत्व की कल्पना तथा उनकी उपासना और विविध अभीप्सित फलो की प्राप्ति के लिये तान्त्रिक क्रियाओ का आश्रय अथर्ववेद पर आर्येतरीय प्रभाव का ही सूचक है। यह उल्लेखनीय है कि सैन्धव संस्कृति के अन्तर्गत पिप्पल वृक्ष मे देवत्व की कल्पना तथा तान्त्रिक क्रियाओ मे विश्वास प्रचलित धर्म का अनिवार्य अग था।[२] इसके विपरीत ये तत्व पूर्व-वैदिक धर्म मे प्राय अज्ञात हैं। नाग जैसे जन्तुओ की उपासना निषाद जाति की देन हो सकती है। निषाद लोग घोर टोटमवादी थे तथा उनके अनेक समूहो में नाग (सर्प) को धार्मिक महत्ता एव पवित्रता स्वीकृत थी।

उत्तर-वैदिक युग मे देव तत्व के ह्रास का प्रमुख कारण यज्ञो की सर्वातिशायिता थी जिनके प्रभाव से देवता भी आच्छन्न हो गये। यज्ञ को ही ऐहिक एव पारलौकिक सुखो की प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन माना गया तथा यह प्रतिपादित किया गया कि यज्ञ से ही देवताओ ने भी शक्ति, तेज एव अमरत्व प्राप्त किया। ऐसी स्थिति मे यज्ञों का सम्पादन ही परम-धर्म हो गया जिसके माध्यम से इच्छानुकूल फल की प्राप्ति के लिये देवताओं को विवश किया जा सकता था। इस प्रकार यज्ञ के समक्ष देवताओ का महत्व स्वभावत कम हो गया। दूसरे विभिन्न देवताओं मे सारभूत एकता ढूढने की भावना, जो ऋक्सहिता में ही उपलब्ध है, कालक्रमेण अधिक विकसित हुई और परिणामस्वरूप अन्त में एक ही परमदेव की सत्ता स्वीकृत हुई जिसे ब्राह्मणों मे प्राय प्रजापति माना गया है तथा यज्ञ से उसका तादात्म्य स्थापित किया है। उसे देवताओं का भी स्रष्टा माना गया है[३]। इस मनोवृत्ति के कारण बहुदेववाद को धक्का तो लगा ही साथ ही उदीयमान देवता प्रजापति की अतिशय महत्ता के कारण अन्य देवता उपेक्षित हुये। उनके व्यक्तिगत गुणों एवं विशेषताओ का भी लोप हो गया। रुद्र, विष्णु आदि जिन देवताओ की स्थिति सुरक्षित एव सम्वर्धित हुई उनके प्रभाव के पीछे प्रबल परिस्थैतिक कारण थे जिनका

देवताओं के महत्व के ह्रास के कारण

---

१. रैंगोजिन, वैदिक इण्डिया, पृ० ११७-१८

२ ह्वीलर, इण्डस सिविलिजेशन, पृ० ८०—८४

३. ताण्ड्य ब्रा० ६ १

संकेत किया जा चुका है।[१] स्कम्भ आदि अमूर्त देवताओं का उद्‌गमन उस दार्शनिक चिन्तन के विकास का सूचक है जिसकी चरम परिणति ब्रह्म की कल्पना मेदिखाई देती है।

इन्द्र और वरुण

ऋग्वेदिक युग के प्रमुख देवता इन्द्र और वरुण इस युग में महत्वहीन हैं। ऋग्वेद का सर्वाधिक लोकप्रिय देवता इन्द्र प्रारम्भ में युद्ध और शक्ति का देवता है। इन्द्रिय शब्द प्राचीन बौद्ध-साहित्य में भी बल का पर्यायवाची है। ऋग्वेदिक युग के अन्त तक इन्द्र वर्षा के देवता बन गये। यह बात उनके वृषन् विरुद से भी सूचित है। ऐतरेय ब्राह्मण मे उन्हें द्युलोक का प्रधान कहा गया है[२] तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि देवताओ मे अन्तिम इन्द्र की रचना प्रजापति ने की।[३] इन्द्र का उल्लेख देवताओ के शासक के रूप में भी अनेकश हुआ है। यज्ञो मे इन्द्र का प्रमुख स्थान था। राजाओं का अभिषेक भी प्राय. इन्द्र के अभिषेककी पद्धति से होने के कारण ऐन्द्र महाभिषेक नाम से ज्ञात था। ऋग्वेदिक युग मे युद्ध में विजय के अभिलाषी व्यक्ति विशेषत इन्द्र की स्तुति करते थे किन्तु उत्तर वैदिक काल में दिग्विजय एव शत्रूत्सादन के लिये अश्वमेध, वाजपेय आदि यज्ञों की सहायता अपेक्षित थी। ऐसी स्थिति में इन्द्र के प्रभाव का धूमिल हो जाना सर्वथा स्वाभाविक था। इसी प्रकार ऋग्वेद के सम्मान्य वरुण अथर्ववेद में सर्वोच्च शक्तियों से रहित हैं। अनेकश उनका उल्लेख जल के नियन्त्रक के रूप में हुआ है। इन्हें जल से उसी प्रकार सम्बन्धित किया गया है जिस प्रकार सोम को पर्वतो से।[४] वे जल के सर्वाधिपति हैं तथा उनका स्वर्ण आवास जल मे ही स्थित माना गया है।[५] यजुर्वेद में वरुण का उल्लेख एक ऐसे शिशु के रूप में है जिसने अत्यन्त मातृत्व

---

१ कीथ महोदय के अनुसार रुद्र और विष्णु की लोकप्रियता इसलिये बढ़ी कि वे सामान्य जनो के देवता थे।

द्रष्टव्य—रिलिजन एण्डफिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १,

२. ऐत ब्रा० ८ १२

३ तै० ब्रा० २ २ १०

४ अथर्ववेद ४ ३ ३

५ अथर्ववेद ७ ८३

भावना से युक्त जल को अपना आवास बनाया है।[1] ब्राह्मणों मे मित्र और वरुण वर्षा के भी देवता माने गये हैं किन्तु ऋत के व्यवस्थापक महान् देवता के रूप में उनका उल्लेख प्राय. नही हुआ है। उनका कार्यक्षेत्र सकुचित एव सुनिश्चित हो गया है। इस दृष्टि से वह यूनानी देवता पोसीडोन से तुलनीय है। नैतिकता की रक्षा एव पापियों के दमन से वरुण का औपचारिक सम्बन्ध उत्तर वैदिक युग तक बना रहा। इसीलिये ब्राह्मणो में भी प्रायश्चित के प्रसग मे वह अतिशय महत्त्वपूर्ण है। उत्तर वैदिक युग में राजशक्ति के विस्तार के साथ राजा स्वयं दण्डधर और व्यवस्था का रक्षक बना। उसके व्यक्तित्व में वरुण के गुणों का आरोप भी किया गया। ऐसी स्थिति मे असम्भव नही है कि वरुण के कार्यक्षेत्र मे सकोच और उनकी महत्ता में ह्रास का एक प्रमुख कारण राजशक्ति का विस्तार भी रहा हो। सर्वोच्च देवता के रूप में प्रजापति की धारणा के विकास के कारण भी वरुण का सर्वव्यापी और सार्वभौम स्वरूप विस्मृत प्राय हो गया।

प्रजापति

यजुर्वेद एव ब्राह्मणो मे सर्वाधिक सम्मान्य स्थान प्रजापति का है। यद्यपि ऋग्वेद मे भी उनका उल्लेख हुआ है[2] किन्तु उनका स्थान देव-मण्डल मे विशेष महत्वपूर्ण नही है। प्रारम्भ मे वे सृजन के देवता हैं इसलिये ऋक्सहिता तथा अथर्ववेद मे सन्तान की कामना से ही उनकी स्तुति अधिक मिलती है। किन्तु उत्तर-वैदिक काल मे उनका उल्लेख सम्पूर्ण विश्व के स्रष्टा के रूप में हुआ है। वे देवताओ, असुरो एव मनुष्यो का सृजन करने वाले हैं।[3] उन्ही से वेदो तथा वर्णों की उत्पत्ति भी मानी गई है। उनकी महत्ता इस बात से प्रकट है कि उन्हे यज्ञ का साक्षात् रूप माना गया है।[4] उत्तर-वैदिक युग का यह सर्वोच्च देवता अमूर्त (एब्सट्रैक्ट) है। वे प्रकृति के किसी अग का प्रतिनिधित्व नही करते हैं और उनके मानवीकरण का भी विशेष प्रयास नही दिखाई देता है। उनसे सम्बन्धित पुराकथाओं में अपनी पुत्री उषस के साथ उनका निकटाभिगमन का प्रयास बहुचर्चित है। मैत्रायणी सहिता के अनुसार उनके इस कृत्य पर कुपित होकर रुद्र ने शर सधान किया किन्तु प्रजापति द्वारा पशुपति बनाये

---

१ वाज० स० १० ७

२ ऋ० १०. १२१, ८५. ४३, १६६. ४, १८४. १

३ ताण्ड्य ब्रा० ६ १

४. शत० ब्रा० ४ '२ ४. ३

जाने का गौरव प्राप्त कर उन्होंने लक्ष्य भेद नही किया।[1] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार उनके इस दुष्कर्म से सभी देवता क्रुद्ध हुये तथा उन्होंने भयकर तत्त्वो से प्रजापति के दमनार्थ रुद्र का सृजन किया।[2] इस पुराकथा का सामाजिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। इससे प्रकट है कि पिता-पुत्री के बीच यौन-सम्बन्ध सामाजिक मान्यताओ के विरुद्ध एव समाज के कोप का विषय था। प्रजापति जैसे महान् देवता को इस प्रकार के अनैतिक कर्म से सम्बन्धित करना विस्मयजनक है। अन्यत्र इस बात का उल्लेख मिलता है कि प्रजापति ने उपस का विवाह सोम के साथ किया था।[3]

प्रजापति का पशु-रूप में उल्लेख तथा उससे सम्बन्धित पुराकथाएँ विशेष महत्वपूर्ण हैं। शूकर रूप मे जलमग्न पृथ्वी को ऊपर उठाने तथा कच्छप रूप में प्रजाओ की सृष्टि करने की बात ब्राह्मण साहित्य में उल्लिखित है।[4] सम्भवत इसी कल्पना की आधारशिला पर परवर्ती युग से विष्णु के शूकर और कच्छप अवतार की बात हिन्दू धम में स्वीकृत हुई। उत्तर वैदिक साहित्य में वर्णित प्रजापति का शूकर और कच्छप स्वरूप आर्येतर प्रभाव का परिणाम प्रतीत होता है। शतपथ ब्राह्मण मे जलप्लावन की कथा का भी उल्लेख हुआ है।[5] वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की कल्पना भी सम्भवत जलप्लावन आख्यान से ही सम्बन्धित है। इस कथा में जलप्लावन आख्यान का अग्रिम विकास सूचित है। यह उल्लेखनीय है कि जलप्लावन तथा वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार सम्बन्धी पुराकथा से वैदिक आर्यों का परिचय बहुत बाद का है। वैदिक सहिताओ मे इस पुराकथा का कोई सकेत नहीं मिलता। यह पुराकथा मूलत. सुमेरीय सभ्यता की देन प्रतीत होती है। जलप्लावन की कथा का प्राचीनतम उल्लेख सुमेरीय साहित्य मे मिलता है। सैन्धव सस्कृति तथा सुमेरीय सस्कृति के घनिष्ठ सम्बन्ध को देखते हुये यह स्पष्ट है कि इस कथा से सैन्धव नागरिक भी सुपरिचित रहे होगे। भारत मे जलप्लावन और वराह द्वारा पृथ्वी के उद्धार की कथा मूल रूप मे सैन्धव सास्कृतिक परम्परा से ग्रहण की गई होगी

१. मैत्रा० स० ४, २, १२
२ ऐत० ब्रा० ३ ३३
३. जै० ब्रा० १ २१३ ऐत० ब्रा० ४ ७
४. शत० ब्रा० १४ १ २ ११, तै० स० ७,१ ५ १
५ शत० ब्रा० १ ८ १

तथा सांस्कृतिक परिवेश के अनुकूल बनाने के लिये इसमे न्यूनाधिक संशोधन और परिवर्धन भी हुआ होगा।[१] इसी प्रकार कच्छप से सृष्टि के विकास की कथा से टोटमवादी मनोवृत्ति पूर्णतः परिलक्षित है। पुरा–ऐतिहासिक युग मे गगा की घाटी मे निवास करने वाली निषाद जाति में टोटमवाद का प्रचलन अप्रत्याख्येय है। सैन्धव सस्कृति के निर्माण मे भी निपाद जाति का योग था। ब्राह्मण साहित्य की रचना निपाद जाति के केन्द्र मध्यदेश में हुई अत यह स्वाभाविक प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिक साहित्य में टोटमवाद से प्रभावित ये कथायें निषाद स्रोत से ली गई होंगी।

रुद्र का वर्णन ऋक्सहिता में भी मिलता है। ऋग्वेदीय रुद्र आकाश के मध्यम कोटि के देवता हैं और सम्भवत 'झंझावात के साथ आने वाले विद्युत्धारी घने काले मेघों' के दैवीकरण हैं।

रुद्र

उनके स्वरूप में उग्रता का प्राबल्य होते हुये भी सौम्यता का अभाव नही है। अथर्ववेद में भी रुद्र का स्वरूप बहुत कुछ ऋग्वेदीय वर्णन के सदृश है, यद्यपि यत्र तत्र उनके विषय में कुछ नवीन तथ्यो का भी उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद में रुद्र को कृष्णोदर और लाल पीठ वाला कहा गया है।[२] वह धनुर्धारी और नीले केश वाले (नील शिखण्डिन) हैं।[३] उन्हें सहस्राक्ष भी कहा गया है।[४] इस विरुद को उनके वर्धमान प्रभाव का सूचक माना जा सकता है। ऋग्वेद के समान अथर्ववेद में भी रुद्र की स्तुति उग्र और सौम्य दोनो रूपो मे की गई है, यद्यपि उग्र रूप पर अधिक बल दिया गया है। सौम्य रूप मे

---

१. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ऋक्सहिता १ ६१ ७ और ८ ७७.१० मे वराह का उल्लेख वृत्र के रूप में हुआ है तथा विष्णु द्वारा उसके वध की बात कही गई है। तैत्तिरीय सहिता ६ २ ४ २, में भी उसका सम्बन्ध असुरो से बताया गया है तथा इन्द्र द्वारा उसकी हत्या का उल्लेख हुआ है। इन वर्णनों से भी उसका सम्बन्ध आर्येतर देवमण्डल से सूचित होता है। उत्तर वैदिक युग के मिश्रित समाज में उसका समीकरण प्रजापति के साथ स्थापित करने का प्रयास हुआ।

२ अथर्ववेद ११ १ ७ ८

३. अथर्ववेद ११ २ ६

४ अथर्ववेद ११ २ २-७

उन्हें ऋग्वेद के समान ही 'जलाषभेषज' कहा गया है[1], और व्याधिनाश के लिये उनका आह्‌वान किया गया है। अथर्ववेद में रुद्र को प्राय पशुपति भी कहा गया है। इस उपाधि का उनके लिये इस ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में भी उनके द्वारा पशुओ के कल्याण का उल्लेख है, इसलिये यह विरुद ऋग्वेदीय वर्णन का ही अग्रिम विकास माना जा सकता है। किन्तु आर्येतर सैन्धव धारा के अन्तर्गत भी आदि शिव की उपासना 'पशुपति' रूप मे प्रचलित थी। इस प्रकार उत्तर-वैदिक काल मे, जब आर्य एव आर्येतर परम्पराओ का सगम हुआ, रुद्र-शिव के पशुपति रूप की महत्ता मे वृद्धि आर्येतर प्रभाव को भी सूचित करती है। ऋग्वेद में रुद्र को पशुओ का कल्याण करने वाला कहा गया है, मात्र इससे उनके पशुपति रूप की कल्पना का जन्म नहीं हुआ, वरन् अवैदिक देवता शिव और वैदिक रुद्र के तादात्म्य में इस विश्वास को वल मिला।

उग्र रूप में अथर्ववेदीय रुद्र अपने विषधर शरो से व्याधियों को फैलाते हैं। उनसे प्रार्थना की गई कि अपने विद्युत् शरो को स्तोताओं से दूर रखें।[2] एकस्थल पर उनके मात्सर्य की भर्त्सना की गई है।[3] उन्हे ज्वर और विष से त्रस्त करने वाला भी कहा गया है।[4] एक स्थान पर उन्हें स्पष्टत आतकित करने वाला नरेश तथा विध्वसक (उपहन्तु) कहा गया है। अथर्ववेद के कुछ मत्रो से रुद्र का सम्बन्ध नरमेध से भी परिलक्षित होता है। इस वेद मे एक स्थान पर रुद्र को यज्ञ में आहुति के रूप मे पाच प्राणी समर्पित किये गये है। उनमें से एक प्राणी मनुष्य है।[5] इससे संकेतित है कि रुद्र को कभी कभी नरवलि भी दी जाती थी। इससे रुद्र की भयकर प्रकृति और भी अधिक उद्‌भासित होती हैं। इस प्रसग मे एक और तथ्य उल्लेखनीय है। अथर्ववेद मे एक स्थान पर रुद्र के भूकने वाले विकराल श्वानो का उल्लेख हुआ है, जो भक्ष्य को विना चवाए, निगल जाते हैं।[6] परवर्ती युग में श्वानों को यम का सहचर बताया गया है। यह सर्वथा सम्भव है कि अथर्ववेदीय युग में

---

१ अथर्ववेद २ २७ ६
२ अथर्ववेद ११.२ २६
३ अथर्ववेद १ २८ ५
४ अथर्ववेद ११ २ २२–२६
५ अथर्ववेद ११.२ ९
६ अथर्ववेद १०. १ ३०

रुद्र के एक रूप को मृत्यु का देवता माना जाता रहा हो और इस रूप में उनके सहचर श्वानों की कल्पना की गई हो। कालान्तर मे जब यम मृत्यु का देवता माना गया तब श्वानो का सम्बन्ध रुद्र के स्थान पर यम के साथ जोड दिया गया होगा। भारत के अनेक प्रदेशो मे भैरव का, जो मुण्डमाल धारण करते है तथा शिव के ही एक रूप माने जाते हैं, वाहन श्वान ही माना गया है तथा उन्हें 'श्वाश्व' कहा जाता है। रुद्र का मृत्यु से सम्बन्ध भूत और पिशाच से उनके सम्बन्ध मे भी सकेतित है। अथर्ववेद मे पिशाचो का मृतको से सम्बन्ध बताया गया है और उन्हे 'शव का भक्षण करने वाला' (क्रव्याद) कहा गया है।[1] एक स्थल पर अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह रुग्ण मनुष्य के उस मास को जिसे पिशाचो ने खा लिया है पुन प्रदान करें।[2] भूतपति के रूप मे रुद्र की कल्पना सर्वप्रथम अथर्ववेद मे ही मिलती है और इसी मे उनकी अभिन्नता भव और शर्व से स्थापित की गई है, जिन्हें स्पष्टत भूतपति कहा गया है।[3]

यद्यपि अथर्ववेदीय रुद्र प्रधानत एक भयकर तथा उग्र देवता है तथापि उसके प्रभाव एवं लोकप्रियता मे क्रमिक वृद्धि के चिन्ह स्पष्ट हैं। यह विरोधाभास विस्मयजनक है। इस प्रसग में उनका भव और शर्व इन दो देवताओ को आत्मसात कर लेना और सहस्राक्ष जैसे विरुद उदाहरणीय हैं। इस ग्रन्थ में कुछ स्थलो पर इन दोनो देवताओ के विनाशात्मक बाणों और विद्युत का उल्लेख हुआ हैं।[4] वहा इनको रुद्र से पृथक् देवता माना गया प्रतीत होता है। लेकिन अन्यत्र ये रुद्र के दो नाम बन गये है। स्पष्ट है कि अथर्ववेद के रचना काल में रुद्र और इन देवताओं को अभिन्न स्वीकृत किया जाने लगा। सम्भवत इन विद्युत्धारी देवताओ का स्वरूप रुद्र के सदृश था। इसलिए अपने वर्धमान प्रभाव के युग में रुद्र ने इनको आत्मसात कर लिया तो कोई आश्चर्य नही।

उत्तर-वैदिक कालीन रुद्र सम्प्रदाय की वर्धमान लोकप्रियता तथा आर्येतर समाज से उसका सम्बन्ध अथर्ववेद के पन्द्रहवे मण्डल के व्रात्यसूक्त के अनुशीलनसे परिलक्षित होता है। इसमे रुद्र का उल्लेख व्रात्य के साथ हुआ है।

---

१. अथर्ववेद ५. २६ ६

२. अथर्ववेद ५. २६ ५

३ अथर्ववेद ११ २. ६

४. अथर्ववेद २. २७. ६, ६. ६३. १, १२ ४. १७ इत्यादि

यह व्रात्य कहीं देवता प्रतीत होता है और कहीं पर्यटक। इसके प्रारम्भ में ही कहा गया है कि व्रात्य महादेव बन गया। व्रात्य ईशान बन गया। अन्त में कहा गया है कि व्रात्य पशुओं की ओर चला और उसने रुद्र का रूप धारण किया। इस सूक्त का सही अर्थ क्या है, यह प्रश्न अत्यन्त विवादास्पद है।[१] किंतु फिर भी इससे दो तथ्य सुस्पष्ट हैं। प्रथम, इसमें व्रात्यों को वैदिक आर्य धर्म से पृथक् और उसका विरोधी माना गया है और दूसरे व्रात्यों का सम्बन्ध रुद्रोपासनासे प्रदर्शित किया गया है।[२] इसका समर्थन यजुर्वेद से भी होता है जिसमें रुद्र के लिये वीव्रात्य शब्द का प्रयोग हुआ है तथा उनके उपासकों में व्रात और व्रातपति की गणना की गई है। ये व्रात्य सांस्कृतिक दृष्टि से आर्येतर परम्परा से सम्बद्ध थे। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि ताण्ड्य ब्राह्मण में व्रात्यों को रजत-निष्क धारण करने वाला बतलाया गया है।[३] वैदिक समाज में रजत-निष्क धारण करने की परम्परा नहीं थी। सत्य तो यह है कि ऋग्वेदिक आर्य रजत शब्द से प्रायः अपरिचित थे।[४] ऐसी स्थिति में व्रात्यों में रजत-निष्क के प्रयोग का प्रचलन उनके अनार्यत्व का ही संकेतक है।

---

१ विभिन्न मतों के लिये द्र०—ए० चक्रवर्ती, दि व्रात्याज, ए० आई० ओ० सी० न० ३ (मद्रास), वी० एम० आप्टे, दि इम्पार्टेन्स आव दि कन्सेप्सन आव व्रत इन सोशल एण्ड रिलिजस लाइफ आव रिग्वेदिक आर्यन्स एंड इट्स बियरिंग आन दि प्राब्लम आव दि व्रात्याज, ए० आई० ओ० सी० ११ (हैदराबाद), ए० पी० करमारकर, दि व्रात्याज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, सम्पूर्णानन्द, व्रात्यकाण्डम्

२ श्री कण्ठ शास्त्री, प्रोटो इण्डिक रिलिजन, पृ० ७-६, ८८-९०, राधाकृष्ण चौधरी, व्रात्याज इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, पृ० २६ ३७

३ ताण्ड्य ब्रा० १७ १.१४
व्रात्य-समाज में लोकप्रिय रजत 'भारोपीय भाषा' का शब्द है। ईरानी भाषा का 'अर्जत' और पश्चिमी भाषाओं में प्राप्त 'अर्जेन्त' शब्द रजत के ही परिवर्तित रूप हैं। यह तथ्य विस्मय-जनक है कि भारोपीय सांस्कृतिक परम्परा से सम्बद्ध होते हुए भी 'रजत' वैदिक समाज में तिरस्कृत और उपेक्षित है और इसके विपरीत वैदिक आदर्शों के विरोधी व्रात्यों में सम्मान्य एवं लोकप्रिय।

४. ऋक्संहिता के आठवें मण्डल में केवल एक स्थान पर रजत का उल्लेख है जो प्रक्षिप्तवत् प्रतीत होता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आठवाँ मण्डल वंश मण्डल नहीं है तथा उसकी प्राचीनता पूर्णतः सन्दिग्ध है।

अथर्ववेद मे उनके विषपायी (गरगिरो) होने का भी उल्लेख है जो अकस्मात् रुद्र के विषपान का स्मरण दिलाता है। ऋक्संहिता के दशम् मण्डल के केशि सूक्त मे कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया। यद्यपि यास्क और सायण ने केशी शब्द का लाक्षणिक अर्थ सूर्य माना है किन्तु काठक संहिता, मैत्रायणी संहिता तथा शतपथ ब्राह्मण जैसे उत्तर वैदिक ग्रन्थो मे केशियो का उल्लेख एक कबीले के अर्थ मे हुआ है। इससे लगता है कि ऋग्वेद के इस सूक्त का केशी भी सूर्य न होकर केशी जातीय था। ऐसी स्थिति मे केशी का अर्थ जटाधारी करना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इसी सूक्त के कुछ मन्त्रों मे केशी की तुलना मुनियो से की गई है।[१] इन मुनियो के सम्बन्ध में कहा गया है कि उनके केश लम्बे और वस्त्र पीत होते हैं। वे पवन मे विहार करते हैं, विषपान करते हैं और मौनेय से उन्मदित रहते हैं। यह सर्वथा स्पष्ट है कि इन मुनियो का केशियो के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके चमत्कारपूर्ण विरल वर्णन और अन्य अनेक तथ्यों के आधार पर यह प्राय स्वीकार किया गया है वे किसी समृद्ध आर्येतर सांस्कृतिक परम्परा के उच्छेदित अवशेष थे।[२] इस प्रकार व्रात्य, केशी और मुनि अवैदिक धार्मिक परम्पराओ के पोषक थे। इनमें प्रथम दो का सम्बन्ध रुद्र से स्पष्ट है। यह बात अत्यन्त कौतूहलजनक है कि रुद्र, व्रात्य, केशी और मुनियों को समान रूप से विषपान करने वाला कहा गया है। इससे भी उनके समान धार्मिक परिवेश का सकेत मिलता है।

यजुर्वेद तथा ब्राह्मणो मे रुद्र के प्रभाव और अनार्यत्व में । वृद्धि हो जाने के चिन्ह स्पष्टत दृष्टिगोचर होते हैं। अथर्ववेद भव और शर्व को आत्मसात करने की प्रक्रिया सकेतित है जब निश्चित रूप से वे रुद्र के दो नाम मात्र हैं। यद्यपि यजुर्वेद विनाशकारी एव कल्याणकर दोनो रूपो मे स्तवन हुआ है 'महाभिषक' आदि विरुद दिये गये हैं तथापि उनके स्वरूप कुछ ऐसे नवीन तत्त्वो का समावेश है [illegible] जो अंशतः [illegible] विकास किन्तु मुख्यतः आर्येतर प्र[illegible] [illegible] प्रतीत [illegible] संहिता मे रुद्र के लिये "दौर्वात्य" । [illegible] है। [illegible]

१ ऋक्संहिता १०, १३६

२. बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास,

अर्थ 'उच्छृङ्खल आचरणवाला' बताया है। यह शब्द अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त के साक्ष्य से सगति रखता है और रुद्र की आर्येतर व्रात्यसमाज मे लोकप्रियता का परिचायक है। यजुर्वेद में रुद्र का पशुपति रूप भी अपेक्षया स्पष्टतर हो गया है। यजुर्वेद में रुद्र की कल्पना के विकास पर सर्वाधिक प्रकाश त्र्यम्बक होम' और 'शतरुद्रिय' नामक दो सूक्तो से मिलता है। 'त्र्यम्बक होम' मे रुद्र के सम्बन्ध मे कुछ ऐसी महत्वपूर्ण सूचनाएँ भी है जो समस्यामूलक है। प्रथम इस सूक्त में रुद्र को त्र्यम्बक कहा गया है[1]। दूसरे, इसमे रुद्र के साथ पहली बार एक देवी अम्बिका का उल्लेख हुआ है जिसे उनकी बहन बताया गया है[2]। तीसरे, इसमे रुद्र को कृत्तिवासा (खाल के वस्त्र पहनने वाला) कहा गया है[3]। चौथे, इसमें रुद्र के वाहन मूषक की चर्चा है। और पाँचवें, इसमें रुद्र से उनका यज्ञ भाग देने के उपरान्त 'मूजवत' पर्वत से परे चले जाने के लिये अनुरोध किया गया है[4]। यह प्रार्थना कुछ ऐसे ढग से की गई है जिससे लगता है कि स्तोता अपने आपको रुद्र से दूर ही रखना चाहता था। रुद्र के सम्बन्ध मे 'त्र्यम्बक होम' से अधिक दिलचस्प बातें शतरुद्रिय स्तोत्र के छाछठ मन्त्रो मे कही गई हैं। इसमें पहली बार रुद्र को शिव, शकर गिरित्र, गिरिचर तथा गिरिशय आदि कहा गया है। ये उपाधियाँ परवर्ती युगों में अत्यन्त लोकप्रिय हुईं। दूसरे, इसमे उनकी पुरानी 'नील शिखण्डिन' उपाधि 'नील ग्रीव' मे परिवर्तित हो जाती है[5]। तीसरे, इसमें रुद्र को कुछ ऐसी उपाधियाँ भी दी गई हैं जो किसी प्रकार भी सम्मानपूर्ण नही कही जा सकतीं—जैसे स्तेनाना पति (चोरो का स्वामी) स्तायूनापति (ठगराज), तस्कराणापति (तस्कर-राज), विकृन्तानापति (गलकटो का सरदार), तथा वनानापति आदि।[6] इस स्तोत्र में रुद्र के गणो का भी वर्णन है जिनमें व्रात, व्रातपति, तक्षन, कुलाल, कर्मकार, निषाद, श्वनि (श्वानपालक) मृगयु (व्याध) आदि सम्मिलित किये गये हैं। रुद्र सम्प्रदाय के अनुयायियो को देखते हुये स्पष्ट है कि रुद्र की उपासना समाज के हीन वर्ग मे विशेष

---

१ वाज० स० १ ६०

२ वाज० स० ३. ५७, तै० ब्रा० १ ६ १०

३ वाज० स० १६. ११

४ शत० ब्रा० २ ६ २. १७

५. वाज० स० १६. २८

६ वाज० स० १६, तै० सं० ४ ४

अथर्ववेद मे उनके विषपायी (गरगिरी) होने का भी उल्लेख है जो अकस्मात् रुद्र के विषपान का स्मरण दिलाता है। ऋक्सहिता के दशम् मण्डल के केशि सूक्त मे कहा गया है कि रुद्र ने केशी के साथ विषपान किया। यद्यपि यास्क और सायण ने केशी शब्द का लाक्षणिक अर्थ सूर्य माना है किन्तु काठक सहिता, मैत्रायणी सहिता तथा शतपथ ब्राह्मण जैसे उत्तर वैदिक ग्रन्थो मे केशियो का उल्लेख एक कबीले के अर्थ मे हुआ है। इससे लगता है कि ऋग्वेद के इस सूक्त का केशी भी सूर्य न होकर केशी जातीय था। ऐसी स्थिति मे केशी का अर्थ जटाधारी करना अधिक उपयुक्त होगा। यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि इसी सूक्त के कुछ मत्रो मे केशी की तुलना मुनियों से की गई है।[1] इन मुनियो के सम्बन्ध मे कहा गया है कि उनके केश लम्बे और वस्त्र पीत होते हैं। वे पवन में विहार करते हैं, विषपान करते हैं और मौनेय से उन्मदित रहते हैं। यह सर्वथा स्पष्ट है कि इन मुनियो का केशियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। उनके चमत्कारपूर्ण विरल वर्णन और अन्य अनेक तथ्यों के आधार पर यह प्राय स्वीकार किया गया है वे किसी समृद्ध आर्येतर सास्कृतिक परम्परा के उच्छेदित अवशेष थे।[2] इस प्रकार व्रात्य, केशी और मुनि अवैदिक धार्मिक परम्पराओ के पोषक थे। इनमे प्रथम दो का सम्बन्ध रुद्र से स्पष्ट है। यह बात अत्यन्त कौतूहलजनक है कि रुद्र, व्रात्य, केशी और मुनियों को समान रूप से विषपान करने वाला कहा गया है। इससे भी उनके समान धार्मिक परिवेश का सकेत मिलता है।

यजुर्वेद तथा ब्राह्मणो मे रुद्र के प्रभाव और अनार्यत्व मे और अधिक वृद्धि हो जाने के चिन्ह स्पष्टत दृष्टिगोचर होते हैं। अथर्ववेद मे रुद्र द्वारा भव और शर्व को आत्मसात करने की प्रक्रिया सकेतित है जबकि यजुर्वेद मे निश्चित रूप से वे रुद्र के दो नाम मात्र हैं। यद्यपि यजुर्वेद में भी उनका विनाशकारी एव कल्याणकर दोनो रूपों मे स्तवन हुआ है और उन्हें पुराने 'महाभिषक' आदि विरुद दिये गये हैं तथापि उनके स्वरूप की कल्पना मे कुछ ऐसे नवीन तत्वो का समावेश हो गया है जो अशतः पुराने तत्वो का विकास किन्तु मुख्यतः आर्येतर प्रभाव का परिणाम प्रतीत होते हैं। इन सहिता मे रुद्र के लिये "दोर्वात्य" विरुद का प्रयोग हुआ है। महीधर ने इसका

---

१ ऋक्सहिता १०, १३६

२ बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, पृ० ४-५

अर्थ 'उच्छृङ्खल आचरणवाला' बताया है। यह शब्द अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त के साक्ष्य से संगति रखता है और रुद्र की आर्येतर व्रात्यसमाज में लोकप्रियता का परिचायक है। यजुर्वेद मे रुद्र का पशुपति रूप भी अपेक्षया स्पष्टतर हो गया है। यजुर्वेद मे रुद्र की कल्पना के विकास पर सर्वाधिक प्रकाश त्र्यम्बक होम' और 'शतरुद्रिय' नामक दो सूक्तों से मिलता है। 'त्र्यम्बक होम' मे रुद्र के सम्बन्ध मे कुछ ऐसी महत्वपूर्ण सूचनाएँ भी है जो समस्यामूलक है। प्रथम इस सूक्त मे रुद्र को त्र्यम्बक कहा गया है[1]। दूसरे, इसमे रुद्र के साथ पहली बार एक देवी अम्बिका का उल्लेख हुआ है जिसे उनकी बहन बताया गया है[2]। तीसरे, इसमे रुद्र को कृत्तिवासा (खाल के वस्त्र पहनने वाला) कहा गया है[3]। चौथे, इसमें रुद्र के वाहन मूषक की चर्चा है। और पाँचवें, इसमें रुद्र से उनका यज्ञ भाग देने के उपरान्त 'मूजवत' पर्वत से परे चले जाने के लिये अनुरोध किया गया है[4]। यह प्रार्थना कुछ ऐसे ढग से की गई है जिससे लगता है कि स्तोता अपने आपको रुद्र से दूर ही रखना चाहता था। रुद्र के सम्बन्ध में 'त्र्यम्बक होम' से अधिक दिलचस्प बाते शतरुद्रिय स्तोत्र के छाछठ मन्त्रो में कही गई हैं। इसमे पहली बार रुद्र को शिव, शकर गिरित्र, गिरिचर तथा गिरिशय आदि कहा गया है। ये उपाधियाँ परवर्ती युगों में अत्यन्त लोकप्रिय हुईं। दूसरे, इसमे उनकी पुरानी 'नील शिखण्डिन' उपाधि 'नील ग्रीव' में परिवर्तित हो जाती है[5]। तीसरे, इसमें रुद्र को कुछ ऐसी उपाधियाँ भी दी गई हैं जो किसी प्रकार भी सम्मानपूर्ण नही कही जा सकती—जैसे स्तेनाना पति (चोरो का स्वामी) स्तायूनापति (ठगराज), तस्कराणापति (तस्कर-राज), विकृन्तानापति (गलकटो का सरदार), तथा वनानापति आदि।[6] इस स्तोत्र मे रुद्र के गणो का भी वर्णन है जिनमें व्रात, व्रातपति, तक्षन, कुलाल, कर्मकार, निषाद, श्वनि (श्वानपालक) मृगयु (व्याघ) आदि सम्मिलित किये गये हैं। रुद्र सम्प्रदाय के अनुयायियो को देखते हुये स्पष्ट है कि रुद्र की उपासना समाज के हीन वर्ग में विशेष

---

१ वाज० स० ३ ६०

२ वाज० स० ३. ५७, तै० ब्रा० १ ६ १०

३ वाज० स० १६. ११

४ शत० ब्रा० २ ६ २ १७

५ वाज० स० १६ २८

६ वाज० स० १६, तै० स० ४ ४

लोकप्रिय थी। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि उत्तर वैदिक युग मे शूद्र वर्ग के अन्तर्गत परिगणित शिल्पियों एवं व्यवसायियों में आर्येतर तत्व ही प्रधान था। निषाद तो निश्चित रूप से प्रजातीय और सास्कृतिक दृष्टि से वैदिक आर्यों से भिन्न थे।

ब्राह्मण काल मे रुद्र के प्रभाव और पद मे और अधिक वृद्धि दिखाई देती है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रसग मे कहा गया है कि रुद्र की उत्पत्ति सब देवताओ के उग्र अश को मिला कर अपनी पुत्री पर आसक्त प्रजापति को दण्डित करने के लिये हुई।[१] वहाँ गौरव की दृष्टि से उनके नाम का उल्लेख नही हुआ है। प्रत्युत 'एष देवो भवत' कहकर सम्मान प्रकट किया गया है। ब्राह्मण काल मे भी रुद्र पशुओं के विनाशक माने जाते थे। पचविंश ब्राह्मण मे तो उन्हें स्पष्टत मृगयु कहा गया है।[२] ऐतरेय ब्राह्मण के लेखक का यह विश्वास है कि रुद्र प्रकृत्या इतने उग्र हैं कि उनका नाम लेने से ही अनिष्ट हो सकता है अत वह स्तोता को रुद्र का नाम उच्चारित न करने और 'रुद्र' के स्थान पर 'रुद्रिय' पाठ करने की सलाह देता है।[३] किन्तु इस विधि से भी उसे विश्वास नही होता कि रुद्र की स्तुति करने से अनिष्ट नही होता। अत वह सुझाव रखता है कि स्तोता को उस मन्त्र का पाठ करना चाहिये जिसमे रुद्र के शान्त रूप का स्तवन उनका नाम लिये बिना किया गया है तथा उनसे पुरुषों, स्त्रियो और गायो के कल्याण की प्रार्थना की गई है।[४] ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार ऐसा करने से रुद्र भयास्पद देवता न होकर कल्याणकर हो जायेंगे। इस ग्रन्थ मे उल्लिखित नाभानेदिष्ट की कथा से भी रुद्र का उत्कर्ष प्रमाणित होता है। इसमे रुद्र विश्व की सभी वस्तुओ पर अपना अधिकार बताते हैं और नाभानेदिष्ट के पिता उनका समर्थन करते हैं।[५]

शतपथ ब्राह्मण मे रुद्र का स्वरूप और भी अधिक उग्र है। इसमे यद्यपि उन्हें सम्वत्सर और उषा के मिलन से उत्पन्न बताया गया है लेकिन यह भी

---

१. ऐत० ब्रा० ३. ३३ १
२. पच० ब्रा० १४ ९ १२
३. ऐत० ब्रा० ३. ३४ ७
४ ऋ० १. ४६. ६
५. ऐत० ब्रा० ५. १४

संकेत किया है कि 'उनसे स्तोता के पशुओं का अनिष्ट हो सकता है।[१] इस ग्रंथ में एक स्थल पर उनकी कल्पना एक ऐसी अशुभ शक्ति के रूप में की गयी है जो एक स्थान से दूसरे स्थान को भटकती रहती है और कहा गया है कि स्तोता को उत्तर दिशा में जाकर (जिस ओर रुद्र का विशेष आवास है) सड़कों और चौराहों पर हविष अर्पित करनी चाहिये।[२] अन्यत्र कहा गया है कि स्तोता रुद्र को हविष देने के बाद प्रार्थना करे कि वह अपने धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाए बिना अर्थात् उसे कोई हानि पहुँचाये बिना मूजवत के पार चले जायें।[३] इतना ही नहीं, इसके बाद यह विधान किया गया है कि किस प्रकार स्तोता, जो रुद्र की उपासना करने से अपवित्र हो गया है, अपने को पवित्र करे।[४] शतपथ ब्राह्मण के अनुसार शतरुद्रिय की रचना भी रुद्र के क्रोध को शान्त करने के लिये की गई थी। ब्राह्मण साहित्य में यत्र-तत्र रुद्र को शुभ और कल्याणकर देवता भी माना गया है तथा कुछ प्रसंगों में उनका नैतिक उत्कर्ष भी संकेतित है।[५]

रुद्र की पत्नी पार्वती का उल्लेख तैत्तिरीय आरण्यक में तथा उमा हैमवती का केनोपनिषद में मिलता है।[६] उमा के उद्‌गमन पर कुछ विद्वानों ने द्रविड़ प्रभाव माना है। उनके अनुसार उमा शब्द द्रविड़ भाषा के 'अम्मा' शब्द से उद्‌भूत प्रतीत होता है।[७] उमा, हैमवती और पार्वती शब्द द्वारा इन देवियों का सम्बन्ध गिरि प्रदेश से सूचित होता है। परवर्ती साहित्य में उमा को हिमवन्त सुता कहा गया है तथा शिव को कैलाश-पति। यजुर्वेद के गिरिचर, गिरिशय आदि विशेषणों से तथा उनकी पत्नी के पर्वतीय होने से यह प्रकट है कि उत्तर वैदिक युग में रुद्र गिरि-कानन के अधिपति देवता भी माने जाने लगे थे। पर्वत मालाओं से सुशोभित उत्तर-दिशा में रुद्र के आवास और पर्वतीय प्रदेश के निवासी किरातों में उनकी लोक-प्रियता से भी यह बात सूचित है। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने बढ़ते हुए प्रमुत्व के

---

१ शत० ब्रा० २ ६.२ ६
२ शत० ब्रा० २ ६ २. ७
३ शत० ब्रा० २. ६ २, १७
४ शत० ब्रा० २ ६ २ १८
५ जै० ब्रा० ३ २६१-३
६ केनोपनिषद ३ १५
७ म्योर्ट, ओरिजिनल इनहेबिटेन्ट्स् आव इण्डिया, पृ० ४२१

युग मे रुद्र ने किसी पार्वतीय देवता को भी आत्मसात किया जिसकी उपासना मुख्यत आर्येतर पहाडी जातियो (किरातो) में प्रचलित रही होगी।

उपनिषत्काल में रुद्र के महत्व और प्रभाव का वर्णन छान्दोग्य, बृहदारण्यक, महानारायण, श्वेताश्वतर आदि उपनिषदो में उपलब्ध होता है।[१] श्वेताश्वतर मे रुद्र को ही विश्व का अधिपति तथा देवताओ का भी द्रष्टा माना गया है।[२] इसी ग्रन्थ में अनेकश. शिव का उल्लेख परमात्म-तत्व के रूप मे भी हुआ है।[३]

ऋक्संहिता मे विष्णु का उल्लेख सौर-देवता के रूप मे मिलता है। विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप के प्रतिनिधि हैं। ऋग्वेद मे उनके स्वरूप की

विष्णु

तुलना पर्वत पर रहने वाले, यथेच्छ भ्रमण करने वाले, भयानक पशु-(सिंह) से की गई है।[४] विष्णु का महत्वपूर्ण कार्य पृथ्वी को तीन डगो से मापना है। विशाल डगो या क्रमो के कारण उन्हे 'उरुक्रम' और 'उरुगाय' भी कहा गया है। विष्णु के इन तीन पद-क्रमो के विषय मे पर्याप्त वैमत्य है। यास्क ने आचार्य और्णवाभ का मत उद्धृत किया है जिनके अनुसार तीन पदक्रमो-द्वारा प्रात मध्याह्न और सायकाल मे सूर्य के द्वारा अङ्गीकृत आकाश के तीन स्थान-विन्दुओ का निर्देश है।[५] अन्य आचार्य शाकपूणि के मतानुसार त्रिविक्रम से पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश—इन तीन लोको के मापने तथा अतिक्रमण करने का सकेत है। इन दोनो मतों मे से द्वितीय मत की पुष्टि ऋग्वेद के मन्त्रों से स्वत होती है जिनमे तृतीय पद की सत्ता ऊर्ध्वतम लोक में मानी गई है।

विष्णु नामक सौर देवता उत्तर-वैदिक काल मे विशेष महत्वपूर्ण हो जाता है।[६] ऐतरेय ब्राह्मण के प्रारंभ मे ही विष्णु के परमदेव होने की सूचना दी

---

१. छा० उप० ३ ७ ४, बृ० उप० ३ ६ ४, महा० उप० १३ २, श्वेता० उप० ३ २४
२ श्वेता० उप० ३ ४ यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः
३ श्वेता उप० १ १०
४. ऋ० १ १५४ २
५. निरुक्त १२ १९
६ मैक्डानेल, वैदिक माइथालोजी, पृ० ३७ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० ११०

गई है।[१] ब्राह्मण साहित्य मे स्थान-स्थान पर उन्हें यज्ञ का प्रतिरूप माना गया है इससे भी उनकी महत्ता द्योतित है।[२] ब्राह्मण सहित्य में विष्णु के वामन अवतार की कल्पना भी अंकुरित हुई जिसका आधार विष्णु का त्रिविक्रम प्रतीत होता है। ब्राह्मणो मे असुरों के सम्मुख देवताओ के अस्तित्व एव महत्व की रक्षा का श्रेय विष्णु को ही दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार असुरों ने विष्णु को उतनी भूमि देना स्वीकार किया जितनी वे तीन पदो से अधिकृत कर सकें। विष्णु ने सभी लोको को माप लिया।[३] तैत्तिरीय सहिता का वर्णन कुछ और स्पष्ट है। इसके अनुसार विष्णु ने वामन रूप धारण करके तीनों लोकों को अधिकृत किया।[४] शतपथ ब्राह्मण में भी असुरो द्वारा विजित पृथ्वी पर वामन विष्णु की सहायता से देवताओ के अधिकार की बात कही गई है।[५] शतपथ ब्राह्मण में नारायण का भी उल्लेख हुआ है किन्तु विष्णु से उनका सबध सूचित नही होता है।[६] मैत्रायणी सहिता मे विष्णु का उल्लेख केशवनारायण के रूप मे हुआ है[७] तथा तैत्तिरीय आरण्यक मे भी विष्णु और नारायण का सबध द्योतित है।[८] महाकाव्यों में विष्णु-नारायण की सत्ता परस्पर विलयित हो गई है किन्तु विष्णु और नारायण के तादात्म्य का प्रारम्भिक प्रयास उत्तर-वैदिक साहित्य में ही उपलब्ध होता है। कतिपय विद्वान नारायण की अवधारणा को आर्येतरीय मानते है।[९] नाराशब्द स्वत द्रविड उत्पति का प्रतीत होता है।[१०]

---

१ ऐत० ब्रा० १ १

२ शत० ब्रा० ५ २ ३ ६, ५ ४ ५ १, १२ ४ १ ४

३ ऐत० ब्रा० ६ १५

४ तै० स २ १ ३ १

५ शत० ब्रा० १ २.५ १

६ शत० ब्रा० १२ ३ ४ १

७ मैत्रा० स० २ ९

८ तै० आ० १० ११ १

९ डी० डी० कौशाम्बी, ऐन इन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव इण्डियन हिस्टरी, पृ० १११

१० वहीं

उत्तर वैदिक युग मे अनेक नवीन देवताओं की कल्पना भी उपलब्ध होती है। इनमे कुछ तो अमूर्त हैं तथा दार्शनिक चिन्तन के परिणाम प्रतीत होते हैं। अथर्ववेद मे परम सत्ता को अनेक सज्ञाओं द्वारा व्यक्त किया गया है। इस सहिता में एक स्थान पर 'काल' को ही जगत का परम तत्व स्वीकार किया गया है। काल समस्त प्रपच का अधिष्ठान हैं। उसमे मन, प्राण तथा नाम ही समाहित नही है प्रत्युत वह सब का ईश्वर है तथा प्रजापति का भी पिता है।[1] 'काल' की अवधारणा का अग्रिम विकास आरण्यको में मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक के प्रारम्भिक अनुवाको मे काल के पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप का सुन्दर वर्णन मिलता है। अखण्ड सम्वत्सर के रूप मे यही काल उद्भासित है तथा व्यवहार के लिये मुहूर्त, दिवा-रात्रि, पक्ष, मास, आदि में विभक्त होते हुये भी वह एकाकार है। उसकी तुलना उस महानदी मे की गई है जो अक्षय स्रोत से सदा प्रवाहित होती है, जिसे नाना सहायक नदिया आकर पुष्ट बनाती है तथा जिसका प्रवाह कभी नही सूखता।[2] काल के अतिरिक्त अथर्ववेद मे 'स्कम्भ'[3] और 'उच्छिष्ट'[4] का उल्लेख भी हुआ है जो परब्रह्म के ही नवीन अभिधान तथा स्वरूप प्रतीत होते हैं। जगत के आश्रय तथा आधार होने के कारण ही परमब्रह्म स्कम्भ की सज्ञा से मण्डित है। वह विश्व का ही नही प्रत्युत ब्रह्म का भी कारण है। इसीलिये उसे 'ज्येष्ठ ब्रह्म' कहा गया है। स्कम्भ मे भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु सभी समाहित माने गये हैं।[5] 'उच्छिष्ट सूक्त' मे भी वही ब्रह्म उच्छिष्ट नाम से व्यक्त किया गया है। उच्छिष्ट शब्द का अर्थ है बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्य जगत का निषेध करने पर जो वस्तु अवशिष्ट रहती है सम्भवतः वही उच्छिष्ट है जिसकी तुलना परवर्ती साहित्य के 'नेति नेति' (ब्रह्म) से की जा सकती है। जगत के सभी पदार्थों की उत्पत्ति 'उच्छिष्ट सूक्त' में उच्छिष्ट से ही मानी गई है।[6] 'प्राण' का भी उल्लेख अथर्ववेद मे

१ अथर्ववेद १९ ५३,५४
२. तै० आ० १ २ नदीव प्रभवात् काचित् अक्षय्यात् स्यन्दते यथा
३. अथर्ववेद १० ७ ८
४ अथर्ववेद ११ ७
५. अथर्ववेद १०.७ १२
६ अथर्ववेद ११ ७.२३

परम सत्ता के रूप में मिलता है तथा उसका तादात्म्य प्रजापति से स्थापित किया गया है।[१] आरण्यकों एव उपनिषदो मे प्राण विद्या का जो विस्तार है उसका अकुर अथर्ववेदीय 'प्राण' के वर्णन में माना जा सकता है। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार देवता वेद, ऋषि एव ससार सबकी उत्पत्ति प्राण से हुई।[२] अथर्ववेद के त्रयोदश काण्ड में रोहित का वर्णन अनेकश मिलता है जो सूर्य के रक्ताभ स्वरूप का प्रतीक मालूम होता है।[३] रोहितको भी यज्ञ का जनक तथा समग्र विश्व का निर्माता कहा गया है तथा उसी के अधिष्ठान के ऊपर यह ससार स्थिर माना गया है।[४] अथर्ववेद मे रोहित का तादात्म्य भी प्रजापति से स्थापित किया गया है। अथर्ववेद के विवरण से रोहित भी ब्रह्म का पर्याय प्रतीत होता है।

उत्तर-वैदिक युग के कुछ नवीन देवता प्राकृतिक जगत से सम्बन्धित हैं। ऋग्वेद में वनस्पतियों की स्तुति में सूक्त रचित हैं[५] किन्तु अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय सहिता में दैवी शक्ति का निवास विशेषत अश्वत्थ, न्यग्रोध, उदुम्बर और प्लाक्ष में माना गया हैं।[६] अश्वत्थ की आकस्मिक महत्ता में वृद्धि का कारण सैन्धव धर्म का प्रभाव हो सकता है क्योंकि सैन्धव समाज में अश्वत्थ वृक्ष धार्मिक दृष्टि से समादृत था जब कि ऋग्वैदिक धर्म के अन्तगत ऐसी स्थिति नही थी। अथर्ववेद में एक स्थल पर पौधे का उल्लेख पृथ्वी देवी से जन्म लेती हुई एक देवी के रूप मे हुआ है।[७] यह वर्णन सैधव सस्कृति से सम्बन्धित उस मुद्रा से आश्चर्यजनक साम्य रखता है जिस पर देवी की योनि से पौधे का जन्म प्रदर्शित किया गया है।[८] पशुओं में अनेक को ऋग्वेद में ही आशिक देवत्व से युक्त किया गया है किन्तु उनकी वास्तविक उपासना

---

१ अथर्ववेद ११ ४

२ ऐत० आ० २ १ ६, २.२ १०

३ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १ पृ० २०९

४ अथर्ववेद १३ १-३

५ ऋ० ७ ३४ २३, १० ६४ ८

६ तै० स० ३ ४ ८ ४

७ अथर्ववेद ६ १३६ १

८ मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, ग्रन्थ १, पृ० ५२ प्लेट १२

अन्य नवीन देवता

उत्तर वैदिक युग मे अनेक नवीन देवताओ की कल्पना भी उपलब्ध होती है। इनमे कुछ तो अमूर्त हैं तथा दार्शनिक चिन्तन के परिणाम प्रतीत होते हैं। अथर्ववेद मे परम सत्ता को अनेक सज्ञाओं द्वारा व्यक्त किया गया है। इस सहिता में एक स्थान पर 'काल' को ही जगत का परम तत्व स्वीकार किया गया है। काल समस्त प्रपच का अधिष्ठान हैं। उसमे मन, प्राण तथा नाम ही समाहित नही है प्रत्युत वह सब का ईश्वर है तथा प्रजापति का भी पिता है।[१] 'काल' की अवधारणा का अग्रिम विकास आरण्यको मे मिलता है। तैत्तिरीय आरण्यक के प्रारम्भिक अनुवाको मे काल के पारमार्थिक और व्यावहारिक रूप का सुन्दर वर्णन मिलता है। अखण्ड सम्वत्सर के रूप में यही काल उद्भासित है तथा व्यवहार के लिये मुहूर्त, दिवा-रात्रि, पक्ष, मास, आदि मे विभक्त होते हुये भी वह एकाकार है। उसकी तुलना उस महानदी से की गई है जो अक्षय स्रोत से सदा प्रवाहित होती है, जिसे नाना सहायक नदिया आकर पुष्ट बनाती है तथा जिसका प्रवाह कभी नही सूखता।[२] काल के अतिरिक्त अथर्ववेद मे 'स्कम्भ'[३] और 'उच्छिष्ट'[४] का उल्लेख भी हुआ है जो परब्रह्म के ही नवीन अभिधान तथा स्वरूप प्रतीत होते हैं। जगत के आश्रय तथा आधार होने के कारण ही परमब्रह्म स्कम्भ की सज्ञा से मण्डित है। वह विश्व का ही नही प्रत्युत ब्रह्म का भी कारण है। इसीलिये उसे 'ज्येष्ठ ब्रह्म' कहा गया है। स्कम्भ मे भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य और वायु सभी समाहित माने गये हैं।[५] 'उच्छिष्ट सूक्त' मे भी वही ब्रह्म उच्छिष्ट नाम से व्यक्त किया गया है। उच्छिष्ट शब्द का अर्थ है बचा हुआ, शेष पदार्थ। दृश्य जगत का निषेध करने पर जो वस्तु अवशिष्ट रहती है सम्भवतः वही उच्छिष्ट है जिसकी तुलना परवर्ती साहित्य के 'नेति नेति' (ब्रह्म) से की जा सकती है। जगत के सभी पदार्थों की उत्पत्ति 'उच्छिष्ट सूक्त' में उच्छिष्ट से ही मानी गई है।[६] 'प्राण' का भी उल्लेख अथर्ववेद मे

---

१ अथर्ववेद १९ ५३,५४

२ तै० आ० १ २ नदीव प्रभवात् काचित् अक्षय्यात् स्यन्दते यथा

३. अथर्ववेद १०.७ ८

४ अथर्ववेद ११.७

५. अथर्ववेद १० ७ १२

६ अथर्ववेद ११ ७.२३

परम सत्ता के रूप मे मिलता हैं तथा उसका तादात्म्य प्रजापति से स्थापित किया गया है।[१] आरण्यको एव उपनिषदो मे प्राण-विद्या का जो विस्तार है उसका अकुर अथर्ववेदीय 'प्राण' के वर्णन मे माना जा सकता है। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार देवता वेद, ऋषि एव ससार सबकी उत्पत्ति प्राण से हुई।[२] अथर्ववेद के त्रयोदश काण्ड में रोहित का वर्णन अनेकश मिलता है जो सूर्य के रक्ताभ स्वरूप का प्रतीक मालूम होता है।[३] रोहितको भी यज्ञ का जनक तथा समग्र विश्व का निर्माता कहा गया है तथा उसी के अधिष्ठान के ऊपर यह ससार स्थिर माना गया है।[४] अथर्ववेद मे रोहित का तादात्म्य भी प्रजापति से स्थापित किया गया है। अथर्ववेद के विवरण से रोहित भी ब्रह्म का पर्याय प्रतीत होता है।

उत्तर-वैदिक युग के कुछ नवीन देवता प्राकृतिक जगत से सम्बन्धित हैं। ऋग्वेद में वनस्पतियों की स्तुति में सूक्त रचित हैं[५] किन्तु अथर्ववेद तथा तैत्तिरीय सहिता में दैवी शक्ति का निवास विशेषत अश्वत्थ, न्यग्रोध, उदुम्बर और प्लाक्ष में माना गया हैं।[६] अश्वत्थ की आकस्मिक महत्ता में वृद्धि का कारण सैन्धव धर्म का प्रभाव हो सकता है क्योंकि सैन्धव समाज में अश्वत्थ वृक्ष धार्मिक दृष्टि से समादृत था जब कि ऋग्वैदिक धर्म के अन्तगत ऐसी स्थिति नही थी। अथर्ववेद में एक स्थल पर पौधे का उल्लेख पृथ्वी देवी से जन्म लेती हुई एक देवी के रूप मे हुआ है।[७] यह वर्णन सैधव सस्कृति से सम्बन्धित उस मुद्रा से आश्चर्यजनक साम्य रखता है जिस पर देवी की योनि से पौधे का जन्म प्रदर्शित किया गया है।[८] पशुओं मे अनेक को ऋग्वेद में ही आशिक देवत्व से युक्त किया गया है किन्तु उनकी वास्तविक उपासना

१ अथर्ववेद ११ ४
२ ऐ० आ० २ १ ६, २ २ १०
३ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १ पृ० २०६
४ अथर्ववेद १३ १-३
५ ऋ० ७ ३४ २३,१० ६४ ८
६ तै० स० ३ ४ ८ ४
७ अथर्ववेद ६ १३६ १
८ मार्शल, मोहनजोदड़ो एण्ड दि इण्डस सिविलिजेशन, ग्रन्थ १, पृ० ५२ प्लेट १२

सर्वथा सन्दिग्ध हैं। उत्तर वैदिक काल में वराह और कच्छप मे देवत्व की कल्पना स्पष्ट है। नाग उपासना की लोकप्रियता भी परवर्ती संहिताओ और ब्राह्मणो के अध्ययन से स्पष्ट है। ओल्डेनबर्ग नागपूजा के मूल में टोटमवाद मानते हैं।[१] उनका यह मत ग्राह्य प्रतीत होता है। बौद्ध युग मे कोशल और विदेह के समीपवर्ती प्रदेशों में नाग जाति का बाहुल्य था। इन नाग लोगो में सर्प की उपासना प्रचलित रही होगी। भय की भावना तथा उपासक से भयकर सर्पो को दूर रखने की कामना को भी नाग पूजा के विस्तार का एक कारण माना जा सकता है।

औपनिषद-दर्शन

वैदिक साहित्य से अन्तर्गत विकसित अध्यात्मवाद का प्रतिपादन उपनिषदो मे उपलब्ध होता है। उपनिषदो मे उल्लिखित अनेक विचार बीजरूपेण संहिताओ एव ब्राह्मणो मे भी मिलते हैं किन्तु ब्राह्मण युग मे यज्ञिय कर्मकाण्डो का जो आशातीत विकास एवं विस्तार हुआ उससे मूल आध्यात्मिक भावना ग्रस्त हो गई। इसके स्वाभाविक प्रतिक्रिया स्वरूप यज्ञो के आडम्बरपूर्ण बाह्य स्वरूप का विरोध हुआ तथा उनमें अन्तर्निहित आध्यात्मिक तत्व के महत्व पर बल दिया गया। इस प्रकार यह सिद्ध करने का प्रयास हुआ कि यज्ञ अपने आप में साध्य नही है अपितु उनमे अन्तर्निहित सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्व ही महत्वपूर्ण है। मुण्डकोपनिषद मे यज्ञ और बलिदान का प्रकट विरोध मिलता है।[२] बृहदारण्यक उपनिषद मे इस बात का संकेत है कि क्रमश यज्ञ और बलिदान की भावना को चिन्तन और मनन मे बदलने का प्रयास हो रहा था। परिणामत उपनिषद् युग मे देवयज्ञ से हटकर आत्मयज्ञ पर बल दिया गया। यद्यपि ब्रह्म अथवा परमपुरुष की प्राप्ति के लिए बाह्य आडम्बर व्यर्थ बताए गए तथापि सामाजिक परिवेश एव जनमानस को देखते हुए उपनिषत्कारो ने पूर्णतया यज्ञ धर्म की अवहेलना नही की। उन्होने उसकी व्याख्या मे परिवर्तन किया। उन्हें शका थी कि समाज में दीर्घकाल से प्रतिष्ठित यज्ञो की आलोचना सम्भवत लोकप्रिय नही हो सकेगी। अतः मनीषियो ने यज्ञमूलक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति न करके उसके

---

१ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी ग्राव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० १९५ पर उद्धृत

२. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्यु ते पुनरेवापि यान्ति।

उद्देश्य एव अभिप्राय में ही परिवर्तन का सफल प्रयास किया। वैदिक प्रार्थना और कर्मकाण्ड का स्थान उपनिषदों मे चिन्तन, मनन और निदिध्यासन ने ले लिया। इस प्रकार वहिर्मुखी वैदिक धर्म उपनिषद् काल में अन्तर्मुखी हो गया। ज्ञान के समक्ष कर्म की हीनता को सूचित करते हुए यह भी कहा गया कि यज्ञ से मनुष्य को केवल नश्वर सुख ही प्राप्त हो सकते हैं। स्वर्ग सुख के विषय में भी उपनिषद यह मानते हैं कि स्वर्ग-सुख का भोग जीव तभी तक कर सकता है जब तक उसके पुण्य शेष है। पुण्य समाप्त होते ही पुन उसे जन्म लेना पडता है और पुन उसकी मृत्यु होती है। इस प्रकार यज्ञ से उत्पन्न सुख अनित्य है। इसके विपरीत ज्ञान के माध्यम से व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करता है जिसके द्वारा वह जन्म और मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

मूल समस्याएँ

उपनिषद् युग बौद्धिक जिज्ञासा का युग था। इस युग के मनीषियों ने अनेक शाश्वत समस्याओ के समाधान का प्रयास किया जिनके चिन्तन एवं मनन के परिणामस्वरूप प्रौढ दर्शन का विकास हुआ। उपनिषद् कालीन दार्शनिक इस अन्वेषण में रत है कि इस ससार के मूल में क्या वास्तविक सत्य है। उपनिषदो के अध्यात्मवेत्ता ऋषियो ने इस नानात्मक, सतत परिवर्तनशील तथा अनित्य जगत के मूल में विद्यमान शाश्वत, सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन पद्धतियो का उपयोग किया है जिन्हे आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक कहा जा सकता है। आधिभौतिक पद्धति जगत के उत्पत्ति विकास एव विनाश के कारणो की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदाथ के निर्वचन मे समर्थ होती है।[1] आधिदैविक पद्धति नाना रूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओं में शक्ति सचार करने वाले एक परमात्म तत्व को खोज निकालती है।[2] आध्यात्मिक पद्धति में मानस प्रक्रियाओ तथा शारीरिक कार्यकलापो के अवलोकन से उनके मूलभूत आत्मतत्व का निरूपण किया जाता है। इन तीन शैलियो के द्वारा उपनिषद्कालीन दार्शनिको ने जिस परमततत्व का ऊहोपोह किया है उसे अन्तत ब्रह्म कहा गया है। उपनिषद् साहित्य मे इस संसार, शरीर तथा परम सदवस्तु के सम्बन्ध में

---

१ बृ० उप० ३ ८ ९

२ बृ० उप० ३ १-१०

सर्वथा सन्दिग्ध हैं। उत्तर वैदिक काल में वराह और कच्छप में देवत्व की कल्पना स्पष्ट है। नाग उपासना की लोकप्रियता भी परवर्ती संहिताओं और ब्राह्मणों के अध्ययन से स्पष्ट है। ओल्डेनबर्ग नागपूजा के मूल में टोटमवाद मानते हैं।[1] उनका यह मत ग्राह्य प्रतीत होता है। बौद्ध युग मे कोशल और विदेह के समीपवर्ती प्रदेशो में नाग जाति का बाहुल्य था। इन नाग लोगों में सर्प की उपासना प्रचलित रही होगी। भय की भावना तथा उपासक से भयकर सर्पों को दूर रखने की कामना को भी नाग पूजा के विस्तार का एक कारण माना जा सकता है।

औपनिषद-दर्शन

वैदिक साहित्य के अन्तर्गत विकसित अध्यात्मवाद का प्रतिपादन उपनिषदो मे उपलब्ध होता है। उपनिषदो मे उल्लिखित अनेक विचार बीजरूपेण संहिताओ एवं ब्राह्मणों मे भी मिलते हैं किन्तु ब्राह्मण युग मे यज्ञिय कर्मकाण्डो का जो आशातीत विकास एवं विस्तार हुआ उससे मूल आध्यात्मिक भावना ग्रस्त हो गई। इसके स्वाभाविक प्रतिक्रिया स्वरूप यज्ञो के आडम्बरपूर्ण बाह्य स्वरूप का विरोध हुआ तथा उनमें अन्तर्निहित आध्यात्मिक तत्व के महत्व पर बल दिया गया। इस प्रकार यह सिद्ध करने का प्रयास हुआ कि यज्ञ अपने आप में साध्य नही है अपितु उनमे अन्तर्निहित सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्व ही महत्वपूर्ण है। मुण्डकोपनिषद मे यज्ञ और बलिदान का प्रकट विरोध मिलता है।[2] बृहदारण्यक उपनिषद मे इस बात का संकेत है कि क्रमश॰ यज्ञ और बलिदान की भावना को चिन्तन और मनन मे बदलने का प्रयास हो रहा था। परिणामत उपनिषद् युग मे देवयज्ञ से हटकर आत्मयज्ञ पर बल दिया गया। यद्यपि ब्रह्म अथवा परमपुरुष की प्राप्ति के लिए बाह्य आडम्बर व्यर्थ बताए गए तथापि सामाजिक परिवेश एव जनमानस को देखते हुए उपनिषत्कारों ने पूर्णतया यज्ञ धर्म की अवहेलना नही की। उन्होने उसकी व्याख्या मे परिवर्तन किया। उन्हें शका थी कि समाज में दीर्घकाल से प्रतिष्ठित यज्ञो की आलोचना सम्भवत लोकप्रिय नही हो सकेगी। अतः मनीषियों ने यज्ञमूलक धर्म के विरुद्ध क्रान्ति न करके उसके

---

१ रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स, भाग १, पृ० १९५ पर उद्धृत

२. प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्यु ते पुनरेवापि यान्ति।

उद्देश्य एव अभिप्राय में ही परिवर्तन का सफल प्रयास किया। वैदिक प्रार्थना और कर्मकाण्ड का स्थान उपनिषदों मे चिन्तन, मनन और निदिध्यासन ने ले लिया। इस प्रकार बहिर्मुखी वैदिक धर्म उपनिषद् काल में अन्तर्मुखी हो गया। ज्ञान के समक्ष कर्म की हीनता को सूचित करते हुए यह भी कहा गया कि यज्ञ से मनुष्य को केवल नश्वर सुख ही प्राप्त हो सकते हैं। स्वर्ग सुख के विषय में भी उपनिषद यह मानते हैं कि स्वर्ग-सुख का भोग जीव तभी तक कर सकता है जब तक उसके पुण्य शेष हैं। पुण्य समाप्त होते ही पुन उसे जन्म लेना पडता है और पुन उसकी मृत्यु होती हैं। इस प्रकार यज्ञ से उत्पन्न सुख अनित्य हैं। इसके विपरीत ज्ञान के माध्यम से व्यक्ति मोक्ष की प्राप्ति करता है जिसके द्वारा वह जन्म और मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

उपनिषद् युग बौद्धिक जिज्ञासा का युग था। इस युग के मनीषियों ने अनेक शाश्वत समस्याओं के समाधान का प्रयास किया जिनके चिन्तन एवं मनन के परिणामस्वरूप प्रौढ दर्शन का विकास हुआ। उपनिषद् कालीन दार्शनिक इस अन्वेषण में रत है कि इस ससार के मूल में क्या वास्तविक सत्य है। उपनिषदों के अध्यात्मवेत्ता ऋषियो ने इस नानात्मक, सतत परिवर्तनशील तथा अनित्य जगत के मूल में विद्यमान शाश्वत, सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्विक दृष्टि से कर निकाला है। इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन पद्धतियो का उपयोग किया है जिन्हें आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक कहा जा सकता है। आधिभौतिक पद्धति जगत के उत्पत्ति विकास एवं विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई विलक्षण नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है।[१] आधिदैविक पद्धति नाना रूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओं मे शक्ति सचार करने वाले एक परमात्म तत्व को खोज निकालती है।[२] आध्यात्मिक पद्धति में मानस प्रक्रियाओ तथा शारीरिक कार्यकलापो के अवलोकन से उनके मूलभूत आत्मतत्व का निरूपण किया जाता है। इन तीन शैलियों के द्वारा उपनिषद्कालीन दार्शनिको ने जिस परमतत्व का ऊहापोह किया है उसे अन्तत ब्रह्म कहा गया है। उपनिषद् साहित्य मे इस संसार, शरीर तथा परम सदवस्तु के सम्बन्ध में

मूल समस्याएँ

---

१ बृ० उप० ३ ८.९

२ बृ० उप० ३ १-१०

से तीनो लोको की रचना हुई है तथा दूसरे में वेदों का त्रिविध ज्ञान आ जाता है। तीसरे में तीन प्राण हैं और चौथा पृथ्वी से परे सूर्य के रूप में चमकता है। आत्मा भी ब्रह्म का ही स्वरूप है जो पूर्ण है किन्तु पूर्ण आत्मा के निकलने के बाद भी ब्रह्म में कोई कमी नहीं आती और वह पूर्ण ही रहता है। बृहदारण्यक उपनिषद में इस प्रसग में यह कहा गया है कि 'वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। पूर्ण से पूर्ण निकलता है किन्तु उस पूर्ण के बाद जो कुछ बचता है वह भी पूर्ण है।[१] इस प्रकार सब कुछ उस अनन्त से निकलता है और अनन्त में पहुँचना ही उसका लक्ष्य है। उपनिषदो में ब्रह्म को इन्द्रियो द्वारा दुर्ज्ञेय तथा वाणी द्वारा अकथनीय बतलाया गया है। वह अणु से भी छोटा है और महान से भी महत्तर। उसके स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं कि परम ब्रह्म न तो स्थूल है और न सूक्ष्म, न छोटा है और न बडा, इसका कोई स्वरूप नही है। यह कान, आँख, और मस्तिष्क से भी परे हैं। इसी प्रकार केनोपनिषद मे निष्प्रपंच ब्रह्म का सजीव चित्र मिलता है। इसके अनुसार "जिसे वाणी कह नही सकती किन्तु जिसकी शक्ति से बोलती है उसे तुम ब्रह्म जानो। इसे नही जिसकी तुम उपासना करते हो।" ब्रह्म निरुपाधि है। देश, काल एव निमित्त रूपी उपाधियों से पूर्णत विरहित है। वह देशातीत, कालातीत और निमित्तातीत है। प्रमाणातीत होने से वहनितरा अप्रमेय है। वह किसी भी प्राणी की बुद्धि का विषय नही हो सकता। मुण्डकोपनिषद में ब्रह्म की उपमा मकडे से दी गई है तथा कहा गया है कि जिस प्रकार मकडा अपने शरीर से जाली का वितन्वन करता है तथा पुन अपने में उसे समेट लेता है। उसी प्रकार ब्रह्म विश्व को उत्पन्न एव नष्ट करता है। जिस प्रकार बीज के अदृश्य सार से वृक्ष उत्पन्न होता है उसी प्रकार सूक्ष्म परम-तत्व से विश्व का सृजन होता है। पानी में घुले हुए लवण की भांति सर्वव्यापी ब्रह्म जगत मे व्याप्त होते हुए भी दिखाई नही देता। ब्रह्म के इस परात्पर रूप के अतिरिक्त उपनिषदों मे अपर ब्रह्म का भी उल्लेख मिलता है जो सीमित, सोपाधि, सगुण, सप्रपच एव अन्तस्थ है।

उपनिषदो का सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपदेश अद्वैतवाद का है। इस युग के मनीषियो के मतानुसार अखिल सृष्टि जड, जगम चेतन स्थावर, सभी

---

१. बृ० उप० २.५.१९

पर-ब्रह्म परमात्मा के स्वरूप हैं। 'सर्वं खलु इद ब्रह्म' 'तत् त्वमसि,' 'अह ब्रह्मास्मि' आदि महा वाक्यो द्वारा सूक्ष्म एव अद्वैत ब्रह्म की सर्वव्याप्त सत्ता एव आत्मा तथा परमात्मा की एकता प्रतिभासित की गई है[1] तथा आत्मा और ब्रह्म में अन्तर देखने का मूल कारण अविद्या अथवा अज्ञान माना गया है। आत्मा और परमात्मा की एकता उपमाओ के माध्यम से भी स्पष्ट की गई हैं। जब कुम्हार कोई घडा बनाता है तो आकाश का एक अश उस घडे मे भी व्याप्त हो जाता है। घडा शरीर है और घडे के भीतर व्याप्त आकाश ही आत्मा है। जब घडा फूट जाता हैं अर्थात् आदमी का शरीर छूट जाता है तब उससे आबद्ध आकाश पुन: विशाल आकाश में मिल जाता है। जिस घडे का आकाश कर्म की गन्ध से दूषित है उस आकाश-खण्ड (आत्मा) को पुन किसी दूसरे घडे मे जाना होगा (अर्थात् पुनर्जन्म लेना पडेगा)। किन्तु जिसका आकाश निर्मल है, उस घडे के फूट जाने पर उसका आकाश पुन किसी घडे मे वापस नही आता (अर्थात निर्मल मनुष्य की आत्मा पुन जन्म के बन्धन में नही पडती)।[2] नानात्व के बीच एकत्व को अत्यन्त सरल रूप में व्यक्त करते हुए कहा गया है कि विश्व ब्रह्म है। और ब्रह्म मेरी आत्मा है। इस प्रकार एक ही परम तत्व की सत्ता की अभिव्यक्ति समस्त पदार्थों में मानी गई है। वही एक प्रकार सर्वत्र आलोकित है।

अद्वैतवाद

श्वेताश्वतर उपनिषद में ब्रह्म को ईश कहा गया है। वह शिव रुद्र हर और महेश्वर भी कहलाता है। यहा यह उल्लेखनीय है कि यह उपनिषद अन्य उपनिषदो से बहुत बाद का है। ईश्वर को प्रकृति एव जीवों का स्वामी कहा गया है। जो अपनी शक्ति माया अथवा प्रकृति द्वारा जगत का सृजन करता है। प्रकृति एक अज, सत्व, रजस और तमस से बनी हुई तथा गतिशील है तथा इन गुणों से अपने जैसी अनेक वस्तुए उत्पन्न करती है।[3] मायावी ईश्वर अपनी

श्वेताश्वतर उपनिषद का ईश्वर वाद

---

१ बृ० उप० १ ४ १०, छान्दोग्य उप० ६- ८ ७, छान्दोग्य उप० ३ १४ १
२ इस प्रसग में आत्मा और जीव को एक ही माना गया है।
३ श्वेता० उप० ४. ५, अजामेकाम् लोहित शुक्लकृष्णा बह्वी. प्रजा. सृजमाना सरूपा

शक्ति से समस्त लोको को बनाता तथा उन पर शासन करता है। वह गुणों का नियामक है तथा उसकी प्रकृति विचित्र जगत का निर्माण करने वाली महाशक्ति।

जीव और आत्मा

उपनिषदो के अनुसार वैयक्तिक आत्मा (इडिवीडूअल सेल्फ) और परम आत्मा (सूप्रीम सेल्फ) अन्धकार और प्रकाश के समान एक ही शरीर की हृदय गुहा में साथ-साथ निवास करते हैं। इनमे प्रथम को जीव और दूसरे को आत्मा कहा गया है। जीव कर्म के फलो को भोगता है। तथा सुख-दुख का अनुभव करता है। इसके विपरीत आत्मा कूटस्थ और निर्लिप्त है। यद्यपि दोनो अज और नित्य हैं तथापि जीव अज्ञान के कारण दुख और बन्धन से युक्त है। आत्मा का ज्ञान होने पर यह अज्ञान और उसके साथ ही दुख और बन्धन भी नष्ट हो जाते हैं। कुछ उपनिषदों में आत्मा और जीव में अन्तर नही माना गया है किन्तु कुछ मे यह अन्तर स्पष्ट है। इनमे आत्मा और ब्रह्म का तादात्म्य स्थापित करते हुए जीवको इनसे भिन्न माना गया है। जीवात्मा को भी शरीर, मन, बुद्धि और इन्द्रियो से पृथक् और इनसे परे कहा गया है। वह नित्य, चेतन, अजर, अमर और अशरीरी है किन्तु उसमे अनन्त ज्ञान नही है। वह भोक्ता और कर्ता है अत कर्मो के बन्धन मे पडा रहता है। उसमें इच्छा, सकल्प, क्रिया और चरित्र है। इसका पुनर्जन्म होता हैं जो जीव के कर्मो पर आधारित होता है। जीव की चार अवस्थाओ का भी उल्लेख हुआ है। प्रथम 'जाग्रत' अवस्था है जिसमें वह विश्व कहलाता है तथा वाह्य इन्द्रियों द्वारा वह सासारिक विपयों को भोगता है। 'स्वप्न' की अवस्था मे वह तैजस है जो मन के द्वारा सूक्ष्म आन्तरिक विपयो को जानता और भोगता है। 'सुपुप्ति' अवस्था में वह प्रज्ञा कहलाता है जो एकरस, चैतन्य और आनन्द है तथा जो अन्तर्वाह्य किसी भी विपय को नही देखता। चौथी 'तुरीय' अवस्था मे वह आत्मा कहलाता है जो न चेतन है और न अचेतन वल्कि एक अद्वैत विश्वचेतना है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। उपनिपदो मे जीव की स्थिति पाच पृथक् कोपों मे भी वताई गई है। जिन्हे क्रमश अन्नमयकोप, प्राणमयकोप, मनोमयकोप, विज्ञानमय-कोप तथा आनन्दमय कोप कहा गया है। आनन्दमय कोप में ही विशुद्ध आत्मा का निवास है। यही आत्मा ब्रह्म है जिसके ज्ञान से जीव के बन्धन छूट जाते हैं। यह आत्म ज्ञान अपरोक्षानुभूति से होता है।

ऊपर ब्रह्म, आत्मा और जीव के स्वरूप के विषय में जो बातें कही गई हैं उनमें अनेकत्र विरोध परिलक्षित है। किन्तु उपनिषदों में इस प्रकार की परस्पर विरोधी बातों का सन्निवेश मिलता है। उपनिषद कभी तो ब्रह्म को निर्विकार कहते हैं और कभी कहते हैं कि सृष्टि की रचना उसी ने की। वे कभी आत्मा और परमात्मा को अभिन्न मानते हैं और कभी यह कहते हैं कि परमात्मा सर्वशक्तिमान है और आत्मा सीमित है। परमात्मा आनन्द स्वरूप है और आत्मा दुख से पीडित। आत्मा और परमात्मा एक हैं, आत्मा और परमात्मा पृथक् हैं तथा आत्मा और परमात्मा अलग भी हैं और एकाकार भी, ये तीन तरह के मत हैं जिनमे प्राय तीनों का समर्थन उपनिषदों में खोजा जा सकता है। इन्ही तीन प्रकार की बातो से कालान्तर मे अद्वैतवाद, द्वैतवाद और विशिष्टाद्वैतवाद का विकास हुआ। उपनिषदों मे इन परस्पर विरोधी मतो के प्रतिपादन का मूल कारण यह है कि वे किसी एक ऋषि की रचना नही है। उनमे अनेक ऋषियों की अनुभूतिया सग्रहीत हैं अत उनमें न्यूनाधिक वैमत्य और विरोध स्वाभाविक है।

बन्धन और मोक्ष

उपनिषदों के अनुसार अविद्या बन्धन का कारण है और विद्या से मोक्ष होता है। अविद्या की स्थिति मे नित्य और अनित्य का अन्तर स्पष्ट नही होता। उसमें भेद, नानात्व और अहकार होता है। अहकार बन्धन का कारण है। इसके कारण जीव इन्द्रियों, मन, बुद्धि और शरीर से तादात्म्य करने लगता है। वस्तु जगत के प्रति मोह बन्धन उत्पन्न करता है। अहकार, स्वार्थ और वासना बन्धन के प्रमुख कारण माने गये हैं, जिनके प्रभाव से मनुष्य आवागमन तथा पुनर्जन्म के बधन से मुक्त नही हो पाता है। विद्या द्वारा अहकार से छूट कर अपने असली रूप ब्रह्म को पहचान कर उससे तादात्म्य स्थापित करने से बन्धन छूट जाते हैं। ब्रह्मज्ञान से मोक्ष होता है और ब्रह्म ज्ञान का अर्थ है ब्रह्मभावना अर्थात् सबमें ब्रह्म को देखना और अपने को सबमें देखना। इसी स्थिति को 'एकात्मदर्शन' (सबमें एक ही आत्मा को देखना) तथा 'सर्वात्मदर्शन' भी कहा गया है। इसे अमृत-पद भी कहा गया है क्योंकि इसमें जीवात्मा एव परमात्मा का एकत्व है। इस स्थिति में धर्म, अधर्म, राग, द्वेष, सुख-दुख, मोह और भय इत्यादि नही है। वहाँ अनिर्वचनीय शाश्वत शान्ति है। वह परम प्रज्ञा, नि स्वार्थ सकल्प, निर्विशेष चेतना तथा अनिर्वचनीय आनन्द की अवस्था है।[२]

---

२. विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य, राधाकृष्णन, इण्डियन फिलोसोफी, भाग १, पृ० १५२ २०७।

तत्वविचार के साथ-साथ उपनिषदों मे मोक्ष-प्राप्ति के साधनो पर भी विचार किया गया है। संक्षेप में मोक्ष-प्राप्ति का एकमात्र साधन, आत्मलाभ (सेल्फ रियलाइजेशन) अथवा ब्रह्म साक्षात्कार है।

मोक्ष के साधन

किन्तु पूर्ण आत्मलाभ के लिए क्रमशः अनेक अन्य साधनो का सहारा लेना पडता है। आत्मा अन्तर्यामी है वह बाह्य जगत की वस्तुओ के पीछे दौडने से नही मिल सकता परन्तु बाह्य विषयो के पीछे भागना मानव मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति को रोक कर इन्द्रियो को बाह्य विषयो से समेट कर अन्तस्थ आत्मा पर मन को केन्द्रित करना आत्मलाभ के लिए आवश्यक है। इस प्रकार आत्मलाभ के लिए अन्तर्मुखता प्रथम आवश्यकता है। कठोपनिषद में कहा गया है कि आत्मा को न तो प्रवचनों से, न मेधा से और न बहुश्रुत होने से ही जाना जा सकता है।[१] उसके लिए जीवन मे सत्य, तपस्या यथार्थ बोध और ब्रह्मचर्य की आवश्यकता है।[२] इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए गुरु से दीक्षा भी आवश्यक है। कठोपनिषद मे कहा है 'उठो, जागो, और जो तुमसे श्रेष्ठ है उनसे सीखो क्योकि आत्मलाभ का पथ छुरे की धार के समान तीक्ष्ण है।'[३] छान्दोग्यउपनिषद में गान्धारनिवासी मनुष्य की कथा है। डाकू उसकी आखें बन्द करके उसे उसके देश से दूर ले जाकर जगल मे छोड देते हैं। तब किसी अन्य व्यक्ति के पथ प्रदर्शन करने पर ही वह घर पहुँच पाता है। इस कथा के माध्यम से आत्मलाभ के लिए गुरु की आवश्यकता को सुन्दर ढग से समझाया गया है। श्वेताश्वतरोपनिषद मे भक्ति को भी आत्मलाभ का साधन माना गया है। इसमे कहा गया है कि जब तक जिज्ञासु में देवता और गुरु के प्रति पर्याप्त भक्ति न हो तब तक उसको आत्मलाभ के मार्ग मे दीक्षा नहीं देनी चाहिए।[४] कुछ उपनिषदो मे सन्यास को भी एक आवश्यक शर्त माना गया है किन्तु सबमें ऐसा नही है। भक्ति, शुद्धि, अन्तर्मुखता तथा गुरु से दीक्षा मिलनेपर जिज्ञासु को योगाभ्यास और ओ३म पर निदिध्यासन अथवा प्रणव करना चाहिए। निदिध्यासन के पूर्ण होने पर आत्मा ब्रह्म से एक हो जाती है तथा आत्मलाभ होता है।

---

१. कठोपनिषद १.२.२२
२ मुण्डकोपनिषद ३.१.५
३. छान्दोग्य उप० ४.९.२
४. श्वेता० उप० ६ २२.२३ यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ तस्यैते कथिताह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः।

प्रो० रानाडे ने आत्मलाभ के मार्ग में अग्रसर जीव की पाँच अवस्थाओं का संकेत उपनिषदों में माना है।[१] प्रथम अवस्था में व्यक्ति स्वयं को आत्मा से पृथक् देखते हुए अपने अन्दर स्थित आत्मा के रहस्यात्मक दर्शन द्वारा उसकी अनुभूति करता है। इस अवस्था की सूचना बृहदारण्यक उपनिषद में 'आत्मा वा अरे दृष्टव्य' कह कर दी गई है।[२] इसी उपनिषद में दूसरी अवस्था को यह कर समझाया गया है कि हम यह अनुभव करें कि हम आत्मा ही हैं, शारीरिक, बौद्धिक अथवा भावात्मक कोष नहीं। इस प्रकार दूसरी अवस्था में शुद्ध आत्मा से तादात्म्य का अनुभव होता है।[३] बृहदारण्यक उपनिषद के अनुसार तीसरी अवस्था में यह अनुभूति होनी चाहिए कि जिस आत्मा का हमने अनुभव किया है उसका एकत्व ब्रह्म से है।[४] चौथी अवस्था में प्रथम तीन अवस्थाओं के परिणामस्वरूप 'अहं ब्रह्मास्मि'[५] अथवा 'तत्त्वमसि'[६] की अनुभूति होती है। पाँचवीं अवस्था में व्यक्ति को यह अनुभूति होगी कि समस्त जगत ही ब्रह्म है। छान्दोग्य उपनिषद मे 'सर्वं खलु इदं ब्रह्म' का उद्घोष हुआ है।[७] इस पूर्ण अद्वैत की अवस्था मे पहुँच कर पूर्ण आत्मलाभ हो जाता है। इस अवस्था मे मनुष्य की शारीरिक वासनाओं का अन्त हो जाता है।[८] उसके हृदय की ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं तथा उसके समस्त सन्देह एवं भ्रम दूर हो जाते हैं।[९] एक बार समस्त शक्ति के स्रोत परम तत्त्व से तादात्म्य हो जाने पर जीवात्मा के समस्त दुख दूर हो जाते हैं और वह विश्वात्मा की अनन्त शक्ति में भाग लेने लगता है।[१०] विश्वात्मा के योग से उत्पन्न परम आनन्द का सांगोपांग वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद में हुआ है। बृहदारण्यक उपनिषद मे इस आनन्द की तुलना प्रिय पत्नी

---

१ ए कान्सट्रक्टिव सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलोसोफी, पृ० २७६
२ बृ० उप० २ ४ ५
३ बृ० उप० ४ ४ १२
४ बृ० उप० २ ५ १९
५. बृ० उप० १ ४ १०
६. छान्दोग्य उप० ६ ८ ७
७ छान्दोग्य उप० ३ १४ १
८ बृ० उप० ४ ४ १२
९ मुण्डकोपनिषद २ २ ८ भिद्यते हृदय ग्रन्थि श्छेद्यते सर्वसंशया .
१० मुण्डकोपनिषद ३ १ २

के साथ संयोग से उत्पन्न आनन्द से की गई है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद के अनुसार इस आनन्द की अनुभूति भय की अनुभूति को समाप्त कर देती है। जीव निर्भय हो जाता है। क्योंकि उसने अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय, निर्भय और सबके निराधार आधार मे आवास पा लिया है।[2] छान्दोग्य उपनिषद के अनुसार जो आत्मा की खोज करके उसे पा लेता है उसे समस्त लोक प्राप्त हो जाते हैं और उसकी समस्त इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं।[3] यही आत्मलाभ अथवा ब्रह्म-ज्ञान उपनिषदों का प्रमुख विषय है इसीलिए उपनिषदो की विद्या को ब्रह्म-विद्या भी कहा गया है जिसके अनुशीलन से मुमुक्ष जनो की ससार-बीज-भूता अविद्या नष्ट हो जाती है तथा गर्भवास, पुनर्जन्म आदि के बन्धन शिथिल हो जाते हैं।

पुनर्जन्म और कर्मवाद का सिद्धान्त

उपनिषदो मे पुनर्जन्म एव कर्मवाद के सिद्धान्त का विकसित रूप दिखाई देता है। बृहदारण्यक उपनिषद मे एक स्थान पर इन दोनो का परस्पर सम्बद्ध उल्लेख मिलता है।[4] । इसके अनुसार मनुष्य जैसा कर्म करता है उसे वैसा फल अवश्य भोगना पड़ता है। कर्म के सुधरने से मनुष्य का अगला जन्म अच्छा होगा और उस जन्म मे भी जब वह अच्छे कर्म करेगा तब उसका तीसरा अगला जन्म और अच्छा होगा। इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर तक सत्कर्म मे प्रवृत्त मनुष्य की मुक्ति हो जायगी और वह जन्म-मरण के बन्धन से छूट जायेगा। इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य स्वय अपने भाग्य का निर्माता हैं। उसकी इच्छाओ अथवा वासनाओं से उसके कर्म प्रेरित होते हैं तथा कर्म के अनुसार ही निर्धारित होता है उसका भविष्य। इसी सिद्धान्त न उस बौद्ध विश्वास का बीज निहित है जिसके अनुसार आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए भी कर्म के आधार पर पुनजन्म माना गया है। छान्दोग्य उपनिषद मे आवागमन के इस सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन मिलता है। इसके अनुसार मृत्यु के पश्चात् ज्ञानयुक्त अरण्यवासी देवयान से जाता है तथा ब्रह्मन से उसका तादात्म्य होता है। यज्ञ कर्म मे रत गृहस्थ पितृयान से चन्द्रलोक को जाता है तथा कर्मफल के समाप्त होने तक वहां रहता है।

---

१. बृ० उप० ६ ३ २१
२. तै० उप० २ १०
३ छान्दोग्य उप० ८ ७ १
४ बृ० उप० ४.३-४

तत्पश्चात् वह पुन भूलोक को लौटता है तथा प्र मत वीरुध के रूप में जन्म लेता है और पुन किसी द्विज कुल मे। दुष्ट लोग अन्त्यज, श्वान और शूकर की योनि में जन्म लेते है। इस प्रसंग से यह स्पष्ट है कि पुण्य कर्म से अच्छे योनि में तथा पाप कर्मो से कुत्सित-योनि में जन्म ग्रहण करना पडता है। छान्दोग्य उपनिषद के इस विवरण से मिलता-जुलता वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद के एक दूसरे प्रसंग मे भी मिलता है।[१] कौषीतकि उपनिषद में पुनर्जन्म की इस प्रक्रिया का वर्णन कुछ भिन्नता के साथ हुआ है। इसके अनुसार मृत्यूपरान्त सभी चन्द्रलोक को जाते हैं। उनमे से कुछ पितृयान का अनुसरण करते हुए ब्रह्म को प्राप्त करते हैं तथा शेष, मनुष्य से लेकर कीट तक जितनी योनिया है, उनमें से किसी एक को धारण करके पुन भूतल पर आते हैं।[२] पुनर्जन्म-सिद्धान्त का अविकसित रूप शतपथ ब्राह्मण में भी सकेतित है। सुनीतिकुमार चटर्जी का यह विश्वास है कि इस सिद्धान्त का ज्ञान पुरा ऐतिहासिक युग के निषादो को था।[३] उपनिषद युग तक इस सिद्धान्त के पूर्ण विकास के पीछे निषाद विश्वासों एव परपराओ का योग हो सकता है।

औपनिषद दर्शन का सामाजिक जीवन पर प्रभाव

उपनिषदो में प्रतिपादित दार्शनिक विचारो का सामाजिक चेतना पर गहरा प्रभाव पडा। सारी सृष्टि ब्रह्म से व्याप्त है और जड तथा चेतन, सबके भीतर एक ही सत्ता निवास करती है, इस मत के प्रचार से हिंसा की भावना समाप्त होने लगी तथा यज्ञ धर्म विकास भी अवरुद्ध होने लगा। इसके विपरीत सभी प्राणियों में एक ही आत्मा के दर्शन के कारण सर्वभूतानुकम्पा की भावना बलवती हुई। मोक्ष का सिद्धान्त निरूपित करते हुए अनेकश जीवन तथा जगत की क्षणभगुरता और दु ख-पूर्णता की चर्चा की गई इससे निराशावाद तथा वैराग्यमूलक प्रवृत्तियों को बल मिला।[४] सन्यासियो का आरण्यक जीवन आदरणीय समझा जाने लगा क्योंकि वही विश्व के नश्वरता के सच्चे ज्ञाता थे। कर्मवाद के सिद्धान्त के

---

१ बृ० उप० ६ २ १५–१६
२ कौपीतकि उप० १ २–३
३ द्र० दि वैदिक एज, पृ० १५१
४ मैत्रायणी उप० १ २-४

विकास के परिणामस्वरूप नैतिक चेतना का भी विकास हुआ। अब यह विश्वास किया जाने लगा कि आवागमन के बंधन से मुक्त होने के लिए सत्कर्म में प्रवृत्त होना आवश्यक है। कुत्सित कृत्य में लगे मनुष्यो के लिये पुन श्वान अथवा शूकर योनि मे उत्पन्न होने की कल्पना अवश्य भयावह रही होगी। तैत्तिरीयोपनिषद मे सत्य और सत्कर्म पर बल दिया गया है।[1] बृहदारण्यक उपनिषद में सयम, दान और दया को सदाचार का अंग माना गया है।[2] मुण्डकोपनिषद में सत्य तपस्वी-जीवन तथा ब्रह्मचर्य को भी महत्व प्रदान किया गया है।[3] इसके अतिरिक्त अहिंसा, अस्तेय, त्याग और इन्द्रिय-निग्रह का भी उपदेश यत्र तत्र मिलता है। उपनिषदो में माता-पिता एव अतिथियो को देवताओ के समान आदरणीय बतलाया गया है। ज्ञान की महत्ता तथा 'सर्वं खलु इद ब्रह्म' के सिद्धान्त की लोकप्रियता के कारण वर्ण-व्यवस्था भी प्रभावित हुई। यद्यपि जनसाधारण मे प्रचलित विश्वासो की रूढिवादिता के कारण इस व्यवस्था का मूलोच्छेदन न हो सका किन्तु इसके मूल पर कुठाराघात अवश्य हुआ। सभी मनुष्यो मे समान रूप से एक ही ब्रह्म प्रतिबिम्बित हैं। इस सिद्धात के स्वीकरण के पश्चात् ब्राह्मण की श्रेष्ठता और शूद्र की हीनता को स्थिर करना कठिन हो गया। द्विज और शूद्र कुलमे जन्म का कारण पूर्व जन्म मे अर्जित कर्म माने गये। इस दृष्टि-परिवर्तन का प्रभाव उपनिषत्कालीन सामाजिक जीवन पर स्पष्टत परिलक्षित होता है। मनुष्य की महानता का आधार जन्म नही वरन् उसका शील माना गया। ब्रह्मज्ञान की शिक्षा पाने वाला सत्यकाम जारज था, जानश्रुति शूद्र थे और उन्हे आत्म-विद्या सिखाने वाले ऋषि-रैक्व गाडीवान थे। कर्मकाण्ड-प्रधान यज्ञ-धर्म के रहस्य-ज्ञाता तथा अधिकारी जहा केवल ब्राह्मण पुरोहित थे वही ब्रह्मविद्या के अनुशीलन मे न केवल तत्कालीन जिज्ञासु राजन्यो ने अभिरुचि दिखाई वरन् मैत्रेयी और गार्गी आदि स्त्रियो ने भी मोक्षप्रद ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति का प्रयास किया।

उपनिषत्कालीन मनीषियों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण सफलता विविध धार्मिक एव सास्कृतिक धाराओ मे समन्वय एवं सामजस्य उत्पन्न करना है। इस

---

१. तै० उप० १. ११

२ बृ० उप० ५ २

३. मुण्डकोपनिषद ३ १.५

प्रसग में ईशोपनिषद का निष्काम-कर्म का उपदेश विशेष उल्लेखनीय है, जिसका सुविकसित प्रौढ स्वरूप भगवद्गीता में समन्वयवादी दृष्टिकोण मिलता है। स्पष्टत निष्काम कर्म के अन्तर्गत प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामजस्य का प्रयास-अन्तर्निहित है।

इन विरोधी धाराओं के समन्वय का प्रयास आश्रम-व्यवस्था के माध्यम से भी किया गया। छान्दोग्य उपनिषद में तप को जीवन के तीन धर्म-स्कन्धो में स्थान दिया गया है। तपस्वियों एव सन्यासियो की आध्यात्मिक श्रेष्ठता भी अनेकत्र स्वीकृत है। मुण्डकोपनिषद स्पष्टत मुण्डित-शिर सन्यासियो की रचना है जिसमे यज्ञ धर्म का घोर विरोध है। उपनिषद-साहित्य मे विश्व की क्षण-भगुरता, सासारिक सुखो की अनित्यता, तथा आत्मा की अमरता का जो उद्-घोष है उससे भी निवृत्ति-लक्षण धार्मिक परम्पराओं की लोकप्रियता परि-लक्षित है। जैसा कि प्रथम अध्याय में ही बताया गया है, पूर्व-वैदिक आर्य-धर्म प्रवृत्ति-लक्षण था तथा उसमे निवृत्ति-लक्षण धार्मिक विश्वास सर्वथा अनुपस्थित थे। ऋक्सहिता में मुनियो की परम्परा का सकेत है किन्तु उनका विरला उल्लेख एवं विचित्र वर्णन ऋग्वैदिक धर्म के सामान्य पृष्ठभूमिमे अस-गत लगता है। वे किसी प्राचीन एव समृद्ध सास्कृतिक परम्परा के उच्छेदित अवशेष प्रतीत होते हैं।[१] वैदिक सस्कृति ज्यो ज्यो पूर्वाभिमुख हुई एव श्रमणो मुनियो के धार्मिक विश्वासों से सुपरिचित होती गई। तैत्तिरीय आरण्यक में गगा और यमुना के प्रदेश को मुनियो का निवास स्थान बताया गया है। ब्राह्मण युग मे भी तापस धर्म एक यज्ञ विरोधी धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में विद्यमान था किन्तु उसकी लोकप्रियता अपेक्षाकृत कम थी। ऐतरेय ब्राह्मण मे स्पष्टत उनकी निन्दा की गई है।[२] इसके विपरीत शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि प्रजापति ने तप के द्वारा सृष्टि का निर्माण किया।[३] इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण में यह उल्लेख मिलता है कि देवताओ ने तप के द्वारा ही देवत्व प्राप्त किया।[४] इन उद्धरणो से सिद्ध है कि ब्राह्मण युग में ही तप को यज्ञ के समकक्ष स्थान देने का प्रयास हो रहा था तथा उपनिषद-

१ प्रथम अध्याय में इनका सम्बन्ध निषाद सस्कृति से बताया गया है। द्र० पृ० १५-१७

२. ऐत० ब्रा० ३३ ११

३ शत० ब्रा० २.५ १.१–३

४ तै० ब्रा० ३ १२ ३

युग तक स्पष्टत. क्लेश-लक्षण तापस धर्म की महत्ता स्वीकृत हुई । उपनिषत्कालीन धर्म के अन्तर्गत निवृत्तिमूलक तप और संन्यास की परम्परा का अगीकार स्थानीय एव आर्येतर (सम्भवत निषाद) धार्मिक विश्वासो के प्रति ऋषियो के उदार दृष्टिकोण का सकेतक है। प्रथम अध्याय में यह बताया गया है कि निवृत्तिमूलक धार्मिक विश्वास निषाद सस्कृति की देन प्रतीत होते हैं। निषाद-संस्कृति के केन्द्र, मध्यदेश के दक्षिण पूर्व में निवृत्तिमूलक जैन धर्म के इतिहास का प्रारम्भ उत्तर-वैदिक काल में हो ही चुका था जिसका वैदिक सस्कृति धारा से कोई सम्बन्ध नही था। आर्य एव आर्येतरीय सास्कृतिक धाराओं के समन्वय की यह प्रवृत्ति धार्मिक एव सामाजिक जीवन के विविध क्षेत्रो में दृष्टिगोचर होती है। उपनिषद युग के मनीषियो का यह प्रयास स्तुत्य एवं स्पृहणीय है।



सहायक ग्रन्थ-सूची

मूलग्रन्थ

वेद

अथर्ववेद सम्पादक आर० राथ और डब्लू० डी० ह्विटने, बर्लिन १८५६, सायण भाष्य सहित, सम्पादक एस० पी० पण्डित, बम्बई १८९५-९८,
अनुवादक डब्लू० डी० ह्विटने, संयुक्त राज्य अमेरिका, १९०५।

ऋग्वेद संहिता और पद, सायण भाष्य सहित, सम्पादक एफ़० मैक्सम्यूलर, द्वितीय संस्करण, १८९०-२,
संहिता और पद, सायण-भाष्य सहित, वैदिक संशोधन मंडल, पूना १९३३-५१,
संहिता, एम० एन० दत्त, कलकत्ता, १९०६
आर० टी० एच० ग्रिफिथ का अनुवाद, बनारस १९९६-९७

काठक-संहिता सम्पादक वान श्रेडर, लिपज़िग, १९००-११

तैत्तिरीय-संहिता सम्पादक ए० वेबर, बर्लिन, १८७१-७२,
माधवकृत भाष्य सहित, कलकत्ता १८५४-९९,
अंग्रेजी अनुवादक, टी० एस० कीथ

मैत्रायणी संहिता सम्पादक वान श्रेडर, लिपज़िग, १८८१-८६

वाजसनेयी-संहिता महीधर भाष्य सहित, सम्पादक ए० वेबर, लन्दन १८५२, निर्णय सागर संस्करण बम्बई १९१२

सामवेद : अनुवादक आर० टी० एच० ग्रिफिथ, बनारस १८९३

ब्राह्मण

ऐतरेय ब्राह्मण अनुवादक हाग, बम्बई १८६३,
अनुवादक कीथ, हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज भाग २१, केम्ब्रिज, मेसेच्युसेट्स, १९२०

गोपथ ब्राह्मण सम्पादक राजेन्द्रलाल मित्र और एच० विद्याभूषण, कलकत्ता १८७२

तैत्तिरीय ब्राह्मण सम्पादक राजेन्द्रलाल मित्र, कलकत्ता, १८५५-७०
पचविंश ब्राह्मण : सम्पादक ए० वेदान्त वागीश, कलकत्ता १८६९-७४
शतपथ ब्राह्मण . सम्पादक ए० वेबर, लन्दन १९२४
अनुवादक जे० एगलिंग, आक्सफोर्ड १८८२-१९००
जैमिनीय ब्राह्मण सम्पादक रघुवीर और लोकेशचन्द्र, नागपुर १९५४

आरण्यक

ऐतरेय आरण्यक सम्पादक ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड १९०९
तैत्तिरीय आरण्यक सम्पादक हरिनारायण आप्टे, पूना १८९८
शाखायन आरण्यक सम्पादक ए० बी० कीथ, आक्सफोर्ड १९०९

उपनिषद

ईशोपनिषद : निर्णय सागर सस्करण, बम्बई १९३०
कठोपनिषद निर्णय सागर सस्करण, बम्बई १९३०
छान्दोग्य उपनिषद निर्णय सागर सस्करण, बम्बई १९३०
तैत्तिरीय उपनिषद शाकर भाष्य सहित, पचम संस्करण, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज, पूना १९२९
बृहदारण्यक उपनिषद निर्णय सागर सस्करण, बम्बई १९३०
मैत्रायणी उपनिषद निर्णय सागर सस्करण, बम्बई
श्वेताश्वतर उपनिषद निर्णय सागर सस्करण, बबई १९३९

श्रौत सूत्र

आपस्तम्ब श्रौतसूत्र आर० गारवे द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८८२
आश्वलायन श्रौतसूत्र आर० विद्यारत्न द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८६४-७४
कात्यायन श्रौतसूत्र ए० वेबर द्वारा सम्पादित, लन्दन १८५५
साख्यायन श्रौतसूत्र हिलेब्रान्त द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८८२

गृह्य सूत्र

आपस्तम्ब गृह्यसूत्र सम्पादक एम० विन्टरनित्ज, वियना १८८७
आश्वलायन गृह्यसूत्र सम्पादक ए० एफ० स्टेंजलर, लिपझिग १८६४
गोभिल गृह्यसूत्र सम्पादक एफ० नादर, डारपेट, १८८४
पारस्कर गृह्यसूत्र सम्पादक गोपाल शास्त्री नेने, चौखम्बा सस्कृत सीरीज, बनारस १९२६
बौधायन गृह्यसूत्र . सम्पादक आर० शामशास्त्री, मैसूर १९२०
हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र : सम्पादक जे० किर्स्ते, वियना १८८९

धर्मसूत्र

आपस्तम्ब धर्मसूत्र	सम्पादक जी० बूलर, बम्बई संस्कृत सीरीज, बम्बई १९३२
गौतम धर्मसूत्र	: सम्पादक स्टेन्जलर, १८७६
बौधायन धर्मसूत्र	. सम्पादक ई० हुल्श, लिपजिग १८८४
वाशिष्ठ धर्मसूत्र	सम्पादक ए० ए० फ्यूरर, बम्बई १९१६

अन्य संस्कृत ग्रन्थ

अर्थशास्त्र, कौटिल्य	हिन्दी अनुवाद सहित, अनुवादक उदयवीर शास्त्री, लाहौर १९२५
	अंग्रेजी अनुवाद, आर० शाम-शास्त्री, बंगलोर १९२३
दीघनिकाय	सम्पादक टी० डब्ल्यू० राइस डेविड्स और जे० ई० कार्पेन्टियर, लन्दन १८९०–१९११
	अनुवादक राहुल सांकृत्यायन एवं जगदीश काश्यप, बनारस १९३६
निरुक्त	(दुर्गाचार्य की टीका सहित) सम्पादक वी० के० राजवाडे, ना १९२१–२६
पद्म पुराण	आनन्दाश्रम संस्करण, पूना
ब्रह्मपुराण	आनन्दाश्रम संस्करण, १८९५
भविष्य पुराण	श्री वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई
भागवत पुराण	: कुम्भकोणम संस्करण, १९१६
मत्स्य पुराण	सम्पादक जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता १८७६
मनु स्मृति	निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९४६
महाभारत	सम्पादक पी० सी० राय, कलकत्ता १८८१–८२, स्वाध्याय मण्डल संस्करण तथा कुम्भकोणम संस्करण
रामायण	निर्णय सागर संस्करण, पी० सी० राय द्वारा सम्पादित, कलकत्ता १८८१–८२
वायु पुराण	सम्पादक, एच० एन० आप्टे, १९०५
विष्णु पुराण	सम्पादक जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८२
	हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस गोरखपुर सं० २००९

कोष

एन्साइक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड एथिक्स
एन्साइक्लोपीडिया आव सोशल साइन्सेज
एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

सामान्य आधुनिक ग्रन्थ

अल्तेकर, ए० एस० प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, प्रयाग सम्वत २००४
: एजुकेशन इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, बनारस १९३४
पोजीशन आव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, बनारस १९३८
. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, १९४६
अय्यर, एल० के० तथा बलरत्नम एन्थ्रोपालोजी इन इण्डिया, बम्बई १९६१
अग्रवाल, वी० एस० इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि, १९५३
आप्टे, वी० एम० शोसल एन्ड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज, बाम्बे १९५४
आयगर, पी० टी० एस० वीमेन इन ऋग्वेद, प्रथम सस्करण
ओल्डेन बर्ग ' बुद्ध हिज लाइफ हिज डाक्ट्रिन हिज आर्डर, कलकत्ता १९२७
कपाडिया, के० एम० : मैरेज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, द्वितीय स०, १९५८
काणे, पी० वी० . हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, वाल्यूम दो और तीन, पूना १९४१
कार्वे इरावता • किनशिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया, पूना १९५३
काल्डवेल : कम्परेटिव ग्रामर आव दि द्रविडियन लैंग्वेज
• दि सेन्सस आव इण्डिया (१९०१, १९११, १९२१, १९३१, १९४३)
कीथ, ए० बी० : रिलिजन एण्ड फिलोसोफी आव दि वेद एण्ड उपनिषद्स १९२५
क्रुक पापुलर रिलिजन एण्ड फाकलोर आव नादर्न इण्डिया, १८९६
कोशाम्बी, डी० डी० • ऐनइन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव इण्डियन हिस्टरी, : बाम्बे १९५६

गुहा, बी० एस० मेन आउट लाइन आव रेसियल एथ्नोलोजी आव इण्डिया, कलकत्ता, १९३७
गोल्डेन वेजर, ए० एन्थ्रोपोलोजी, न्यूयार्क १९४६
घुरिये, जी० एस० कास्ट एण्ड क्लान इन इण्डिया, बाम्बे १९५०
: कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, लन्दन १९३२
फैमिली एण्ड किन इन इण्डो-यूरोपियन कल्चर
घोषाल, यू० एन० स्टडीज इन इंडियन हिस्टरी एण्ड कल्चर कलकत्ता, १९५७
ए हिस्टरी आव हिन्दू पब्लिक लाइफ, कलकत्ता, १९४५
हिन्दू पोलिटिकल थियरीज, कलकत्ता १९२३
कान्ट्रीब्यूशन टू दि हिस्टरी आव हिन्दू रेवेन्यूसिस्टम
हिस्टिरियोग्रैफी एण्ड अदर ऐसेज -
चन्दा, आर० पी० इण्डो-आर्यन रेसेज, राजशाही १९१६
चाइल्ड, गार्डन न्यू लाइट आन दि मोस्ट ऐन्श्येन्ट ईस्ट, लन्दन १९५४
चाद्विक, एच० एम० हिरोइक एज, कैम्ब्रिज १९१२
जायसवाल, के० पी० हिन्दू पालिटी, दो भाग, कलकत्ता १९२४
जाली, जे० हिन्दू ला एण्ड कस्टम, (अनु० बी० के० घोष) कलकत्ता १९२८
झा, जी० एन और शास्त्री, एस० एस० दि उपनिषद्स, (अंग्रेजी अनुवाद) मद्रास १८९८-१९०१
ठाकुर, उपेन्द्रनाथ हिस्टरी आव मिथिला, प्रथम संस्करण
डांगे, एस० ए० इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्यूनिज्म टू स्लेवरी, बाम्बे १९४९
थामस, पी० : एपिक्स मिथ्स एण्ड लीजेण्ड्स आव इण्डिया, ११वां संस्करण बाम्बे
दत्त, एन० के० आर्यनाइजेशन आव इण्डिया, कलकत्ता १९२५
ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, लदन १९३१
पाण्डे, जी० सी० स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, एलाहाबाद, १९५७
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, १९६३
पाण्डे, आर० बी० हिन्दू संस्कार, वाराणसी, १९५७
पार्जिटर, एफ० ई० : इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, लन्दन १९२२

कोष

एन्साइक्लोपीडिया आव रिलिजन एण्ड एथिक्स
एन्साइक्लोपीडिया आव सोशल साइन्सेज
एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका

सामान्य आधुनिक ग्रन्थ

अल्तेकर, ए० एस० प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, प्रयाग सम्वत २००४
: एजुकेशन इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, बनारस १९३४
पोजीशन आव वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन, बनारस १९३८
. स्टेट एण्ड गवर्नमेण्ट इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, १९४९
अय्यर, एल० के० तथा बलरत्नम एन्थ्रोपालोजी इन इण्डिया, बम्बई १९६१
अग्रवाल, वी० एस० इंडिया ऐज नोन टु पाणिनि, १९५३
आप्टे, वी० एम० सोसल एन्ड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्राज, बाम्बे १९५४
आयगर, पी० टी० एस० वीमेन इन ऋग्वेद, प्रथम संस्करण
ओल्डेन बर्ग ' बुद्ध हिज लाइफ हिज डाक्ट्रिन हिज आर्डर, कलकत्ता १९२७
कपाडिया, के० एम० : मैरेज एण्ड फेमिली इन इण्डिया, द्वितीय सं०, १९५८
काणे, पी० वी० . हिस्टरी आव धर्मशास्त्राज, वाल्यूम दो और तीन, पूना १९४१
कार्वे इरावती किनशिप आर्गनाइजेशन इन इण्डिया, पूना १९५३
काल्डवेल : कम्परेटिव ग्रामर आव दि द्रविडियन लैंग्वेज
दि सेन्सस आव इण्डिया (१९०१, १९११, १९२१, १९३१, १९४३)
कीथ, ए० बी० : रिलिजन एण्ड फिलोसॉफी आव दि वेद एण्ड उपनि- : षद्स १९२५
क्रुक पापुलर रिलिजन एण्ड फाकलोर आव नार्दर्न इण्डिया, १८९६
कोशाम्बी, डी० डी० ऐनइन्ट्रोडक्शन टु दि स्टडी आव इण्डियन हिस्टरी, : बाम्बे १९५६

गुहा, बी० एस० — मेन आउट लाइन आव रेसियल एथ्नोलोजी आव इण्डिया, कलकत्ता, १९३७
गोल्डेन वेजर, ए० — एन्थ्रोपोलोजी, न्यूयार्क १९४६
घुरिये, जी० एस० — कास्ट एण्ड क्लान इन इण्डिया, बाम्बे १९५०
: कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया, लन्दन १९३२
फैमिली एण्ड किन इन इण्डो-यूरोपियन कल्चर
घोषाल, यू० एन० — स्टडीज इन इंडियन हिस्टरी एण्ड कल्चर कलकत्ता, १९५७
ए हिस्टरी आव हिन्दू पब्लिक लाइफ, कलकत्ता, १९४५
हिन्दू पोलिटिकल थियरीज, कलकत्ता १९२३
कान्ट्रीब्यूशन टू दि हिस्टरी आव हिन्दू रेवेन्यूसिस्टम
हिस्टिरियोग्रैफी एण्ड अदर ऐसेज -
चन्दा, आर० पी० — इण्डो-आर्यन रेसेज, राजशाही १९१६
चाइल्ड, गार्डन — न्यू लाइट आन दि मोस्ट ऐन्श्येन्ट ईस्ट, लन्दन १९५४
चाड्विक, एच० एम० — हिरोइक एज, कैम्ब्रिज १९१२
जायसवाल, के० पी० — हिन्दू पालिटी, दो भाग, कलकत्ता १९२४
जाली, जे० — हिन्दू ला एण्ड कस्टम, (अनु० बी० के० घोष) कलकत्ता १९२८
झा, जी० एन और शास्त्री, एस० एस० — दि उपनिषद्स, (अंग्रेजी अनुवाद) मद्रास १८९८-१९०१
ठाकुर, उपेन्द्रनाथ — हिस्टरी आव मिथिला, प्रथम संस्करण
डांगे, एस० ए० — इण्डिया फ्राम प्रिमिटिव कम्यूनिज्म टू स्लेवरी, बाम्बे १९४९
थामस, पी० — : एपिक्स मिथ्स एण्ड लीजेण्ड्स आव इण्डिया, ११वां संस्करण बाम्बे
दत्त, एन० के० — आर्यनाइजेशन आव इण्डिया, कलकत्ता १९२५
ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव कास्ट इन इण्डिया, लंदन १९३१
पाण्डे, जी० सी० — स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आव बुद्धिज्म, एलाहाबाद, १९५७
बौद्ध धर्म के विकास का इतिहास, १९६३
पाण्डे, आर० बी० — हिन्दू संस्कार, वाराणसी, १९५७
पार्जिटर, एफ० ई० — इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन, लन्दन १९२२

पाल, आर० बी० दि हिस्टरी आव दि ला आव प्राइमोजेनिचर, कलकत्ता, १

पिगट, एस० : प्रिहस्टारिक इण्डिया, पेंगुइन बुक्स, १९५०

पुसाल्कर, ए० डी० (सपादक) दि वेदिक एज, लन्दन, १९५१

प्रभु, पी० एच० . हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन, तृतीय संस्करण, लन्दन, १९५८

फिक, आर० : दि सोशल आर्गनाइजेशन इन नार्थ ईस्ट इण्डिया इन बुद्धाज टाइम, कलकत्ता, १९२०

फ्रेजर, जे० जी . दि गोल्डेन बाउ, लन्दन १९२२

बन्द्योपाध्याय, एन०सी० एकोनामिक लाइफ एण्ड प्रोग्रेस इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता १९४५

ब्लूमफील्ड, एम दि अथर्ववेद, १८९९

दि रिलिजन आव दि वेद, न्यूयार्क १९०८

बार्थ, ए० दि रिलिजन्न आव इण्डिया, लन्दन, १८८२

बाग्ची, पी० सी० प्रि आर्यन एण्ड प्रिड्रविडियन इन इण्डिया, कलकत्ता, १९२९

ब्रिफाल्ट : दि मदर्स, लघु संस्करण

बेडेन पावेल इण्डियन विलेज कम्यूनिटी, १८९६

बैशम, एम० एल० : दि वण्डर दैट वाज इण्डिया, लन्दन, १९५४

भण्डारकर . वैष्णविज्म शैविज्म एण्ड अदर माइनर सेक्ट्स, पूना, १९२८

मजूमदार आर० सी० ऐन्श्येन्ट इण्डिया, १९५२

. कारपोरेट लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, कलकत्ता, १९१८

मायर, जे० जे० . सेक्सुअल लाइफ इन ऐन्श्येन्ट इण्डिया, २ भाग, लन्दन १९३०

मार्शल, जे० : मोहनजोदडो एण्ड दि इडस सिविलिजेशन, तीन भाग, ९३१

मिक्रिंडल : ऐन्श्यन्ट इण्डिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ मेगस्थनीज एण्ड एरियन, लन्दन, १८७७

: इनवेजन आफ इंडिया

. ऐन्श्येन्ट इंडिया एज डिस्क्राइब्ड बाइ टालेमी, कलकत्ता, १८८५

मुकर्जी, आर० के० : हिन्दू सभ्यता राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९५५
: ऐन्श्येन्ट इंडियन एजुकेशन, लन्दन, १९४०
मेन, जे० हिन्दू ला एण्ड यूसेज (श्रीनिवास आयंगर द्वारा सम्पादित) मद्रास १९३८
मेहता, आर० एन० प्रिबुद्धिस्ट इण्डिया, बाम्बे, १९३९
मैके, ई० जे० एच० दि इंडस सिविलिजेशन, लन्दन १९३५
अर्ली इंडस सिविलिजेशन, लन्दन, १९४८
मैक्डानेल, ए० ए० वैदिक माइथालोजी, १९५८
मैक्डानेल और कीथ वैदिक इंडेक्स, दो भाग १९५८
मैक्समूलर हिस्टरी आव ऐन्श्येन्ट संस्कृत लिटरेचर, एलाहाबाद १९१२
दि उपनिषद्स, दो भाग (अनुवाद) आक्सफोर्ड १८७९, १८८४
मोती चन्द्र सार्थवाह
मोर्गा, एल० एच० ऐन्श्येन्ट सोसाइटी, न्यूयार्क, १९६०
राइस डेविड्स बुद्धिस्ट इंडिया
राकहिल दि लाइफ आव बुद्ध, लन्दन १९०७
राधाकृष्णन, एस० इंडियन फिलोसोफी, २ भाग, लन्दन १९२९
रायचौधुरी, एच० सी० पोलिटिकल हिस्टरी आव एन्श्येन्ट इंडिया, पांचवां संस्करण
रानाडे, आर० डी० कान्स्ट्रक्टिव सर्वे आव दि उपनिषदिक फिलोसोफी, पूना, १९२६
राय, एस० सी० दि ओरांव
राहुल सांकृत्यायन ऋग्वेदिक आर्य, १९५६
रैगोजिन, जेड० ए० वैदिक इंडिया, लन्दन १८९९
रैप्सन ई० जे० दि कैम्ब्रिज हिस्टरी आव इंडिया, भाग १, केम्ब्रिज १९२२
लुई, राबर्ट प्रिमिटिव सोसाइटी, लन्दन १९२१
विण्टरनित्ज हिस्टरी आव इंडियन लिटरेचर, दो भाग, कलकत्ता १९३८
वेदालंकार, हरदत्त हिन्दू परिवार मीमांसा कलकत्ता, सं० २०११

वेस्टरमार्क, ई० : हिस्टरी आव ह्यूमेन मैरेज, पाचवाँ सस्करण, १९२१
दि ओरिजिन एण्ड डेवलेपमेंट आव मारल आइडियाज, लन्दन, १९१७

सरकार एस० सी० : सम आस्पेक्ट्स आव दि अलियेस्ट सोशल हिस्टरी आव इंडिया, लन्दन, १९२८

सरकार, बी० के दि पाजिटिव बैकग्राउन्ड आव हिन्दू सोश्योलोजी, एलाहाबाद १९२१

सर्वाधिकारी, आर० के० . दि प्रिन्सिपुल्स् आव दि हिन्दू ला आव इनहेरिटेन्स, द्वितीय सस्करण मद्रास १९१२

सूर्यकान्त . वैदिक कोष

सेन, क्षितिमोहन सस्कृति-सगम, एलाहाबाद, १९५७

सेनार्ट ई० : कास्ट इन इण्डिया (रास का अनुवाद), लन्दन, १९३९

श्मिट : ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव रिलिजन

शर्मा आर० एस० : शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इंडिया, १९५८
: आस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐन्श्येन्ट इंडिया, प्रथम सं०, १९५९

शकालिया, एच० डी० . इडियन आर्क्यालोजी टु डे, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १९६२

शकरानन्द, स्वामी : ऋग्वेदिक कल्चर आव दि प्रिहिस्टारिक इंडस, कलकत्ता

पत्र-पत्रिकाएँ

इण्डियन आर्क्यालोजी - ए रिव्यू
इण्डियन एण्टिक्वेरी
इण्डियन कल्चर, कलकत्ता
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता
एनल्स आव दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
ऐन्श्येन्ट इण्डिया बुलेटिन आव दि आर्क्योलाजिकल सर्वे आव इण्डिया
जर्नल आव दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, संयुक्त राज्य अमेरिका
जर्नल आव दि इण्डियन सोसाइटी आव ओरियन्टल आर्ट
जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता
जर्नल आव दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इन्डिया
जर्नल आव दि बाम्बे ब्रांच आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई
जर्नल आव दि बिहार एंड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना
जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैण्ड
प्रोसीडिंग्स आव दि आल इंडिया ओरियन्टल कान्फ्रेंसेज
प्रोसीडिंग्स आव दि इंडियन हिस्टरी कांग्रेस
मेमायर्स आव दि आर्क्यलोजिकल सर्वे आव इंडिया
मैन इन इंडिया, रांची



वेस्टरमार्क, ई० : हिस्टरी आव ह्यूमेन मैरेज, पांचवां संस्करण, १६२१
: दि ओरिजिन एण्ड डेवलेपमेंट आव मारल आइडियाज, लन्दन, १६१७
सरकार एस० सी० : सम आस्पेक्ट्स आव दि अर्लियेस्ट सोशल हिस्टरी आव इंडिया, लन्दन, ५६२८
सरकार, बी० के दि पाजिटिव बैकग्राउन्ड आव हिन्दू सोश्योलोजी, एलाहाबाद १६२१
सर्वाधिकारी, आर० के० दि प्रिन्सिपुल्स् आव दि हिन्दू ला आव इनहेरिटेन्स, द्वितीय संस्करण मद्रास १६१२
सूर्यकान्त वैदिक कोष
सेन, क्षितिमोहन संस्कृति-संगम, एलाहाबाद, १६५७
सेनार्ट ई० कास्ट इन इण्डिया (रास का अनुवाद), लन्दन, १६३६
श्मिट : ओरिजिन एण्ड ग्रोथ आव रिलिजन
शर्मा आर० एस० शूद्राज इन ऐन्श्येन्ट इंडिया, १६५८
आस्पेक्ट्स आव पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐन्श्येन्ट इंडिया, प्रथम सं०,१६५६
शकालिया, एच० डी० : इंडियन आर्क्यालोजी टु डे, एशिया पब्लिशिंग हाउस, १६६२
शंकरानन्द, स्वामी : ऋग्वेदिक कल्चर आव दि प्रिहिस्टारिक इंडस, कलकत्ता १६४३–४४
हुटन : कास्ट इन इंडिया, द्वितीय संस्करण १६५१
हापकिन्स, ई० डब्लू० : दि रिलिजन्स आव इण्डिया, बोस्टन, १८९५
हाल, एच० आर० : दि ऐन्श्येन्टहिस्टरी आव दि नियर ईस्ट, लन्दन,१६३६
हीन-गेल्डर्न, आर० : आर्क्यलाजिकल ट्रेसेज आव दि वेदिक आर्यन्स, जे० आई० एस० ओ० ए० (कलकत्ता), ४, पृ० ८७–११५
हीस्टरमैन, जे० सी० : दि ऐन्श्येन्ट इण्डियन रायल कन्सेक्रेशन, १६५७
ह्वीलर, एम० इण्डस सिविलिजेशन, केम्ब्रिज, १६५३
हेरोडोटस, : हिस्टरीज, पेंगुइन सीरीज मे अनूदित, १६५४
हैवलाक एलिस : स्टडीज इन दि साइकालोजी आव सेक्स, छ भाग, लन्दन १६१०
श्रेडर : प्रिहिस्टोरिक एण्टिक्विटीज आव दि आयन पिपुल्स, जीवन्स कृत अंग्रेजी अनुवाद, लन्दन, १८६०

ो प -पत्रि

इण्डियन आर्क्यालोजी - ए रिव्यू
इण्डियन एण्टिक्वेरी
इण्डियन कल्चर, कलकत्ता
इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, कलकत्ता
एनल्स आव दि भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना
ऐन्श्येन्ट इण्डिया बुलेटिन आव दि आर्कयोलाजिकल सर्वे आव इण्डिया
जर्नल आव दि अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, संयुक्त राज्य अमेरिका
जर्नल आव दि इण्डियन सोसाइटी आव ओरियन्टल आर्ट
जर्नल आव दि एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल, कलकत्ता
जर्नल आव दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आव इण्डिया
जर्नल आव दि बाम्बे ब्राच आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी, बम्बई
जर्नल आव दि बिहार एंड उडीसा रिसर्च सोसाइटी, पटना
जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसाइटी आव ग्रेट ब्रिटेन एंड आयरलैण्ड
प्रोसीडिंग्स आव दि आल इंडिया ओरियन्टल कान्फ्रेंस
प्रोसीडिंग्स आव दि इंडियन हिस्टरी कांग्रेस
मेमायर्स आव दि आर्कयलोजिकल सर्वे आव इंडिया
मैन इन इंडिया, रांची



अनुक्रमणिका

